विषय-सूची

शिक्षा-विधान-परिचय

प्रथम अध्याय

प्राइमरी और मिडिल स्कूलों का प्रबन्ध

प्राक्कथन—आजकल प्रायः यही सुनने में आता है कि वर्तमान शिक्षा-प्रणाली उतनी उपयोगी नहीं है जितनी कि होनी चाहिए। जितना द्रव्य शिक्षा-प्रदान पर व्यय होता है उससे उतना लाभ नहीं होता जितना कि होना चाहिए। इस पर यह विचार उत्पन्न होता है कि इसका क्या कारण है। आपने यह देखा होगा कि जिस घर का प्रबंध अच्छा होता है उस घर में थोड़े से व्यय से भी घर के लोग सुख से रहते हैं, परन्तु जिस घर में गड़बड़ी मची रहती है अथवा प्रबंध में और किसी प्रकार की त्रुटि होती है उस घर में प्रत्येक व्यक्ति दुखित-सा देख पड़ता है और वहाँ शांति का अभाव रहता है। यही नियम पाठशालाओं, मदरसों और स्कूलों में भी घटित होता है। अधिक विचार करने की आवश्यकता नहीं है। यह बात तो स्पष्ट ही है कि जिस पाठशाला का प्रबंध तथा शासन-प्रणाली यथोचित है उस पाठशाला के विद्यार्थी पढ़ने में अधिक मन लगाते हैं और विद्योपार्जन में सफल भी होते हैं। परन्तु जिस मदरसे में शासन ठीक नहीं है, अध्यापक नियमों का पालन नहीं करते अथवा मदरसे का प्रबंध शिथिल रखते हैं, उस मदरसे में विद्यार्थी पढ़ने में तथा और बातों में उतनी उन्नति नहीं करते जितनी कि एक अच्छे प्रबंधवाली पाठशाला के विद्यार्थी कर लेते हैं। इस सबके कहने से हमारा यह तात्पर्य नहीं है कि पाठशालाओं में पुलिस की रीति के अनुसार या न्यायालय के रीत्यनुसार ऐसे कड़े नियम या कड़ी प्रथायें होनी चाहिए कि जिनके द्वारा छोटे छोटे बालकों को पद पद पर कड़े दण्ड दिये जायें या उनको भयभीत रक्खा जाय। ये सब बातें तो पाठशालाओं के व्यावहारिक नियमों से बहुत दूर रहनी चाहिए। आगे चल कर हम यह विस्तारपूर्वक बतलायेंगे कि क्या क्या बातें पाठशालाओं और स्कूलों के प्रबंध के लिए उप-

योगी हो सकती हैं। प्रारंभ में हम केवल यही दर्शाना चाहते हैं कि किसी पाठशाला के प्रबंध का उस शिक्षा से, जो उसमें पढ़नेवाले बालकों को दी जाती है, क्या सम्बन्ध है और यह सम्बन्ध पाठकों को उस दृष्टान्त से, जो हमने किसी गृह के प्रबन्ध और उससे मिलनेवाले सुख अथवा दुःख के विषय में दिया है, ज्ञात हो गया होगा। ऊपर हमने दो प्रकार के स्कूलों के नाम लिखे हैं। एक प्राइमरी—दूसरे मिडिल। पहले हम प्राइमरी स्कूलों के प्रबन्ध के विषय में विचार करेंगे।

प्राइमरी स्कूल—प्राइमरी स्कूल अधिकतर ग्रामों में हैं। पाठशाला का गृह या तो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड का बनवाया हुआ होता है या किसी नम्बरदार या ज़िमींदार का दिया हुआ होता है। कहीं कहीं किराये पर भी मकान ले लिया जाता है। वर्त्तमान शिक्षा-प्रणाली के अनुसार खुली हवा में किसी छायादार वृक्ष के नीचे छोटे बालकों को पढ़ाना उनके स्वास्थ्य के लिए बहुत उपयोगी समझा जाता है और वास्तव में यह है भी ऐसा ही। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के बनाये हुए मकान प्रायः एक निश्चित ढङ्ग के होते हैं। उनमें खिड़कियाँ और दरवाज़े वायु-संचार के लिए पर्य्याप्त होते हैं। एक छोटा-सा अहाता भी होता है जिसमें फुलवाड़ी लगाई जा सकती है। अधिकतर यह मकान ग्राम के बाहर होता है जहाँ अच्छी हवा मिलती है। इन ग्रामीण पाठशालाओं में दो या इससे अधिक अध्यापक काम करते हैं। परन्तु अध्यापकों की संख्या छात्रों की संख्या पर निर्भर रहती है। इनमें से एक मुख्याध्यापक होता है जो पाठशाला के प्रबन्ध का उत्तरदाता होता है। यदि मुख्याध्यापक समझदार और परिश्रमी है तो पाठशाला का प्रबन्ध अच्छा होता है। अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि वे क्या क्या बातें हैं जिनके होने से पाठशाला का प्रबन्ध अच्छा समझा जाय।

पाठशाला का मकान और अहाता—मुख्याध्यापक को चाहिए कि वह पाठशाला के मकान को साफ़-सुथरा रक्खे। द्रव्य के अभाव के कारण यह संभव नहीं है कि प्रत्येक प्राइमरी पाठशाला में सफ़ाई के लिए एक नौकर हो। सफ़ाई का कार्य्य अध्यापकों को छात्रों की सहायता से स्वयं ही करना होगा। यदि इसमें कोई शङ्का करे कि छात्रों से यह कार्य्य नहीं लेना चाहिए तो यह एक भ्रममात्र है, क्योंकि ग्राम में अधिकतर छात्र ऐसे होते हैं जिनके मकानों पर नौकर नहीं होते। परन्तु अपने घर पर सफ़ाई का सब कार्य्य उनके माता-पिता और वे स्वयं ही करते हैं। जब स्थिति ऐसी है तो सफ़ाई का कार्य्य बालकों को अवश्य सिखाना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि बालक अपने मकानों को साफ़ रखना सीख

जायँगे और भविष्य जीवन में सुख से रहेंगे। सफ़ाई का कार्य्य सिखाने का सबसे अच्छा अवसर बालकों से पाठशाला के मकान की सफ़ाई कराने ही में मिल सकता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि अध्यापक एक कोने में खड़ा रहे या मकान के बाहर रहे और बालकों को उस प्रकार आज्ञा दे जिस प्रकार कोई मालिक अपने नौकरों को आज्ञा देता है कि वे मकान साफ़ करें। होना यह चाहिए कि अध्यापक स्वयं भी सफ़ाई का कुछ कार्य्य करे और बालकों को भी बतलाता जाय कि वे किस प्रकार सफ़ाई करें। सफ़ाई के लिए यदि उतनी ही संख्या झाड़ुओं की हो जितने कमरे पाठशाला में हैं या जितनी कक्षायें हैं तो अच्छा होगा। झाड़ुओं पर कोई ख़र्च करने की आवश्यकता नहीं है। ग्रामों में कृषिकार स्वयं ही झाड़ू बना लेते हैं। सीकों की, खजूर की पत्तियों की या वृक्ष की शाखाओं की झाड़ू बहुत अच्छी बन जाती है। यह कार्य्य भी छात्रों को सिखा देना चाहिए। आगे चलकर हम बतायेंगे कि ग्रामीण पाठशालाओं में इस प्रकार की दस्तकारी अर्थात् हस्तकला सिखाने से छात्रों को और ग्राम तथा देश को क्या क्या लाभ हो सकते है। यहाँ इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि दैनिक सफ़ाई के लिए अध्यापक को कोई व्यय करने की आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त सप्ताह या एक पक्ष में एक बार दीवारों और छत की भी सफ़ाई होनी चाहिए। जाला या गर्द जो दीवारों या छत पर जमा हो गई हो उसको हटा देना चाहिए। यदि फ़र्श कच्चा है तो एक मास में कम से कम दो बार उसको गोबर से लीपना चाहिए जिससे कि फ़र्श पर धूल न उड़े। मकान का अहाता भी साफ़ रखना चाहिए। पाठशाला के आदर्श मकान का ख़ाका साथ में दिया हुआ है।

पाठशाला की सामग्री—पाठशाला में साधारण रूप से एक मेज़, एक कुर्सी, एक तख़्ता स्याह (श्यामपट), छात्रों के बैठने के लिए टाट, नक़शा (ज़िले या सूबे या भारतवर्ष का) और रजिस्टर आदि सामान रखने के लिए एक संदूक़ प्रत्येक कक्षा में देखने में आते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि ये टाट बहुत मैले और धूल से भरे हुए होते हैं, क्योंकि वे कभी झाड़े नहीं जाते। यदि कक्षायें बाहर बैठती है तो ये प्रतिदिन प्रातःकाल बिछाये और सन्ध्याकाल वैसे ही लपेट कर रख दिये जाते हैं। श्यामपट भी इसी दशा में मिलता है। इससे प्रकट होता है कि वह बहुत कम प्रयोग में लाया जाता है। कुर्सी यदि टूट गई है तो वैसे ही पड़ी रहती है। घड़ी तो किसी किसी ही पाठशाला में मिलेगी और वह भी प्रायः टूटी मिलेगी। नक़शों की भी यही दशा होती है।

कारण यह है कि अध्यापक यह नहीं समझते कि पाठशाला का सामान यदि ठीक नहीं है तो पढ़ाई भी ठीक नहीं हो सकती। चतुर और परिश्रमी अध्यापक इस बात को समझते हैं और पाठशाला के सामान को सदा अच्छी दशा में रखने का प्रयत्न करते रहते हैं। आजकल रुपये का अभाव होने से ज़िला बोर्ड से जल्दी जल्दी नया सामान मिलने या पुराने सामान की मरम्मत होने की आशा रखना व्यर्थ है। इसलिए प्रत्येक अध्यापक को चाहिए कि वह सामान की देख-रेख पूर्ण रूप से रक्खे और छोटी छोटी मरम्मत स्वयं कर ले या छात्रों द्वारा करा ले।

इसके अतिरिक्त पढ़ाने के लिए पुस्तकें, गिनती सिखाने के लिए तीलियाँ, गोलियाँ, बालफ़्रेम आदि सामग्री की भी आवश्यकता पड़ती है। अक्षर सिखाने के लिए कार्ड बोर्ड (दफ़्ती) के छोटे छोटे टुकड़ों पर मोटी लेखनी से लिखे हुए अक्षर और इसी प्रकार शब्द लिखने और पढ़ाने के लिए भी वैसे ही नमूने अध्यापक को अपनी पाठशाला में प्रत्येक कक्षा के आवश्यकतानुसार रखने चाहिए। निरीक्षण के समय प्रायः यह देखने में आया है कि इस प्रकार के सामान पर धूल जमी रहती है, जिससे यह स्पष्ट है कि सामान केवल निरीक्षक महोदय को दिखाने के लिए होता है और प्रतिदिन आवश्यकतानुसार प्रयोग में नहीं लाया जाता। ऐसे सामान की उपयोगिता उसके प्रयोग करने में है न कि उसको एक प्रदर्शनी की वस्तु बनाने में। जब बाल-कक्षा के किसी बालक से कहा जाता है कि बालफ़्रेम पर ६७ या ६६ या ७६ गोलियाँ दिखलाओ तो वह गोलियों को एक एक करके गिनने लगता है और बहुत समय नष्ट करता है। इससे भी ज्ञात हो जाता है कि अध्यापक महाशय ने बालफ़्रेम का प्रयोग न तो स्वयं किया है और न प्रयोग करना ही सिखलाया

नोट—श्यामपट पर स्याही करने के नुसख़े बहुत सरल हैं। यथा :—

(क) मामूली स्याही को अलसी के तेल में मिलाकर उसे श्यामपट पर लगा दिया जाय।

(ख) काजल को मिट्टी के तेल में मिला कर उसे श्यामपट पर लगा दिया जाय।

(ग) तारकोल को मिट्टी की हाँड़ी में रक्खे। उसमें मिट्टी का तेल डाले और उसको आग पर ख़ूब उबाल ले। उतार कर श्यामपट पर लगा दे।

है । बालक में यह ज्ञान उत्पन्न नहीं किया गया है कि प्रत्येक तार पर दस गोलियाँ होती है और पहले दहाइयाँ गिन कर फिर इकाइयों की गोलियाँ गिनने से उक्त संख्याओं की गोलियाँ दिखलाई जा सकती हैं । या पहले इकाइयों की गोलियाँ निकाली जायें फिर दहाइयों की । दोनों दशाओं में परिणाम वही होगा । कहने का तात्पर्य यह है कि इस सब सामान से तब तक कोई लाभ नहीं हो सकता जब तक कि उसका उचित रीति से उपयोग न किया जाय । निम्न-लिखित सामान प्रत्येक पाठशाला मे अवश्य होना चाहिए :—

आदर्श प्राइमरी पाठशाला की पाठ्य-प्रबन्ध-सामग्री की सूची

(१) समयविभागचक्र ।
(२) पाठ्यविपयसूची (करीक्यूलम)
(३) सामाहिक कार्यक्रमसूची
(४) अध्यापकों के लिए पाठ्य पुस्तकें ।
(५) श्यामपट ।
(६) खड़िया ।
(७) झाड़न ।
(८) सूचक ।
(९) कुर्सी व मेज़ ।
(१०) डेस्क या स्टूल ।
(११) बालफ्रेम ।
(१२) नक़शा टाँगने की तिपाई ।
(१३) स्कूल का नक़शा ।
(१४) गाँव का नक़शा ।
(१५) ज़िले का नक़शा ।
(१६) प्रात का नक़शा ।
(१७) भारतवर्ष का नक़शा ।
(१८) भूमण्डल का नक़शा ।
(१९) घड़ी अथवा धूपघड़ी ।
(२०) घण्टा ।
(२१) बालकों के लिए चटाइयाँ और फ़र्शी डेस्क ।

(२२) सन्दूक़ ।
(२३) भौगोलिक चित्र । फल, फूल आदि के माडल ।
(२४) अक्षरों के कार्ड ।
(२५) अक्षरों के चार्ट ।
(२६) अंकों के कार्ड ।
(२७) भिन्न के चार्ट ।
(२८) स्वास्थ्यरक्षा-सम्बन्धी चित्र ।
(२९) वस्तुपाठचित्रावली ।
(३०) अलमारी ।
(३१) फ़ीता ।
(३२) क़ुतुबनुमा ।
(३३) बालटी ।
(३४) लोटा ।
(३५) एक छोटा-सा पुस्तकालय ।
(३६) हस्तकलासम्बन्धी उपकरण ।
(३७) उद्यान-सम्बन्धी औज़ार ।
(३८) सुई, तागा, बटन ।
(३९) साबुन, कङ्घी, तेल, दर्पण ।
(४०) दावात, क़लम, होल्डर, निब, रबड़ आदि ।
(४१) रजिस्टर, नोटबुक, कटी किताब (फ़ाइल की किताब) आदि ।
(४२) बाल-कक्षा के बालकों की सूची (प्रवेश और उन्नति आदि की तिथियों सहित)

रजिस्टर

(१) प्रवेशपुस्तक ।
(२) उपस्थितिपुस्तक ।
(३) निरीक्षणपुस्तक ।
(४) पत्र-व्यवहारपुस्तक ।
(५) कटी किताबें ।
(६) प्रवेशपत्रपुस्तक ।

(७) ट्रान्सफ़र सार्टिफ़िकेटपुस्तक।
(८) प्रधान अध्यापक की निरीक्षणपुस्तक।
(६) परीक्षाफल पुस्तक।

बालकों का प्रवेश—अध्यापकों के लिए यह एक कठिन समस्या होती है। ग्रामवासी अधिकतर बे-लिखे-पढ़े होते हैं और वे इस बात को नहीं समझते कि बालकों को पाठशाला के वर्ष के आरंभ में पाठशाला में भर्ती कराना चाहिए। वे तो इस विचार में रहते हैं कि कोई शुभ मुहूर्त्त (जैसे वसन्तपञ्चमी आदि) प्राप्त हो तो उस दिन बालक को पाठशाला मे भर्त्ती करायें। यह उनकी भूल है, क्योंकि अच्छे कार्य्य को आरम्भ करने के लिए प्रत्येक मुहूर्त्त शुभ समझना चाहिए। विशेष करके पाठशाला के वर्ष का आरम्भ सबसे शुभ मुहूर्त्त है, क्योंकि प्रत्येक कक्षा की पढ़ाई का आरम्भ उसी समय होता है। अध्यापक का कर्त्तव्य है कि ग्रामवासियों के इस भ्रम को पूर्ण रूप से दूर कर दे, क्योंकि ऐसा करने से उसको उसके कार्य्य में बड़ी सुगमता होगी।* बहुत-से अध्यापक यह समझते होंगे कि उनका कर्त्तव्य केवल उन बालकों को प्रविष्ट कर लेने का है जो इस प्रयोजन से पाठशाला में आवें और उनको इस बात की आवश्यकता नहीं है कि वे घर घर जाकर ग्रामवासियों से यह प्रार्थना करें कि वे अपने बच्चों को उचित समय पर पाठशाला में प्रवेश करा दें। ऐसा विचार करना बड़ी भूल है, क्योंकि इस विषय में उदासीन रहने से पाठशाला के कार्य्य में कभी उन्नति नहीं हो सकती। अध्यापक को चाहिए कि वह ऐसे बालकों की एक सूची पहले से तैयार कर ले जो किसी पाठशालीय वर्ष के प्रारम्भ में पाठशाला में प्रवेश करने योग्य हों। और फिर उन बालकों के पिता अथवा संरक्षक से मिलकर यह बात निश्चय कर ले कि वह उन बालकों को पाठशालीय वर्ष के प्रारम्भ में पाठशाला में भर्ती करा देंगे। ऐसा करने से अध्यापक को पाठन के कार्य्य में बड़ी सुविधा होगी और उसका बहुत-सा अमूल्य समय, जो भिन्न भिन्न

---

* ग्रामवासियों के परम्परागत विश्वासों को इस प्रकार के कहने-सुनने से एकदम दूर नहीं किया जा सकेगा। इसके लिए बहुत धैर्य की आवश्यकता है। समय पर बालकों को प्रवेश कराने के लिए यह अधिक सम्भव है कि अध्यापक ग्रामवासियों से प्रार्थना करे कि पाठशाला का वर्ष आरम्भ होने से पहले जो मुहूर्त्त बने उसमें विद्यारम्भ करा दें जिससे पाठशाला खुलने पर बालक पाठशाला में प्रवेश करने के लिए तैयार रहें।

योग्यता के बालकों को एक ही कक्षा में भिन्न भिन्न पाठ पढ़ाने में नष्ट हो जाता है, अन्य बहुत-से उपयोगी कार्य्यों के लिए बच जायगा, और बालकों को बाल-कक्षा आदि में चिरकाल तक रखने का जो दोष आजकल प्राइमरी स्कूलों में पाया जाता है, वह दूर हो जायगा। प्रायः यह देखा गया है कि बाल-कक्षा में कितने ही छोटे छोटे विभाग होते हैं। इनका कारण यही है कि इस कक्षा में बालक साल भर में कई बार भर्ती होते हैं। यद्यपि यह नियम है कि साधारण रूप से बाल-कक्षा में बालक साल भर में दो ही बार भर्ती किये जायँ तथापि इस नियम का पालन पूर्ण रूप से नहीं होता। प्रायः इसका उल्लङ्घन ही होता है। जिन पुरुषों को इस बात का अनुभव है वे दृढ़ता के साथ कह सकते हैं कि जब तक यह नियम कि बालकों की भर्ती केवल वर्ष के आरंभ में ही होनी चाहिए न हो जाय और इसका पूर्ण रूप से पालन न हो, तब तक उक्त दोष दूर न होगा। हाँ, यह संभव है कि कभी देश में इतना धन हो जाय कि कक्षा की प्रत्येक छोटी छोटी टोली के लिए या यों कहिए कि प्रत्येक बालक के लिए, एक एक अध्यापक रखा जा सके। तब बालकों के प्रवेश के समय को स्थिर करने की आवश्यकता न रह जायगी। परन्तु यह आशा तो अभी स्वप्न-मात्र ही समझी जानी चाहिए। इस दोष का एक प्रतिकार डाल्टनप्रणाली का पूर्ण रूप से उपयोग भी हो सकता है। परन्तु इसके लिए योग्य और परिश्रमी अध्यापकों की आवश्यकता है। इसलिए अध्यापक को इससे बढ़कर और कोई व्यावहारिक सलाह नहीं दी जा सकती कि वह ऐसा प्रबन्ध करने में सफल होने का अत्यन्त प्रयत्न करे कि सब नये बालक जो उसकी पाठशाला में भर्ती होना चाहते हैं या जिनके भर्ती होने की संभावना है, वे वर्ष के आरंभ ही में प्रतिवर्ष भर्ती हो जाया करें। जितना प्रयत्न वह इस विषय में सफल होने के लिए करेगा उतना ही वह शिक्षा के कार्य्य में भी सफल होगा।

आजकल बालकों के पाठशाला में प्रवेश के समय एक प्रवेशपत्र संरक्षक की ओर से भरा जाता है जिस पर उसके हस्ताक्षर या अँगूठे का निशान होता है। प्रायः यह पत्र अध्यापक ही भर देता है। अध्यापक को चाहिए कि वह सब बातें संरक्षक से ठीक प्रकार से पूछकर प्रवेशपत्र में भर दे। विशेषकर आयु के कोष्ठ में जन्म की तिथि ठीक ठीक लिखनी चाहिए ताकि भविष्य में संरक्षक और छात्र को इस जन्मतिथि की अशुद्धि के कारण कोई दुःख या हानि न पहुँचे।

बालकों की उपस्थिति—इसमें सन्देह नहीं कि ग्रामीण पाठशालाओं में

बालक ठीक समय पर नहीं आते हैं। विशेष रूप से यह बात बाल-कक्षा में देखने में आती है। इसका क्या कारण है? प्रथम तो ग्रामवासियों के पास घड़ियाँ नहीं होतीं। इस कारण से उन्हें समय का ठीक ठीक ज्ञान नहीं हो सकता है। द्वितीय वे लोग समय के मूल्य को नहीं समझते। मैंने कितनी ही बार देखा है कि यदि पाठशाला १० बजे लगनेवाली है तो कोई बालक ८ बजे ही से आने लगते हैं और कोई बालक १२ बजे तक इकट्ठे होते हैं। गर्मी के मौसम में एक पाठशाला के आरंभ का समय ७ बजे प्रातःकाल था। मैं वहाँ ठीक ७ बजे पहुँचा तो देखा कि पाठशाला बन्द है और न वहाँ कोई बालक है, न कोई अध्यापक। मुझे आगे भी जाना था। वहाँ से सन्ध्या समय लौटने पर अध्यापक महाशय मिले और कहने लगे 'मैं बालकों को बुलाने चला गया था।' ये महाशय पाठशाला ही के अहाते में रहते थे। मेरी सम्मति में यह प्रातःक्रिया से निबटने गये होंगे; परन्तु जब पकड़े गये तो यही कहते बना कि बालकों को बुलाने गया था। यह पाठशाला पक्की सड़क के किनारे पर है। भीतर देहात में तो पाठ-शालाओं का कहना ही क्या है। यदि उद्देश्य यह है कि पाठशाला का कार्य्य अच्छा हो, बालकों का उत्साह बढ़े और शिक्षा में उन्नति हो तो अध्यापकों को चाहिए कि ऐसा प्रबन्ध करें कि पाठशाला में बालकों की उपस्थिति पूरी और ठीक समय पर हो। एक नियम यह अवश्य होना चाहिए कि पाठशाला के समय में अध्यापक कदापि बालकों को बुलाने न जायँ, क्योंकि ऐसा करने से पाठशाला का शासन बिगड़ता है और अध्यापक का आत्म-सम्मान कम हो जाता है। छात्र और उनके माता-पिता का यह विचार हो जाता है कि अध्यापक की जीविका छात्रों के पाठशाला जाने पर निर्भर है। वे इसलिए और भी इतरा जाते हैं और बालकों के भेजने में असावधान हो जाते हैं। इस कथन का तात्पर्य्य यह नहीं है कि अध्यापक को बालकों के घर उनके माता-पिता से मिलने नहीं जाना चाहिए। नहीं, यह तो उनको अवश्य करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से संरक्षकों को पाठशाला से सहानुभूति पैदा होगी और अध्यापक को अपने कार्य्य में सहायता मिलेगी। परन्तु पाठशाला के समय में यह कार्य्य कदापि नहीं करना चाहिए। अध्यापकों को प्रत्येक ग्राम के, जहाँ से कि बालक उनकी पाठशालाओं में पढ़ने आते हैं, कुछ ऐसे समझदार बालक नियत कर देने चाहिएँ कि जो अपने ग्राम में रहनेवाले सहपाठियों को अपने साथ बुलाकर ले आया करें। पाठशाला का समय ऐसा रखना चाहिए जिससे कि बालकों को दो या तीन मील की दूरी से पाठशाला में नियत समय पर आने में असुविधा या कठिनाई न हो। जो बालक

नित्य-प्रति पाठशाला में न आते हों अथवा देर से आते हों उनके गृह पर अध्यापक को पाठशाला के समय के पश्चात् या पहले जाना चाहिए और इस त्रुटि का कारण ज्ञात करके उनके संरक्षकों को समझाना चाहिए कि बालकों को नित्य और नियत समय पर पाठशाला में भेजा करें। कभी कभी ऐसा भी होगा कि एक बार बालक के घर पर जाने से पूरी सिद्धि प्राप्त न होगी। इससे अध्यापक को निराश न होना चाहिए। किन्तु उसको बार बार इसका प्रयत्न करना चाहिए कि प्रत्येक बालक पाठशाला में नियत समय पर उपस्थित हो। इस विषय में सिद्धि का सबसे बड़ा रहस्य यह है कि पाठशाला के कार्य्य को खेल आदि द्वारा अत्यन्त रोचक बनाया जाय जिससे बालक बिना बुलाये ही दौड़े हुए नियत समय पर पाठशाला चले आया करें। यदि छात्र नित्यप्रति नियत समय में पाठशाला में उपस्थित होंगे तो पाठशाला के कार्य्य में बड़ी सुविधा और सुगमता होगी और अध्यापक को अपने कार्य्य में पूरी सफलता प्राप्त हो सकेगी।

बालकों की बैठक—यह बड़ा ही आवश्यक विषय है, क्योंकि पढ़ाई की सफलता या असफलता इस पर बहुत कुछ निर्भर है। प्रायः देखा जाता है कि कक्षाओं में बालक किसी नियम से नहीं बैठते। यह बात बाल-कक्षा में विशेष रूप से देखने में आती है। मैंने प्रायः देखा है कि यदि एक बालक अध्यापक की ओर मुँह करके बैठा है तो दूसरे ने अध्यापक की ओर पीठ कर ली है, और कहीं आपस में बातचीत हो रही है। कोई घुटना टेककर बैठा है तो कोई आलथी-पालथी मारकर बैठता है। यदि एक बालक घुटने पर तख़्ती रखकर उस पर लिख रहा है तो दूसरा भूमि पर तख़्ती रख झुककर उस पर लिखता है इत्यादि। ऐसा करने से बालकों को एक दूसरे का लेख देखने का अवसर बहुत मिलता है और एक दूसरे के लेख को जैसे का तैसा ही अपनी तख़्ती या पुस्तक पर लिख लेता है। इससे बालकों में स्वयं विचार करने की शक्ति नहीं आती और उनमें चोरी करने की बान पड़ जाती है। मेरी अपनी सम्मति में तो लिखते समय बालकों को आगे-पीछे अध्यापक की ओर मुख करके और स्थान की चौडाई के अनुसार पंक्तियाँ बनाकर बैठाना चाहिए। इससे एक को दूसरे का लेख देखने और उसको चुराने का अवसर नहीं मिलेगा। लिखते समय बायाँ घुटना टेक देना चाहिए और दाहिना घुटना उठाकर अर्थात् दाहिने घुटने से उकड़ूँ बैठकर उसी घुटने पर तख़्ती या पुस्तक रखकर लिखना चाहिए। यदि आगे फ़रशी मेज़ हो तो इस उकड़ूँ बैठक की आवश्यकता नहीं है। तब पालथी मारकर अर्थात् चौकोर बैठना ही ठीक होगा।

यह भी देखने में आता है कि अध्यापक छात्रों को दो या एक लम्बी पंक्ति में बिठा देते हैं। ऐसा करने से कुछ छात्र उनसे बहुत दूर हो जाते हैं और उन्हें जो कुछ पढ़ाया जाता है उसको वे पूर्ण रूप से न सुन सकते हैं, न ग्रहण कर सकते हैं। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि कमरे की चौड़ाई के अनुसार तीन या चार पंक्तियों में बालकों को अपनी ओर मुख कराके बिठावें जैसा कि साथ में दिये हुए चित्र से प्रकट होगा। एक और त्रुटि भी कक्षाओं की बैठक में देखने में आती है। जब किसी अध्यापक के पास दो या तीन कक्षायें पढती हैं तो उनके बालक ऐसे मिलाकर बिठा दिये जाते हैं कि निरीक्षक को यह पता नहीं चलता कि कौन बालक किस कक्षा का है। यह प्रबन्ध पढ़ाई में भी बाधक होता है, क्योंकि जब अध्यापक एक कक्षा को पढ़ाता है तो दूसरी कक्षाओं के बालकों का ध्यान बँट जाता है। जहाँ तक हो सके एक पंक्ति में एक ही कक्षा के बालक होने चाहिए। छोटी कक्षायें अध्यापक की बाईं ओर और बड़ी उसी क्रम से दाहिनी ओर हों तो अच्छा होगा। पंक्ति में छोटे बालक आगे और बड़े पीछे हों।

इस बात का ध्यान रहे कि श्यामपट और नक़्शे पर प्रकाश की चमक नहीं पड़नी चाहिए, अन्यथा बालकों को चकाचौंध के कारण कुछ दिखाई न देगी और उनकी आँखों को भी हानि पहुँचेगी। अध्यापक को यह भी देखना चाहिए कि बालक लिखते या पढ़ते समय अधिक तो नहीं झुकते और पुस्तक या तख़्ती को ठीक दूरी पर रखते हैं। यदि संभव हो (और यह संभव हो सकता है) तो कच्ची ईंटें साँचे के द्वारा पथवा कर और सुखवाकर तीन तीन ईंटें एक दूसरे पर रखवा कर दो ऐसे खम्भ बना लिये जायँ और उन पर तख़्ता रखवा दिया जाय जिस पर बालक तख़्ती या पुस्तक रखकर लिख सकें। इससे झुकने की सम्भावना न रहेगी। यह बहुत ही सरल उपाय है। जो बैठने की रीति ऊपर लिखी गई है वह तब तक सम्भव नहीं हो सकती जब तक बालकों के पास अपना अपना पूरा सामान न हो। यदि किसी छात्र के पास दावात नहीं है तो वह अवश्य पीछे को मुँह मोड़कर या आगे को हाथ बढ़ाकर दूसरे की दावात से काम लेने का प्रयत्न करेगा। यदि उसके पास पढ़ने की पुस्तक नहीं है तो वह अवश्य दूसरे छात्र के बराबर बैठकर उसकी पुस्तक से पढ़ने का अवसर

ढूँढ़ेगा। पंक्तियों के बीच में अवकाश पर्याप्त होना चाहिए जिसमें बालक अपना सामान ठीक रख सकें। प्रत्येक दो बालकों के बीच में इतनी दूरी होनी चाहिए कि छात्र अपनी पुस्तक या तख़्ती अपने आगे बिना किसी कठिनाई के अच्छी तरह रख सके।

बालकों का स्वास्थ्य—ऊपर लिख आये हैं कि बालकों को कक्षा में किस प्रकार बैठकर कार्य करना चाहिए। बैठक का प्रभाव स्वास्थ्य पर भी बहुत कुछ पड़ता है। यदि बैठने की रीति ठीक नहीं है तो बालकों के स्वास्थ्य को हानि पहुँचेगी। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि स्वास्थ्य के उद्देश्य से भी बालकों को यथोचित रूप से बैठने पर विवश करे। आजकल यह देखने में आता है कि प्रायः बालकों की दृष्टि (देखने की शक्ति) कुछ समय तक पढ़ने के पश्चात् कम हो जाती है। इसका क्या कारण है? यदि ध्यान से देखा जाय तो ज्ञात होगा कि इसके मुख्य कारण तीन हैं। एक तो बैठक का ठीक न होना, दूसरे कमरे में उजाले का ठीक न होना जिससे पढ़ते समय आँख पर अधिक ज़ोर पड़ता है, और तीसरे पुस्तकादि को आँख से ठीक दूरी पर न रखना या उस पर बहुत झुक जाना। कमरे में उजाला पर्याप्त होना चाहिए और यह सदा बालक की बाईं ओर से आना चाहिए जिसमें दाहिने हाथ से लिखते समय काग़ज़ पर उजाला रहे। पुस्तक की दूरी आँख से ९ इंच के लगभग होनी चाहिए। बालक को पुस्तक पर इससे अधिक न झुकने देना चाहिए नहीं तो बालक को मायोपिया (लघुदृष्टि) अर्थात् पास की वस्तु स्पष्ट न दिखाई देने का रोग हो जायगा।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी और बहुत-सी बातें हैं जिन पर अध्यापक को ध्यान देना चाहिए। ग्राम में बालक प्रायः मैले रहते हैं। उनमें सफ़ाई की बान डालनी चाहिए। पहले बालकों का ध्यान निजी अर्थात् अपने शरीर की सफ़ाई और स्वच्छता की ओर आकर्षित करना चाहिए। बालकों का यह सुदृढ़ स्वभाव हो जाना चाहिए कि वे प्रातःकाल सूर्योदय से पहले उठकर शौचादि से निवृत्त होकर ठण्डे पानी से स्नान कर लिया करें। नहाने से पहले दाँत, आँख, नाक आदि की सफ़ाई बड़ी आवश्यक है। दाँत साफ़ रखने के लिए दातौन का प्रयोग नित्य किया जाय। दातौन ताज़ी नीम या बबूल (कीकर) की होनी चाहिए

और उसे इतनी देर तक करना चाहिए कि दाँत साफ़ हो जायँ। दातौन को दाँतों पर ही मलना चाहिए। मसूढ़ों पर मलने से हानि होने की संभावना है। सप्ताह में दो या एक बार बारीक पिसे हुए नमक को कड़ुए तेल में मिला कर दाँतों पर मलना चाहिए। ऐसा करने से दाँतों पर और मसूढ़ों की जड़ों में खाने के टुकड़ों से बननेवाली कीट जमा न होगी। आँखों के लिए त्रिफला उपयोगी है। एक भाग बड़ी हड़ का छिलका, दो भाग बहेड़ा और चार भाग आँवला मिलाने से त्रिफला तैयार हो जाता है। त्रिफला के पानी से आँखों को धोना चाहिए। इसकी विधि यह है कि थोड़े से त्रिफले को रात्रि के समय ठण्डे पानी में मिट्टी के साफ़ कुल्हड़ में भिगो दिया जाय। पानी का परिमाण त्रिफले के परिमाण से प्रायः पाँच छः गुना होना चाहिए। प्रातःकाल बहुत साफ़ बारीक कपड़े से छान कर त्रिफले को फेंक दिया जाय और उसके पानी से आँखें धोई जायँ। पानी के छपके यदि आँखों पर मारे जायँ तो अधिक लाभ होगा। कान को भी साफ़ रखने की आवश्यकता है। कभी कभी कान में कड़ुवा तेल डालना बहुत लाभदायक होता है। कान को सींक आदि से कुरेदना न चाहिए। नहाते समय बदन के प्रत्येक अङ्ग को ख़ूब रगड़कर धोना चाहिए। नहाने का तात्पर्य यह नहीं है कि बदन पर दो चार लोटे जल जल्दी जल्दी डाल लिये जायँ। जाड़ों में कभी कभी गरम पानी और साबुन का भी प्रयोग करना चाहिए। ग्रामों में प्रतिदिन प्रयोग करने के लिए साबुन प्रत्येक बालक को नहीं मिल सकता है। पहाड़ पर रहनेवाले बालकों को दाँतों की सफ़ाई की ओर विशेष ध्यान देना चाहिए। जो बालक प्रायः दातौन नहीं करते हैं उनके दाँत ख़राब हो जाते हैं और उनके मुख से दुर्गन्ध आने लगती है। गरम पानी से बन्द स्थान में नहाया जाय जिससे ठण्डी हवा से हानि न हो।

यदि बदन साफ़ है और सब अङ्गों की सफ़ाई हो जाती है तो स्वास्थ्य अच्छा रहेगा। परन्तु इस सफ़ाई के साथ वस्त्रों की सफ़ाई अत्यन्त आवश्यक है, क्योंकि वस्त्रों की सफ़ाई का स्वास्थ्य पर बड़ा प्रभाव पड़ता है। देखा गया है कि जब हम स्वच्छ कपड़े पहनते हैं तो चित्त बड़ा प्रसन्न रहता है। ग्रामों में धोबी बहुत साफ़ कपड़े नहीं धोता है और ग्रामवासियों का इस ओर ध्यान भी कम है। अध्यापक का कर्तव्य है कि बालकों का ध्यान कपड़ों की सफ़ाई की ओर

आकर्षित करे। इसमें संशय नहीं कि निर्धनता के कारण ग्रामों में लोगों के पास एक या दो ही जोड़े कपड़े होते हैं और इसलिए वे उन्हीं को तब तक पहने रहते हैं जब तक कि वे फट न जायँ। परन्तु यदि बालक अपने कपड़े धोना स्वयं सीख लें तो कपड़ों के साफ़ रहने में कोई कठिनाई न होगी। कपड़े धोने का साबुन बहुत सस्ता मिलता है और उसका प्रयोग कपड़ों के साफ़ रखने में बहुत सहायता देगा। अध्यापक को चाहिए कि सप्ताह में एक दिन कपड़ों की सफ़ाई के लिए नियत करे और उस दिन बालकों को लेकर सुविधानुसार किसी नदी या तालाब या कुएँ पर जाय। वहाँ बालकों से उनके अपने अपने कपड़े धुलवावे। यदि उस दिन पाठशाला आधे दिन ही रहे तो कोई हानि न होगी। ऐसा करने से बालक अपने कपड़े आप धोना सीख जायँगे और उनमें सफ़ाई की बान पड़ जायगी। इस बात का भी ध्यान रहे कि खेलने के पश्चात् कपड़ों में पसीना लग जाता है और उनको बदल देना या धो डालना आवश्यक है। ऐसा न करने से खुजली, दाद आदि रोग उत्पन्न होने की सम्भावना है। खेल के समय यदि जाँघिया पहना जाय तो अच्छा होगा, क्योंकि खेल के पश्चात् इसको उतारकर दूसरा कपड़ा अर्थात् धोती पहनी जा सकती है। कपड़ों की मरम्मत भी आवश्यकतानुसार होती रहनी चाहिए।

पहनने के कपड़ों की सफ़ाई के साथ बिछाने-ओढ़ने के कपड़ों की भी सफ़ाई का ध्यान रखा जाय। चारपाई पर बिछाने की चादर सप्ताह में एक बार अवश्य धोकर साफ़ कर लेनी चहिए। इसके पश्चात् रहने और सोने के मकानों और कमरों की सफ़ाई भी आवश्यक है। जिस मकान या कमरे में सोना हो उसके कुछ दरवाज़े और खिड़कियाँ खुली रहनी चाहिए जिससे उसमें ताज़ी हवा प्रत्येक समय आती जाती रहे। सोते समय मुँह को कम्बल या रज़ाई से ढाँक कर न सोना चाहिए। ऐसा करने से जो ख़राब हवा साँस के साथ बाहर आती है वह फिर साँस के साथ भीतर चली जाती है और इससे स्वास्थ्य को बड़ी हानि होती है।

बालकों से इन सब बातों को नियमानुसार कराने के लिए यह आवश्यक है कि अध्यापक प्रत्येक छात्र से दैनिक कार्य्यों की एक सूची बनवाये और प्रत्येक तिथि में उनसे लिखवाये कि उन्होंने कौन कौन-से कार्य्य किये और कौन कौन-से नहीं किये। सूची का नमूना आगे दिया जाता है।

दैनिक कार्यों की सूची और तिथि-कार्य्यक्रम

कार्य्य का नाम	तिथि				
	१	२	३	४	इत्यादि
१—आज मैंने दाँत साफ़ किये या नहीं ?					
२—आज मैं नहाया या नहीं ?					
३—आज मैं आठ घंटे सोया या नहीं ?					
४—आज मैंने कपड़े धोये या नहीं ?					
५—आज मैंने चबाकर भोजन किया या नहीं ?					
इत्यादि ।					

अध्यापक को चाहिए कि बालकों को स्वास्थ्य के मुख्य मुख्य नियम बता दे और यह भी बता दे कि उन नियमों के पालन करने से स्वास्थ्य को क्या लाभ पहुँचता है। साथ ही उनके रोज़नामचे को, जिसका नमूना ऊपर दिया गया है, देखता-भालता रहे जिससे उसे यह ज्ञात हो जायगा कि बालक उन नियमों का कहाँ तक पालन कर रहे हैं। परन्तु उसको बालकों के केवल रोज़नामचे ही पर विश्वास न कर लेना चाहिए बल्कि अपनी आँख से बालकों के कपड़े, दाँत आदि देखकर जाँच लेना चाहिए कि रोज़नामचा कहाँ तक ठीक लिखा गया है।

बालकों को पाठशाला में ५ या ६ घण्टे तक रहना पड़ता है। इस बीच में उन्हें व्यायाम भी करना पड़ता है और उन्हें भूख भी लगती है। कोई कोई बालक तो घर से कुछ खाने की सामग्री ले आते हैं परन्तु बहुत-से बालक भूखे ही रहते हैं और भूखे ही खेलते भी हैं जिससे उनके स्वास्थ्य को हानि पहुँचती है। इसके लिए सहल और सस्ता उपाय यह है कि भीगे हुए चने, जिनमें अँखुए फूट आये हों,

नमक आदि मिलाकर बच्चों को पाठशाला ही में उचित समय पर खिलाये जायँ जिससे वे कमज़ोर न होने पावें। जिन ग्रामवासियों के यहाँ खेत में चना पैदा होता है उनसे उनके बालकों के हेतु सेर भर चना प्रतिमास प्रतिबालक के हिसाब से ले लेना चाहिए। चना भिगोने के लिए मिट्टी की नाँद होनी चाहिए जिसको लाल दवा के पानी से प्रत्येक बार, जब भीगा हुआ चना उसमें से निकाला जाय, धोया जाय। भिगोने से पहले चने ख़ूब साफ़ कर लेने चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि प्रत्येक संरक्षक अपने घर ही से चना साफ़ कराकर पाठशाला को भेज दे, या फिर बालकों से इस कार्य्य में सहायता लेनी चाहिए। प्रत्येक बालक के लिए आधी छटाँक चना प्रतिदिन के लिए पर्याप्त होगा। बड़े बालकों को छटाँक भर तक दिया जा सकता है और उसी हिसाब से उनसे चना मँगाया जाय। जो विद्यार्थी चना न ला सकें वे नक़द दाम दे दें। यह =) प्रतिमास से अधिक न होना चाहिए। कभी कभी चने के स्थान में ऋतु के अनुसार और और खाद्य पदार्थ, जो बालक अपने अपने घरों से ला सकें, खिलाने चाहिए; या उनको चनों के साथ मिला कर खिलाना चाहिए। भिगोने से पहले चना दो-तीन पानी से धो लेना चाहिए। फिर २४ घण्टे तक उसे भिगो रखना चाहिए। तत्पश्चात् पानी फेंककर उसे दूसरी नाँद में उलट देना चाहिए जिससे वह दूसरे २४ घण्टे के पश्चात् फूट निकलेगा। अर्थात् यह विधि ४८ घण्टे लेगी। इसलिए चने को खिलाने से दो दिन पहले भिगोना चाहिए। बालकों को यह भी बताना चाहिए कि चना ख़ूब चबा कर खाया जाय तथा और भोजन भी जो वे खायँ उसे भी ख़ूब चबा कर खायें। ऐसा करने से पाचनशक्ति को हानि न होगी और भोजन भी शीघ्र पच जायगा। बालकों को अवस्थानुसार यह भी जानना आवश्यक है कि किस किस खाद्य पदार्थ के क्या क्या गुण होते हैं ताकि वे अपने स्वास्थ्य के अनुसार भोजन किया करें।

स्वास्थ्य को ठीक रखने के लिए जहाँ उपरोक्त बातों का ध्यान रखना आवश्यक है वहाँ उन बातों के साथ ही साथ व्यायाम करने की भी बहुत बड़ी आवश्यकता है। बालकों को व्यायाम अधिकतर खेल-द्वारा कराना चाहिए, क्योंकि उनकी रुचि खेल में अधिक होती है।

बालकों का खेल—एक समय था जब लोगों का यह विचार था कि खेलने में जो समय लगता है वह नष्ट हो जाता है। इस विचार में अब बहुत बड़ा परिवर्तन हो गया है। अब मानसिक शिक्षा के साथ व्यायाम और खेल के रूप में शारीरिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक समझी जाती है। परन्तु व्यायाम

वही लाभकारी होता है जो रुचि के साथ किया जाय और यह तभी सम्भव है जब व्यायाम खेलों द्वारा हो। आज-कल बालचर संस्था के प्रचलित होने के कारण उपयोगी, शिक्षाप्रद और शरीर के प्रत्येक अङ्गों को पुष्ट करनेवाले खेलों की कमी नहीं है। अध्यापकों को चाहिए कि अपनी पाठशाला की स्थिति और खेल के मैदान आदि के अनुसार ऐसे खेलों की सूची तैयार कर लें जिनके खेलने का पाठशाला में अत्यन्त सुभीता हो। उन खेलों को भले प्रकार से समझ लें और बालकों को उनका खेलना अच्छी तरह से सिखा दें जिससे उन्हें उनसे अधिक से अधिक लाभ हो। अध्यापक यदि चतुर होगा तो वह परिस्थिति का ध्यान रखते हुए बालकों की योग्यता के अनुसार नये नये खेलों का आविष्कार कर लिया करेगा।

पाठों की तैयारी—अध्यापकों के लिए यह बड़ा ही आवश्यक विषय है। कितने ही अध्यापक इस विचार के हैं कि बालकों को पढ़ाने के लिए, विशेष करके छोटे बालकों को पढ़ाने के लिए, किसी विशेष तैयारी की आवश्यकता नहीं है। परन्तु ऐसा विचार करना बड़ी भारी भूल है। यह बात देखने में आई है कि जो अध्यापक पढ़ानेवाले पाठों को तैयार नहीं करते हैं वे पूर्ण रूप से अपना कार्य्य नहीं कर सकते। पहले से पाठ को तैयार न करने से यह होता है कि बहुत-सी पाठ-सम्बन्धी उपयोगी बातें पढ़ाते समय विचार में नहीं आतीं। बहुत-से लाभदायक प्रश्न छूट जाते हैं और पढ़ाने में वह आनन्द भी नहीं आता जो पाठ को तैयार करके पढ़ाने में आता है। ये बातें लेखक अपने बहुत वर्षों के अध्यापकीय अनुभव से लिख रहा है। पाठों की तैयारी निम्न प्रकार से करनी चाहिए।

जो पाठ पढ़ाना हो उसको पहले आरम्भ से अन्त तक पढ़ जाना चाहिए। फिर उसमें ऐसी बातें जो बालकों के लिए कठिन हों उन पर विचार करना चाहिए कि उन बातों को समझाने के लिए क्या क्या प्रश्न करने आवश्यक हैं। यदि आवश्यक समझा जाय तो किसी नोटबुक में वे प्रश्न संक्षेप रूप से लिख लिये जायँ। तत्पश्चात् उन बातों पर विचार किया जाय जिनको श्यामपट पर लिखना आवश्यक है। उनको भी नोट-बुक में लिख लेना चाहिए। फिर इस बात पर ध्यान देना चाहिए कि उदाहरणार्थ किन किन वस्तुओं की आवश्यकता होगी। उन वस्तुओं को भी पाठ पढ़ाने से पहले जुटा लेना चाहिए। इन सब बातों ही का नाम पाठ की तैयारी करना है। यदि अध्यापक कक्षा में जाने से पहले, अर्थात् पाठशाला का कार्य्य आरम्भ करने से पहले, ये सब बातें

प्रतिदिन किया करे तो उसे पाठों के पढ़ाने में कोई कठिनाई न होगी और पाठ इतने रोचक हो जायँगे कि वे बालकों की समझ में अच्छी तरह आ जायँगे और उन्हें याद भी रहेंगे। दैनिक पाठों की तैयारी के लिए यह आवश्यक है कि वर्ष के प्रारम्भ में अध्यापक वर्ष भर का कार्य्यक्रम तैयार कर ले और जितना वर्ष भर में पढ़ाना है उसको प्रत्येक त्रिमास, मास और सप्ताह में विभाजित कर दे। यह सब एक रोज़नामचे अर्थात् दैनिक लेखे में लिख लिया जाय।* जितना प्रति सप्ताह में होता जाय उसे भी रोज़नामचे में उचित स्थान में लिख देना चाहिए। ऐसा करने से यह लाभ होगा कि अध्यापक को प्रतिदिन, प्रतिसप्ताह, प्रतिमास और प्रतित्रिमास पता लगता रहेगा कि वह कितना कार्य्य कर चुका है और उसे कितना कार्य्य वर्ष के अवशिष्ट भाग में और करना रह गया है।

पाठशाला का शासन—पाठशाला में कई अध्यापक होते हैं। उनकी संख्या बालकों की संख्या पर निर्भर है। उनमें एक मुख्याध्यापक होता है जिसका कार्य्य विशेष रूप से पाठशाला के प्रबन्ध करने का है। यह समय-विभाग-चक्र बनाता है† और अन्य अध्यापकों के लिए कार्य्य नियुक्त करता है। उसका यह

---

* दैनिक लेखा इस प्रकार रक्खा जाय तो अच्छा होगा :—

(१) सप्ताह की अन्तिम तिथि। (२) सप्ताह में पढ़ाई के परिमाण का अनुमान। (३) कार्य्य जो वास्तव में हुआ। (४) विशेष विवरण।

पाठों की तैयारी के लिए कभी कोष, चित्रों और कई और पुस्तकों की भी आवश्यकता पड़ जाती है। पाठ की इन आवश्यक वस्तुओं का नाम भी विशेष विवरण के ख़ाने में लिख लेना उचित है जिससे अध्यापक उन्हें पाठ से पहले एकत्रित कर सके। जो सामान न हो उसकी सूची पाठशाला के प्रबन्धकर्ता को दे दे और प्रार्थना करे कि वे उसे मँगा दे।

† समय-विभाग-चक्र अध्यापकों, कक्षाओं और छात्रों की संख्या के अनुसार बनाया जाता है। ज़िले के डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब भी ज़िले की सब पाठशालाओं के लिए आदर्श समय-विभाग-चक्र बना कर भेज देते हैं। परन्तु प्रत्येक पाठशाला की स्थिति भिन्न भिन्न होती है। इसलिए मुख्याध्यापक को ही अपनी पाठशाला के लिए समय-विभाग-चक्र बनाना पड़ता है। समय-विभाग-चक्र बनाते समय यह ध्यान रक्खा जाय कि गणित, व्याकरण, प्रथम भाषा आदि कठिन विषय पहले या उस समय आवें जिस समय बालकों का मस्तिष्क थका हुआ न हो। सरल विषयों को दिन के अन्तिम भाग में पढ़ाने का समय दिया जाय।

कर्त्तव्य है कि पाठशाला में नियत समय से कम से कम २० मिनट पहले आवे। ऐसा करने से पाठशाला का कार्य्य नियत समय पर आरम्भ होगा और दूसरे अध्यापक और छात्र भी नियत समय पर पाठशाला में आवेंगे। इसी प्रकार पाठशाला का समय हो जाने पर मुख्याध्यापक को कुछ समय ठहर कर यह देख लेना चाहिए कि पाठशाला का सामान सब ठीक प्रकार से रख दिया गया है और पाठशाला का मकान ठीक तरह से बन्द हो गया है जिससे चोरी होने का भय नहीं है। शासन की सफलता की एक महत्त्व-पूर्ण कुञ्जी यह भी है कि अपने सहकारियों का हार्दिक सहयोग प्राप्त कर ले। यह तभी हो सकता है जब मुख्याध्यापक उनके साथ सहानुभूति-पूर्ण बर्ताव करे। परन्तु सिद्धांत और नियमों के विषय में किसी प्रकार की त्रुटि न होने देनी चाहिए और यह भी देखना चाहिए कि सहायक अध्यापक अपना अपना कार्य्य ठीक प्रकार से करते हैं।

दण्ड और पुरस्कार—यह बात भी याद रखनी चाहिए कि पाठशाला का शासन केवल दण्ड पर ही निर्भर नहीं है। जो अध्यापक छात्रों को अधिक दण्ड देते हैं या बात बात में दण्ड देते हैं वे अपने कार्य्य में सफल नहीं हो सकते। किसी दशा में कुछ दण्ड भी देना पड़ेगा। परन्तु अध्यापक को देखना चाहिए कि दण्ड अपराध के अनुसार हो। उदाहरणार्थ यदि कोई छात्र सदा मैले कपड़े पहन कर आता है और समझाने से भी नहीं मानता तो उसके लिए यही दण्ड होना चाहिए कि उससे उसके कपड़े पाठशाला ही के समय में धुलवाये जायँ और जब तक उसके कपड़े साफ़ न हो जायँ तब तक वह कक्षा में और बालकों के साथ न बैठने पावे। सिद्धान्त यह होना चाहिए कि दण्ड का उद्देश सुधार हो न कि अपराध का बदला लेना। यदि यह सिद्धांत मानकर दण्ड दिया जायगा तो उससे कभी हानि न होगी किन्तु सुधार ही होगा। जहाँ दण्ड दिया जाय वहाँ अच्छे कार्य्य के लिए पुरस्कार देना भी आवश्यक है। यदि गाँव के ज़मींदार या पढ़े लिखे समृद्धिशाली लोगों से कुछ सहायता मिल जाय तो उससे साल में अच्छा काम करनेवाले बालकों को पुस्तक, पेंसिल, कापी, मोज़ा, बनिआइन, खेल का सामान आदि उपयोगी वस्तुएँ पुरस्काररूप में दे दी जायँ।

स्कूल की परिस्थिति के अनुसार किसी दस्तकारी, उद्यान में काम करने और खेल को भी समय देना चाहिए। यदि एक से अधिक कक्षा एक अध्यापक को पढ़ानी हो तो एक समय में एक को स्वयं कार्य्य करने और दूसरी को अध्यापक से पढ़ने का क्रम रक्खा जाय।

स्कूल में "सम्मानपत्र" बनाकर लगा दिया जाय जिसमें अच्छे पढ़नेवाले, अच्छे खेलनेवाले, अच्छे काम करनेवाले या नित्य उपस्थित रहनेवाले विद्यार्थियों का नाम लिख दिया जाया करे जिससे उनकी प्रशंसा हो और उनका आत्म-सम्मान बढ़े।

परीक्षायें—पाठशाला के शासन का प्रकरण परीक्षाओं के सम्बन्ध में बिना लिखे हुए पूर्ण नहीं कहा जा सकता। वर्तमान शिक्षा-प्रणाली में परीक्षाओं का स्थान उच्च है और उनके बिना कार्य्य नहीं चल सकता। यद्यपि कुछ लोगों का यह मत है कि परीक्षाओं का प्रभाव बालकों के स्वास्थ्य पर अच्छा नहीं पड़ता है और बालक परीक्षाओं ही के पास करने के उद्देश्य से प्रायः पढ़ते हैं तथापि अभी तक परीक्षाओं का कोई योग्य स्थानापन्न नहीं मिला है। इसलिए जब तक परीक्षायें आवश्यक हैं उनको श्रेष्ठतम बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और उनसे पूरा लाभ उठाना चाहिए। परीक्षा का मुख्य उद्देश यह ज्ञात करना है कि जो पढ़ाया गया है उसको बालक भली भाँति समझ गया है या नहीं। परन्तु साधारणतः पाठशाला की परीक्षा का अभिप्राय यह भी होना चाहिए कि उसके द्वारा बालकों को अधिक ज्ञान प्राप्त कराया जाय। कक्षा में पढ़ाते समय बालकों से जो प्रश्न किये जाते हैं वह भी एक प्रकार की परीक्षा है। जब कोई पाठ पढ़ा दिया जाता है और अन्त में जो पुनरावृत्ति-सम्बन्धी प्रश्न किये जाते हैं वह भी परीक्षा ही है। परीक्षायें दैनिक, साप्ताहिक, मासिक, त्रैमासिक, षाण्मासिक और वार्षिक होती हैं। परीक्षा-सम्बन्धी प्रश्न ऐसे होने चाहिए जो बुद्धि, समझ तथा ज्ञान की जाँच करें और रटने को अधिक महत्त्व न दें। परीक्षाओं से तब तक कुछ लाभ न होगा जब तक जो उत्तर बालक देते हैं (चाहे वे मौखिक हों या लिखित हों) वे उचित रूप से सुधारे न जायँ और फिर उन सुधारे हुए उत्तरों का अभ्यास न कराया जाय। प्रायः देखने में आता है कि परीक्षा हो जाने के पश्चात् उत्तरों के अङ्क उनकी योग्यता के अनुसार दे दिये जाते हैं और उनके सुधार और तत्पश्चात् शुद्ध उत्तरों के अभ्यास की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। यह विधान केवल अन्तिम परीक्षाओं के लिए ही होना चाहिए जिनके पश्चात् बालक कक्षा या पाठशाला को छोड़ देते हैं। एक बात और भी ध्यान में रहने की है। वह यह है कि परीक्षा हो जाने के पश्चात् शीघ्र से शीघ्र उत्तरों की जाँच हो जानी चाहिए। उनका सुधार हो जाना चाहिए और सुधरे हुए उत्तरों का अभ्यास भी करा देना चाहिए। ये सब कार्य्य, जहाँ तक सम्भव हो, परीक्षा के पश्चात् नवीन पाठों को पढ़ाने से पहले ही कर लेने चाहिए।

पाठशाला के उद्यान का कार्य्य—बहुत-सी पाठशालाओं में देखने में आता है कि अध्यापक फुलवारी या उद्यान की ओर ध्यान नहीं देते हैं। यदि उनसे पूछा जाता है कि क्यों ऐसा होता है तो कहते हैं कि चहारदीवारी नहीं है। जो कुछ लगाया जाता है उसको गाय, भैंस और बकरी चर जाती हैं। या कहते हैं कि पानी बहुत दूर है। फुलवारी की सिंचाई का प्रबन्ध सम्भव नहीं है। जो अध्यापक ऐसा कहते हैं उन्होंने यह अनुभव नहीं किया है कि ग्रामों में यदि कोई वस्तु मकानों के दृश्य को रमणीक बना सकती है तो वह उद्यान ही है। भारतवर्ष कृषि-प्रधान देश है। इसलिए अध्यापक का यह कर्त्तव्य है कि फूल और फल के वृक्षों और पौधों के लगाने में बालकों की रुचि पैदा करे और फिर उन्हें उनकी देख-रेख करने के लिए उत्साहित करे। अँगरेज़ी में एक कहावत है कि जब किसी कार्य्य के करने की इच्छा होती है तो उसके करने का मार्ग भी निकल आता है। यदि अध्यापक दृढ़सङ्कल्प है तो कितनी भी कठिनाइयाँ सामने क्यों न हों वह अवश्य उद्यान बनाने में सफल होगा। इस कार्य्य में उसको बालकों से सहायता लेनी चाहिए। यदि अहाते की दीवार पाठशाला के चारों ओर नहीं है तो पहली बात यह होनी चाहिए कि काँटेदार बाड़ा चारों ओर बनाया जाय। यह कार्य्य वर्षा के आरम्भ में करना चाहिए। विलायती कीकर, डूरंटा, मेंहदी आदि बहुत-से वृक्ष शीघ्र उपज आते हैं। जब बाड़ा घिर जायगा तो अहाते में उद्यान सुगमता से लगाया जा सकता है। बहुत-से अध्यापक ऐसा करते हैं कि दिन भर बालकों को पढ़ाने के पश्चात् थोड़ी देर उनसे उद्यान का कार्य्य ले लेते हैं। उस समय कुछ बालक अपने घर भी चले जाते हैं और उद्यान का कार्य्य एक प्रकार से बेगार की तरह होता है। अध्यापक को चाहिए कि समय-विभाग-चक्र में उद्यान के कार्य्य का समय भी नियत कर दे और उसको नितान्त अन्त में न रक्खे। यह भी होना चाहिए कि प्रत्येक दो-तीन या चार बालकों की अध्यक्षता में उद्यान का थोड़ा थोड़ा भाग रख दिया जाय। प्रत्येक टोली से कह दिया जाय कि वह अपने भाग के लिए उत्तरदायी है। ऐसा करने से प्रत्येक टोली अपने भाग को श्रेष्ठतम बनाने का प्रयत्न करेगी और इस प्रकार तमाम उद्यान की दशा बहुत अच्छी हो जायगी। अध्यापक को यह भी चाहिए कि फूलों और फलों आदि के बोने के समय, उनके बोने के योग्य खेत या भूमि, सिंचाई, खाद आदि का ज्ञान प्राप्त कर ले। इसके लिए हिंदी और उर्दू में कई उत्तम पुस्तकें प्रकाशित हो गई हैं। इसके सिवाय वह पास के सरकारी फ़ार्म पर जाकर भी खेती-सम्बन्धी ज्ञान बहुत कुछ प्राप्त कर सकता है। आज-कल यह ज्ञान

नार्मल और सेंट्रल ट्रेनिंग स्कूलों के छात्राध्यापकों को सिखाया जाता है। इसको ध्यान से सीखना चाहिए और अपनी अपनी पाठशालाओं में जाकर उससे लाभ उठाना चाहिए। मुख्य उद्देश यह है कि बालकों में यह रुचि हो जाय कि बड़े होकर वे भी अपने गृहों के चारों ओर और अहाते में उद्यान लगाकर उसको रमणीक बनावें और सुख के साथ जीवन व्यतीत करें।

ग्राम-सुधार—कदाचित् कोई कोई पाठक यह शंका करें कि ग्राम-सुधार का स्कूलों के प्रबन्ध से क्या सम्बन्ध है? परन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो वर्नाक्यूलर स्कूलों का सम्बन्ध विशेष रूप से ग्रामवासियों ही से है और ये स्कूल और पाठशालायें उन्हीं के बालकों को शिक्षा देने के लिए बनाई गई हैं। इस उद्देश को विचार में रखते हुए अध्यापक का कर्त्तव्य है कि अपने छात्रों को ग्राम-सुधार के विषय में पूर्ण रूप से शिक्षा दे क्योंकि उसके छात्र ही भविष्य के ग्रामवासी होंगे और यदि उनके चित्त में यह निश्चय हो जायगा कि अमुक प्रकार से जीवन व्यतीत करने से सुख प्राप्त होगा और अमुक उपायों से देश की भलाई और उन्नति होगी तो वे अवश्य ही ग्राम-सुधार के सिद्धान्तों पर चलेंगे और उनसे लाभ उठायेंगे।

सबसे पहली बात ग्राम-सुधार के सम्बन्ध में जो बालकों को बतानी चाहिए वह यह है कि मकान हवादार होने चाहिए, अर्थात् प्रत्येक कमरे में स्वच्छ वायु के प्रवेश और साँस से निकली हुई वायु के बहिष्कार का उपाय सम्यक् प्रकार से हो। यदि हो सके तो आदर्श गृहों के ख़ाके (चित्र) बनाकर बालकों को दिखाये जायँ औन उनको यह हृदयंगम करा दिया जाय कि यदि मकानों को इन आदर्शों के अनुसार बनवाया जायगा तो वे स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त लाभदायक होंगे। दूसरी बात उनको यह बताई जाय कि कूड़ा-कर्कट-गोबर आदि गृह के समीप जमा न करना चाहिए, क्योंकि ऐसा करने से संक्रामक बीमारियों के फैलने की अधिक सम्भावना रहती है। कूड़े आदि को अपने खेतों के समीप गढ़े खोदकर उनमें इकट्ठा करना चाहिए और उन पर मिट्टी डालते रहना चाहिए। ऐसा करने से खाद भी अच्छे प्रकार की हो जाती है और खाद के खुले न रहने से मक्खी-मच्छड, कीड़े, मकोड़े आदि अधिक संख्या में नहीं पैदा होते। यह याद रखना चाहिए कि इन्हीं मक्खियों आदि की अधिकता से बीमारी पैदा होती और फैलती है। तीसरी बात याद रखने और अभ्यास में लाने की यह है कि खेतों के लिए गोबर से बढ़कर खाद नहीं होती। इसलिए गोबर को कदापि उपला बनाने के काम में नहीं लाना चाहिए। परंतु उसकी खाद ही बनानी चाहिए। ईंधन

की कमी को पूरा करने के लिए ग्रामवासियों को जङ्गल लगाने की शिक्षा दी जाय। यदि हिसाब से वृक्ष लगाये जायँ और काटे जायँ तो ईंधन की कभी कमी नहीं पड़ेगी। चौथी और अत्यन्त आवश्यक बात यह बताई जाय कि जब कोई मनुष्य नित्यक्रिया से निवृत्त होने के निमित्त खेत में या किसी भाड़ी में जाय तो वह अपने साथ एक छोटी-सी खुर्पी ले जाय और पहले उससे एक गढ़ा खोदकर फिर उसमें मल-मूत्र त्याग करे और तत्पश्चात् उसे उसी खोदी हुई मिट्टी से ढाँप दे। ऐसा करने से वही लाभ होगा जो खाद को गढ़ा खोद कर उसमें रखने और ऊपर से मिट्टी से ढक देने से होता है, जैसा कि ऊपर कहा गया है। पाँचवीं बात मकान के समीप चारों ओर उद्यान लगाने की है। ऐसा करने से मकान सुन्दर और रमणीक जान पड़ेगा। वायु स्वच्छ रहेगी और स्वास्थ्य के लिए लाभदायक होगी। छठी बात पहनने और ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों को साफ़ रखना है। इसके लिए गरम पानी और साबुन का प्रयोग अधिक किया जाय। सातवीं बात यह है कि गहनों पर रुपया अधिक ख़र्च करना मूर्खता है। एक तो इनके चोरी हो जाने का भय रहता है, दूसरे जो रुपया गहनों पर ख़र्च किया जाता है उससे कोई आय नहीं होती। किन्तु गहनों के घिस जाने से रुपये में आठ आने ही का माल रह जाता है और यदि सुनार ने उसमें खोट मिला दी तो रुपये में चार आने भी नहीं मिलते। आठवीं बात लड़कियों की शिक्षा है। जैसे लड़कों को शिक्षा दी जाती है वैसे ही लड़कियों को भी शिक्षा देना आवश्यक है क्योंकि जब तक घर में शिक्षित माता न होगी तब तक बालकों की शिक्षा ठीक प्रकार से नहीं हो सकती। बहुत-से ग्रामों में ऐसे प्राइमरी स्कूल हैं जिनमें बालकों की संख्या कम है। ऐसे स्कूलों में लड़कियाँ लड़कों के साथ पढ़ सकती हैं और ऐसा करने से स्कूल के ख़र्च में कोई अधिकता न होगी। हमारी सम्मति में यदि ११ वर्ष की अवस्था तक लड़कियाँ लड़कों के साथ पढ़ें तो कोई हानि नहीं है। सरकारी नियम के अनुसार भी लड़कियाँ लड़कों के स्कूल में पढ़ सकती हैं और इस अवस्था तक वे कक्षा ४ भी पास कर लेंगी। ग्राम-सुधार में लड़कियों की शिक्षा को पूर्णरूप से उन्नति देना अत्यन्त आवश्यक है। नवीं बात यह है कि बालकों को स्वास्थ्य-रक्षा की शिक्षा भी दी जानी चाहिए। इस विषय में शरीर की बनावट, स्वास्थ्य के नियम, महामारी आदि से बचने के उपाय और साधारण रोगों की ओषधि भी सिखानी चाहिए। यदि अध्यापक ये नौ बातें ध्यान में रक्खेगा और धार्मिक शिक्षा (जिसका वर्णन इस पुस्तक के अन्तिम भाग में किया गया है) भी बालकों को

देगा तो वह ग्राम-जीवन को आनन्दमय जीवन बनाने में अवश्य सफल होगा और वर्नाक्यूलर स्कूलों की शिक्षा का उद्देश पूरा हो जायगा।

स्काउटिङ्ग—इसको हिन्दी में बालचर संस्था कहते हैं। कुछ अनपढ़ लोगों का और जो इस संस्था को नहीं जानते हैं उनका यह विचार है कि यह संस्था फ़ौजी अर्थात् सैनिक संस्था है। परन्तु यह उनका भ्रम है। इस संस्था का मुख्य उद्देश यह है कि बालकों को इस संस्था-द्वारा ऐसी शिक्षा दी जाय कि वे बड़े होकर सभ्य और योग्य नागरिक बन जायँ। बालचर संस्था के नियम, जो गिनती में दस हैं, इस प्रकार के हैं कि उनका पालन करने से बालक में इतनी योग्यता हो जाती है कि वह अपनी शक्तियों का पूर्णरूप से दूसरों के लिए प्रयोग कर सकता है। उसमें दूसरों के लिए सहानुभूति पैदा हो जाती है। उसको अपने ऊपर भरोसा करने की बान पड़ जाती है जिससे कठिनाइयों में वह नही घबराता। बालचर-संस्था मे प्रवेश होने के समय तीन प्रतिज्ञायें करनी पड़ती हैं। वे ये है (१) मै महेश, नरेश और देश के प्रति अपना कर्त्तव्य पालन करूँगा। (२) मैं बालचर-संस्था के नियमों का पालन करूँगा। (३) और प्रत्येक समय दूसरों की सहायता करूँगा। यह कितना उच्च आदर्श है। हमारा विचार यह है कि कोई जाति बड़ी कहलाने योग्य नहीं है जब तक कि उस जाति का प्रत्येक प्राणी यह कहने का अभिमान न रखता हो कि वह बाल्यावस्था में सच्चा बालचर रहा है। प्रत्येक अध्यापक को स्काउट-मास्टर होना चाहिए और उसे यह प्रयत्न करना चाहिए कि वह प्रत्येक बालक को जो उसके स्कूल में पढ़ता है स्कूल छोड़ने से पहले स्काउटिङ्ग की शिक्षा देकर सच्चा बालचर बना दे। इस संस्था को अधिकतर कक्षा ३ और ४ में चलाना चाहिए। इस बात की आवश्यकता नही है कि जब तक स्काउट् की वर्दी न बन जाये बच्चों को उसके सिद्धान्तों की शिक्षा न दी जाय। कुर्ता और धोती ही जो ग्रामों में सरलता से प्राप्त हो सकते हैं वर्दी का काम देंगे। आवश्यकता बालकों में संस्था के सच्चे भावों के पैदा करने की है। इस संस्था के साथ बच्चों को दस्तकारी अर्थात् शिल्पकला सिखाना आवश्यक है। ग्रामों में बहुत-से कार्य मनुष्य स्वयं ही कर लेते हैं; जैसे—रस्सी बटना, खाट बुनना, चटाई बुनना, पङ्खा बनाना। इनके साथ में निवाड़ आदि बुनना भी सिखाया जा सकता है। यदि बालकों की शिल्पकला की ओर रुचि हो जायगी और साथ ही साथ उद्यान के कार्य में भी उत्साह होगा तो वे बड़े होकर ग्रामों में बड़े सुखी रहेंगे और ग्राम-जीवन एक आदर्श जीवन हो जायगा। हमारे पास स्थान नहीं है कि बालचर-संस्था के विषय में विस्तारपूर्वक लिखें। इस विषय

की जो पुस्तकें हैं वे अध्यापक को पढ़नी चाहिए और अपने ज़िले के डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब के द्वारा संस्था को चलाने की आज्ञा ले लेनी चाहिए। प्रत्येक ज़िले में स्काउट-अध्यापकों को शिक्षा देने के लिए १० या १५ दिन की ट्रेनिङ्ग (शिक्षा) होती है। अध्यापक को चाहिए कि ऐसी ट्रेनिङ्ग से लाभ उठावे। स्काउटिङ्ग का वर्णन यहाँ इसलिए किया गया है कि उसकी उपयोगिता का ज्ञान अध्यापकों को हो जाय।

जूनियर-रेड-क्रास—यह संस्था कुछ थोड़े दिनों से चली है और बालकों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। 'जूनियर' का अर्थ 'छोटा', 'रेड' का अर्थ 'लाल' और 'क्रास' का अर्थ सलीब है जो इस शकल + का होता है। कुछ लोगों का यह भ्रम है कि चूँकि क्रास ईसाई-धर्म का चिह्न है इसलिए जूनियर रेड क्रास ईसाई-धर्म से सम्बन्ध रखता है। परन्तु यह भ्रम ही भ्रम है। यह रेड क्रास संस्था स्विटज़रलेंड में एक व्यक्ति ने युद्ध में आहत लोगों की सेवा-सुश्रूषा के लिए आरंभ की थी क्योंकि उसने देखा कि जो सिपाही लड़ाई में घायल हो जाते थे उनकी सेवा-शुश्रूषा का कोई उचित प्रबन्ध न था। उसमें काम करनेवालों के लिए उसने एक बैज (चिह्न) बनाया जो रेड-क्रास अर्थात् लाल सलीब था। इसी चिह्न के नाम से यह संस्था प्रसिद्ध हो गई। रेड क्रास संस्था वयप्राप्त आदमियों के लिए है किन्तु जूनियर रेड क्रास बालकों के लिए स्थापित की गई है। इसका मुख्य उद्देश्य यह है कि बालकों में स्वास्थ्य के नियमों को प्रतिदिन पालन करने की टेव पड़े और वे दूसरों को भी इस ओर आकर्षित करें और जब आवश्यकता हो तो दूसरों की सहायता करें। इस संस्था के सिद्धान्त बालचर-संस्था के स्वास्थ्य और सहायता-सम्बन्धी सिद्धांतों से मिलते-जुलते है। अध्यापक को चाहिए कि इस संस्था के प्रचलित करने में ज़िले के डिप्टी इन्स्पेक्टर साहब से सहायता ले। इस संस्था में रहनेवाले बालकों को एक दैनिक कार्य-क्रम बनाना चाहिए और प्रतिदिन की क्रियाओं को इस प्रकार लिखना चाहिए जैसा कि पृष्ठ १५ पर बताया गया है।

जूनियर रेड क्रास के विषय में बहुत कुछ ज्ञान अध्यापक को उस समाचारपत्र से मिल सकता है जिसका नाम 'जूनियर रेड क्रास सप्लीमेंट' है और जो हिन्दी में भी प्रकाशित होता है।

मिडिल स्कूलों का प्रबन्ध—जितनी बातें हमने प्रायमरी स्कूलों के प्रबन्ध के विषय में ऊपर लिखी है वे स्थिति के अनुसार घटा-बढ़ा कर मिडिल स्कूलों के प्रबन्ध के लिए भी उपयोगी होंगी।

पाठशाला के मकान का ख़ाका दिया गया है।* यह ख़ाका ऐसी पाठशाला का है जिसमें कक्षा ५, ६ और ७ का एक एक भाग हो और केवल एक ऐच्छिक विषय—अँगरेज़ी अथवा रूरल नालेज, कृषिविज्ञान अथवा मैन्युअल ट्रेनिङ्ग अर्थात् शिल्पकला या दस्तकारी—पढ़ाया जाता हो। यदि ड्राइङ्ग ही केवल ऐच्छिक विषय हो, जैसा कि प्रायः पहाड़ की पाठशालाओं में है, तो एक कमरा कम हो सकता है। यदि ऐच्छिक विषयों की संख्या अधिक हो तो दोनों ओर एक एक करके दो दो कमरे बढ़ाये जा सकते हैं। यदि प्रत्येक कक्षा में कई भाग (सेक्शन) हों तो भी ऐसा ही करना पड़ेगा।

मिडिल स्कूलों में खेल का मैदान पूरा होना चाहिए जिसमें छात्र हाकी, फुटवाल आदि खेल सकें। मिडिल स्कूलों में छात्रों से खेल का चन्दा भी —) मासिक तक प्रतिछात्र लिया जाता है। यदि अध्यापकगण चतुर हैं तो वे इस चन्दे का उपयोग इस प्रकार करते हैं कि छात्रों को उससे यथासम्भव अधिक लाभ हो। देहात में जो मिडिल स्कूल होते हैं उनमें छात्रालय भी होते हैं क्योंकि अन्य ग्रामों से जो छात्र पढ़ने आते हैं वे प्रतिदिन घर को लौटकर नहीं जा सकते। छात्रालय किसी एक अध्यापक की अध्यक्षता में होता है जो छात्रालय का सुपरिंटेंडेंट कहलाता है। प्रायः ये महाशय मुख्याध्यापक ही होते हैं। छात्रालय का उत्तरदायित्व एक बड़ा कार्य्य है और सुपरिंटेंडेंट को परिश्रम और ईमानदारी से कार्य्य करना चाहिए। यदि ऐसा न किया जाय तो रसोइए और कहार छात्रों को दुःख देने लगते हैं। प्रायः छात्र लोग अपने घर से आटा, दाल प्रतिसप्ताह ले आते हैं और निश्चित मात्रा में भोजनालय में दे देते हैं। नक़द दाम उनके पास बहुत कम होते हैं। जहाँ तक हो सके कम ख़र्च में उनको अधिक सुभीता और अच्छा पका हुआ भोजन देना चाहिए। भोजनालय में उन्हीं लोगों को खाने देना चाहिए जो उसके अधिकारी हैं। इधर-उधर के मनुष्यों को बिना मूल्य भोजन न करने देना चाहिए। ग्रामों में प्रायः सब्ज़ी अर्थात् भाजी का अभाव होता है परन्तु यदि उद्यान का कार्य्य अच्छी तरह से किया जाय तो थोड़े ही दैनिक परिश्रम से छात्रों को भाजी ख़ूब खाने को मिल सकती है। छात्रालय की सफ़ाई का कार्य्य बड़ा ही आवश्यकीय है। छात्रों को चाहिए कि कमरों को ख़ूब साफ़ और स्वच्छ रक्खें। उनमें प्रतिदिन प्रातः और सायं झाड़ लगानी चाहिए। छत में जाले वग़ैरह न रहने चाहिए। रात को सोते समय कमरों की

---

* चित्र १

खिड़कियाँ आदि खुली रहनी चाहिए। बिछौने मैले न रहने चाहिए। ऊपर चादर और तकिया, गिलाफ़ और ओढ़ने का कपड़ा तो बहुत ही स्वच्छ रहना चाहिए। छात्रालय ही से छात्रों को स्वास्थ्यकारी जीवन व्यतीत करने की टेव पड़नी चाहिए। छात्रों को अपने कमरों की सफ़ाई के साथ साथ उन्हें सुरुचिपूर्ण ढंग से सजाने को भी उत्साहित करना उचित है। सुपरिंटेंडेंट का यह भी कर्तव्य है कि वह देखे कि छात्र अनुपयोगी और हानिकारक पुस्तकें—जैसे टीकायें, हानिकारक उपन्यास, आपत्ति-जनक पुस्तकें—तो अपने पास छात्रालय में नहीं रखते और न उन्हें पढ़ते हैं। सुपरिंटेंडेंट को छात्रों से ऐसी ही सहानुभूति होनी चाहिए जैसी उसको अपने बच्चों से होती है और उसको उनकी भलाई के लिए ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जैसा वह अपने बालकों के लिए करता है। यह अत्यन्त आवश्यक है कि छात्रालय में आवश्यक दवाइयों का एक बक्स रहे क्योंकि ग्राम की पाठशालाओं में डाक्टरों का सुगमता से मिलना कठिन है। कुनेन, त्रिफला, हड़, टिंक्चर आयोडीन और इसी प्रकार की और थोड़ी-सी दवाइयाँ सदा प्रस्तुत रहनी चाहिए जिनकी सूची ग्राम-सुधार के महकमे से मिल सकती है। पानी को साफ़ करनेवाली लाल दवा (परमैंगेनेट आफ़ पोटाश) और इसन्शल ऑयल (विषूचिका की औषधि) भी अत्यन्त आवश्यक हैं। सुपरिंटेंडेंट का यह भी धर्म है कि वह छात्रों के आचरण को भी सुधारता रहे और भली भाँति उनकी देख-रेख रखे। छात्रालय में रहनेवालों के लिए समय-विभाग-चक्र का रहना आवश्यक है जिसमें प्रातःकाल उठने, नहाने, पढ़ने, भोजन करने, खेलने और सोने के समय नियत हों।

मिडिल स्कूलों की पाठन-सामग्री प्राइमरी स्कूलों की पाठन-सामग्री से कई बातों में भिन्न होगी। पाठशाला मे सब महाद्वीपों और भूमण्डल के नक़्शे अच्छी दशा में रहने चाहिए। पुस्तकालय भी होना चाहिए जिसमें अध्यापकों और छात्रों की ज्ञान-वृद्धि करनेवाली पुस्तकें हों। अँगरेज़ी पढ़नेवालों के लिए स्टूल और डेस्क होने चाहिए और सम्भव हो तो अन्य कक्षाओं के लिए भी फ़र्शी डेस्क होने चाहिए जैसा पीछे बतलाया गया है। एक भूगोल (गोला) भी, जिसको अँगरेज़ी में ग्लोब कहते हैं, होना चाहिए और बहुत-से ऐसे यन्त्र, जो प्राकृतिक भूगोल पढ़ाने में सहायता दें, अध्यापक को स्वयं छात्रों की सहायता से बना लेने चाहिए। इसी प्रकार इतिहास पढ़ाने के लिए ऐतिहासिक नक़्शे बनाने चाहिए। और ऐतिहासिक व्यक्तियों के चित्र प्राप्त करने चाहिए मासिक-पत्रों और अन्य समाचारपत्रों में समय-समय पर उपयोगी चित्र निकलते रहते

हैं। उनको संग्रह करके रख लिया जा सकता है। उनका उपयोग भूगोल, इतिहास, साहित्य आदि के पाठों में बड़ा लाभदायक होगा। प्राइमरी स्कूलों की पाठ्य-सामग्री-सूची में, जो पृष्ठ ७ पर दी गई है, मिडिल स्कूलों की आवश्यकतानुसार परिवर्त्तन करके सामग्री को जुटा लेना चाहिए।

जैसा प्राइमरी स्कूलों में छात्रों के प्रवेश के विषय में लिखा गया है वैसा ही मिडिल स्कूलों के लिए भी आवश्यक है। प्रवेश वर्ष के आरम्भ अर्थात् जुलाई ही में होना चाहिए। और जो बालक जान-बूझ कर देर में आवें उन्हें भर्ती न करना चाहिए। जो छात्र कक्षा ५ के योग्य न हों उन्हें भर्ती न करना चाहिए। क्योंकि कभी कभी प्राइमरी पाठशालाओं के अध्यापक दबाव में आकर या और किसी कारण से अयोग्य बालकों को भी कक्षा ४ का सार्टिफ़िकेट दे देते हैं।

मिडिल स्कूलों में भी छात्रों की उपस्थिति और बैठक का वैसा ही ध्यान रक्खा जाय जैसा प्राइमरी स्कूलों के विषय में लिखा गया है। यहाँ भी स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों का उसी प्रकार ध्यान रक्खा जाय। मिडिल स्कूलों में छात्र प्राइमरी स्कूलों के छात्रों से बड़े और अधिक समझदार होते हैं। इसलिए उनको मैकैंज़ी स्कूल कोर्स की शिक्षा स्वास्थ्य-रक्षा, प्राथमिक सहायता और स्वास्थ्य-सम्बन्धी स्वच्छता के विषयों में देनी चाहिए। उसके लिए पुस्तकें और नक़्शे और चित्र छपे हुए नियत हैं। उनकी सहायता से विषय को पढ़ाना चाहिए और चोट आदि लग जाने पर कैसे प्राथमिक सहायता दी जाती है और पट्टी आदि किस प्रकार बाँधी जाती है सिखाना चाहिए।

मिडिल स्कूलों में छात्र हॉकी, फुटबॉल, क्रिकेट, वॉलीबॉल खेलते हैं। कबड्डी भी अच्छा खेल है जो बिना किसी व्यय के खेला जा सकता है। चूँकि इन स्कूलों में छात्र बड़ी अवस्था के होते हैं इसलिए उन्हें कुश्ती, पटाबाज़ी, लेज़म आदि में भी अभ्यास कराया जा सकता है। मिडिल स्कूलों में खेल और दौड़, कूद आदि के टूर्नामेंट भी होते हैं जिससे बालकों का खेलों में उत्साह बढ़ता है। सम्भव हो तो ज़िले के मिडिल स्कूलों का एक टूर्नामेंट होना चाहिए जिसमें सब मिडिल स्कूलों के छात्र सम्मिलित किये जायँ। ऐसा करने से खेल-कूद में बालकों का उत्साह बढ़ेगा और उनके स्वास्थ्य को बड़ा लाभ होगा।

मिडिल स्कूलों के अध्यापकों को इस बात की विशेष आवश्यकता है कि वह उन पाठों को जो उन्हें कक्षा में पढ़ाने हैं विशेष रूप से तैयार कर लें और यह तैयारी कक्षा में जाने से पहले पूरी हो जानी चाहिए। चूँकि मिडिल स्कूलों के छात्र बड़े और समझदार होते हैं इसलिए उन्हें भी पाठों की तैयारी करनी

चाहिए। ऐसा करने से एक तो उनको स्वतन्त्र रूप से कार्य्य करने की टेव पड़ेगी और दूसरे जो कक्षा में पढ़ाया जायगा उसके समझने और याद करने में सुविधा होगी। पाठों की तैयारी के विषय में जो कुछ प्राइमरी स्कूलों के सम्बन्ध में लिखा गया है वह मिडिल स्कूलों के अध्यापकों के लिए भी अत्यन्त लाभदायक होगा।

हम ऊपर लिख आये हैं कि स्कूलों के सम्बन्ध में उद्यानों का कार्य्य कितना आवश्यक है। मिडिल स्कूलों में इसकी अधिक आवश्यकता है क्योंकि छात्रों के लिए छात्रालय में सब्ज़ी की आवश्यकता होती है। यहाँ छात्र बड़ी अवस्था के होने के कारण उद्यान का कार्य्य बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं और इस अनुभव के कारण वर्नाक्युलर फ़ाइनल परीक्षा पास करने के पश्चात् अपने घर की खेती और शाक-भाजी तथा फूलों के पैदा करने में अधिक रुचि और तत्परता दिखलावेंगे जिससे उन्हें अत्यन्त लाभ होगा।

ग्राम-सुधार के कार्य में जितनी सहायता मिडिल स्कूलों के छात्रों से मिल सकती है उतनी छोटे बच्चों से मिलनी कठिन है। बड़े होने पर ग्राम-सुधार के वे ही अग्रगण्य हो सकते हैं और उन्हीं के द्वारा ग्रामजीवन का सुधार होगा। इसलिए मिडिल स्कूलों के अध्यापकों को इस विषय में अत्यन्त प्रयत्न करना चाहिए। ऐसा करने से उनको अपने कार्य में बड़ी सफलता होगी। छात्रों से पहले अपने अपने घरों का सुधार कराया जाय और फिर उनका ध्यान और ग्रामवासियों की दशा की ओर आकर्षित किया जाय क्योंकि मनुष्यों पर शिक्षा की अपेक्षा व्यावहारिक आदर्श का प्रभाव अधिक पड़ता है।

स्काउटिङ्ग और जूनियर रेड क्रास ये दोनों संस्थायें मिडिल स्कूलों के लिए बहुत ही उपयोगी हैं। इन्हें प्रत्येक मिडिल स्कूल में अवश्य स्थापित करना चाहिए।

मिडिल स्कूलों के प्रबन्ध में उतनी कठनाई नहीं होती जितनी कि प्राइमरी पाठशालाओं के प्रबन्ध में होती है क्योंकि प्रत्येक कक्षा के लिए एक अध्यापक होता है और ऐच्छिक विषयों के लिए भी पृथक् अध्यापक होते हैं। समय-विभाग-चक्र में इस बात का ध्यान रक्खा जाय कि कठिन विषय पाठशाला के समय के आरंभ में और सरल अन्त में होने चाहिए। प्रत्येक संख्या के कार्य के लिए भी समय-विभाग में स्थान होना चाहिए। पढ़ाई और परीक्षाओं के विषय में प्राइमरी स्कूलों के प्रबन्ध और परीक्षा के सम्बन्ध में जो कुछ लिखा है

वह पर्याप्त है। उस पर आचरण करने से शासन अच्छा होगा और परीक्षाओं से पूरा लाभ होगा।

अध्यापकों की कठिनाइयाँ और उनके परिहार—वर्नाक्युलर शिक्षा का उत्तरदायित्व शिक्षा विभाग पर उतना नहीं है जितना कि ज़िला बोर्डों पर। परंतु बोर्डों की आर्थिक दशा अच्छी नहीं है जिसके कारण पाठशालाओं के मकान, उनका सामान और पढ़ाने की सामग्री का बहुत स्थानों में अच्छा प्रबन्ध नहीं है। बहुत-सी पाठशालाओं की चिरकाल तक मरम्मत नहीं होती है। छत टपकती है और वर्षा में छात्रों और अध्यापकों को बड़ा कष्ट होता है। एक स्थान में पाठशाला की छत ऐसी बोदी थी कि रात्रि के समय में वर्षा के कारण गिर पड़ी। सौभाग्यवश समय रात्रि का था। छात्रों के पढ़ने का समय नहीं था, नहीं तो प्राणहानि होने की भी सम्भावना थी। ऐसी दशा में अध्यापक को क्या करना चाहिए? प्रथम तो उसे डिप्टी इन्सपेक्टर और चेयरमैन शिक्षा-कमेटी से यह प्रार्थना करनी चाहिए कि पाठशाला की मरम्मत शीघ्र करा दी जाय। यदि यह सम्भव न हो तो अपने छात्रों और ग्रामवासियों की सहायता से स्वयं पाठशाला की मरम्मत कर लेनी चाहिए। कई अध्यापक जो अपने कार्य में दक्ष हैं ऐसा करते देखे गये हैं। सामान के टूट जाने पर या उसके अभाव में भी ऐसा ही करना चाहिए। बहुत-सा पढ़ाने का सामान अध्यापक छात्रों की सहायता से स्वयं बना सकता है जैसे—नक़शे, मॉडल, कार्डबोर्ड की वस्तुएँ। कहीं कहीं बालकों के लिए बैठने की चटाइयाँ तक अध्यापक छात्रों की सहायता से पाठशाला के लिए बना और बनवा लेते हैं। ऐसा भी देखने में आया है कि अध्यापक को पाठ्य पुस्तकें तक नहीं दी जाती हैं जिसके कारण वह पाठों के तैयारी करने में समर्थ नहीं होता। इसका उपाय भी यही है कि अध्यापक किसी न किसी प्रकार पाठ्य पुस्तकें स्वयं प्राप्त कर ले।

एक दूसरी कठिनाई जो अध्यापक को होती है वह यह है कि कुछ छात्र या तो निर्धनता के कारण या संरक्षक की लापरवाही के कारण पढ़ने की पुस्तकें, लिखने की कापियाँ, तख़्तियाँ, क़लम, दावात नहीं लाते जिसके कारण उनकी पढ़ाई ठीक नहीं होती। अध्यापक को चाहिए कि बालकों के संरक्षकों से मिल कर सामान का प्रबन्ध करा ले और निर्धन बालकों के लिए धनाढ्य संरक्षकों से सहायता ले क्योंकि जब तक अध्यापक और छात्रों के पास सामान ठीक न होगा तब तक पढ़ाई भी ठीक न होगी।

कभी अध्यापक अपने ही ग्राम की पाठशाला में नियुक्त हो जाते हैं। इसको उन्हें एक प्रकार से अपनो सौभाग्य समझना चाहिए क्योंकि ईश्वर ने उन्हें अपने ही ग्राम की सेवा करने का अवसर दे दिया है। ऐसे समय में उन्हें तन-मन और सम्भव हो तो धन से भी पाठशाला की सेवा करनी चाहिए। परन्तु प्रायः देखा गया है कि जन्मस्थान मे पहुँचकर अध्यापक आलसी बन जाते हैं। अपने निज के कार्य में पाठशाला का समय व्यतीत करते हैं और छात्रों से भी अपने घर के कार्यों (जैसे लकड़ी चीरना, पानी भरना, बर्तन साफ़ कराना आदि) में सहायता लेते हैं। ऐसा उनको कदापि न करना चाहिए। जो अध्यापक पाठशाला के समीप के ग्रामों में रहते हैं वे प्रायः नियत समय पर पाठशाला में नहीं आते। उपस्थिति की पुस्तक में बालकों की उपस्थिति उनकी अनुपस्थिति में भी दिखा देते हैं। ऐसे अध्यापक अपने छात्रों को अपने कार्यो-द्वारा और बिना कुछ कहे ही झूठ बोलना, चोरी करना सिखाते हैं। शिक्षा-विभाग के नियमों में लिखा है कि जहाँ तक हो सके अध्यापक को उसके घर के निकटवर्ती पाठशाला ही में रक्खा जाय। इसका उद्देश्य यही है कि अध्यापक छात्रों के संरक्षकों से परिचित होने के कारण उन पर अपना प्रभाव अच्छा डाल सके और पाठशाला के कार्यो में उन्नति कर सके और साथ ही साथ उसे भी घर के समीप रहने से सुख मिले और उसका व्यय भी कम हो।

कभी कभी अध्यापकों को यह कठिनाई होती है कि वे करिक्यूलम (पाठ्य-विषय-सूची) और नियमों से अनभिज्ञ होने के कारण बहुत-सी अशुद्धियाँ कर बैठते हैं जिसका उन्हें उत्तर देना पड़ता है। अध्यापकों को चाहिए कि करिक्यूलम और नियमों को ध्यान से समय समय पर पढ़ते रहें और उनके अनुसार कार्य करते रहें। रजिस्टर आदि को ठीक भरें और स्वच्छ रक्खें।

अध्यापकों के लिए कुछ उपयोगी बातें—हम पहले ही लिख आये हैं कि ग्राम-जीवन में अध्यापक का बड़ा महत्त्व है। यदि वह पाठशाला को स्थापित कर दे या उसे स्थायी रक्खे तो वह ग्राम का बड़ा उपकार करेगा। उसे प्रत्येक छात्र के स्वभाव से परिचित होना चाहिए और यह ज्ञात कर लेना चाहिए कि किस बालक से किस प्रकार काम लेना लाभदयाक है। इसी प्रकार उसे छात्रों के संरक्षकों से भी परिचित हो जाना चाहिए। यह याद रहे कि प्रत्येक संरक्षक अपने बालक का भला चाहता है और यदि उसे यह विश्वास हो जाय कि

अध्यापक से बढ़कर मेरे बालक का और कोई हितेच्छु और शुभचिन्तक नहीं है तो वह अध्यापक की बात को अवश्य मानेगा। अध्यापकों को चाहिए कि संरक्षकों की मासिक, त्रैमासिक, पाण्मासिक और वार्षिक सभायें किया करें। इन सभाओं में उनको चाहिए कि बालकों की उन्नति के बारे में संरक्षकों से बातचीत करें। बालकों से कंठाग्र सुनवायें, उनकी दस्तकारी की प्रदर्शनी करायें और उनके खेल-कूद भी करायें। इन्हीं सभाओं में अध्यापकों को चाहिए कि संरक्षकों को ग्राम-सुधार, स्वास्थ्य-रक्षा, स्त्री-शिक्षा, समाज-सुधार आदि के विषय में शिक्षा दें। समाचार-पत्रों को पढ़कर उनको नये क़ानून, नये आविष्कार और नई नई बातों की सूचना दें और जिस प्रकार हो सके उनको सुख और शान्ति के साथ जीवन का निर्वाह करना सिखावें। ऐसा करने से उनका ग्राम में, ज़िला बोर्ड में और और शिक्षा-विभाग में बड़ा सम्मान होगा और उनकी उपयोगिता बढ़ जायगी। परन्तु इस प्रकार उपयोगी बातों के लिए अध्यापक को चाहिए कि वह अपने ज्ञान की वृद्धि करता रहे, पुस्तकें पढ़ता रहे, समाचार-पत्र पढ़ता रहे। दस्तकारी, उद्यान, स्काउटिंग आदि के कार्य्य में भाग लेता रहे। यह बात उसके लिए अत्यन्त ही आवश्यक है। इसके साथ ही अध्यापक को अपने स्वास्थ्य का भी ध्यान रखना चाहिए। अधिक चिल्लाने से गले और फेफड़ों को हानि पहुँचती है। उसे अपनी आँखों का भी विशेष ख़्याल रखना चाहिए।

पुस्तकालय—कहीं कहीं सरकार की सहायता से डिस्ट्रिक्ट बोर्ड ने पुस्तकालय भी खोल रखे हैं। वे बहुधा मिडिल स्कूलों में होते हैं। आस पास के अध्यापकों को इन पुस्तकालयों से लाभ उठाना चाहिए और शिक्षित जनता को भी पुस्तक पढ़ने के लिए उत्साहित करना चाहिए। मिडिल स्कूल के पुराने विद्यार्थियों और प्राइमरी पास लोगों से पुस्तक पढ़ने का विशेष अनुरोध किया जाय जिससे वे स्कूल में प्राप्त शिक्षा को भुला न दें। पुस्तकों का चुनाव बहुत सोच समझ कर करना चाहिए। इस विषय में डिप्टी इन्स्पेक्टर की सहायता आवश्यक है। पुस्तक देने और लौटाने का लेखा रखने के लिए एक रजिस्टर रखा जाय जिसमें इनका तिथिवार ब्योरा रखा जाय। पुस्तकालय में एक दो मासिक और समाचार-पत्र भी मँगाये जायँ जो जनता का हाल सुभीते के साथ लिख सकें।

अंतिम कथन—अब हम प्राइमरी और मिडिल स्कूलों के प्रबन्ध के विषय को समाप्त करते हैं और आशा करते हैं कि जो कुछ पिछले पृष्ठों में लिखा गया है उसको पढ़कर अध्यापकगण लाभ उठावेंगे। हमने प्रायः उन

प्राइमरी और मिडिल स्कूलों के विषय में लिखा है जो ग्रामों में स्थित हैं। परन्तु इनके अतिरिक्त बहुत-से वर्नाक्यूलर स्कूल शहरों और म्युनिसिपैलिटियों की सीमा के भीतर हैं। उनके लिए भी ये सब बातें उनकी स्थिति के अनुसार थोड़ी-बहुत परिवर्तन कर लेने पर लाभदायक और उपयोगी प्रमाणित होंगी। हमारा यह पूर्ण विश्वास है कि देश का उद्धार मुख्य रूप से देश के अध्यापकों की कर्तव्यशीलता, व्यवहारकुशलता और दक्षता पर ही निर्भर है। हम ईश्वर से यही प्रार्थना करते हैं कि वह अध्यापकों को अपने कर्तव्य-पालन की योग्यता, इच्छा और शक्ति प्रदान करे।

द्वितीय अध्याय

कक्षा का प्रबन्ध और कक्षा की शिक्षण-प्रणाली

यह बात सर्वसम्मत है कि शिक्षण एक कला है। इसलिए प्रत्येक अध्यापक को अपनी कला को भली भाँति जानना चाहिए। शिक्षाशास्त्र का ठीक ठीक अध्ययन करने के अभिप्राय से इस विषय को कई भागों में बाँट दिया गया है, जैसे मनोविज्ञान, पाठशाला का प्रबन्ध, शिक्षण-प्रणाली, स्वास्थ्यविज्ञान और कक्षाशिक्षण के सिद्धांत इत्यादि।

अध्यापक को इनमें से प्रत्येक भाग का अच्छा ज्ञान होना चाहिए। इस अध्याय में उन सिद्धांतों पर विचार किया जायगा जो कक्षा में छात्रों को पढ़ाने के लिए आवश्यक हैं।

पाठ की तैयारी—पहली बात जो सबसे अधिक आवश्यक है वह पाठ की तैयारी है। पाठ तैयार करते समय अध्यापक को छात्रों की योग्यता का ज्ञान होना चाहिए। पाठ को बच्चों के दृष्टिकोण से देखना आवश्यक है। बहुधा ऐसा देखा गया है कि कुछ बातें जो अध्यापक सरल समझकर छोड़ देता है छात्रों के लिए कठिन हो जाती हैं और पाठ में उन्हें सफलता प्राप्त नहीं होती। यदि एक ही पाठ को एक से अधिक बार (उन्हीं छात्रों को या भिन्न भिन्न छात्रों को) पढ़ाना पड़े तो भी प्रत्येक अवसर पर अध्यापक को पाठ की तैयारी करनी चाहिए प्रत्येक बार पाठ के पढ़ाने पर उसको कुछ न कुछ नया अनुभव होगा—कुछ नई और अचिन्त्य समस्यायें उपस्थित होंगी, छात्र कुछ नई बातें पूछेंगे। इन सब बातों के लिए अध्यापक को तैयार रहना चाहिए। अच्छे अध्यापक इन बातों पर पूरा ध्यान देते हैं और अपने पाठ को रोचक तथा लाभदायक बना देते हैं।

योग्य अध्यापक पाठ पढ़ाने के लिए तात्कालिक सूझ पर निर्भर रहना उचित नहीं समझते। अच्छे प्रश्न करने, चित्र दिखाने अथवा और भिन्न भिन्न प्रकार के उदाहरणों का प्रयोग करने के लिए पहले से तैयार रहना चाहिए।

इसका तात्पर्य यह नहीं है कि यदि कोई बात पढ़ाते समय सूझ जाय तो उसका प्रयोग ही न किया जाय। कभी कभी तो ऐसा होता है कि पाठ पढ़ाते समय ही कोई अच्छी बात सूझ जाती है। अध्यापक को चाहिए कि ऐसी बातों को प्रयोग में लाकर उनको स्मरण रक्खे जिससे फिर काम पड़ने पर वह उनका प्रयोग कर सके।

अब हम उन बातों पर विचार करेंगे जो पाठ को सफल बनाने के लिए आवश्यक हैं।

विषय का पूर्ण ज्ञान—अध्यापक को अपने विषय का पूर्ण ज्ञान होना चाहिए। बच्चों की कठिनाइयों को प्रत्येक दृष्टिकोण से सुलझाने की योग्यता होनी चाहिए। उसे पाठ को बच्चों के दृष्टिकोण से देखकर और उनकी कठिनाइयों का ध्यान रखकर यह देखना चाहिए कि दिये हुए समय में वह कितना पाठ अच्छी तरह पढ़ा सकता है।

पाठ-क्रम—अध्यापक को अपने पाठ के विषय को पहले से क्रमबद्ध करना बहुत आवश्यक है। पाठ पढ़ाने के समय किस वस्तु का प्रयोग किस स्थान पर और किस अवस्था में करना पड़ेगा—इसका अनुमान पहले से होना चाहिए। अनावश्यक बातें पाठ में न आनी चाहिए। पाठ इस क्रम से चले कि छात्रों की रुचि पाठ के अन्त तक बनी रहे और उनमें केवल जिज्ञासा ही न उत्पन्न हो किन्तु उनमें अनुसन्धान करने की शक्ति भी बढ़े।

पाठ-संकेत—इस कार्य को सफलतापूर्वक करने के लिए अध्यापक को पाठ-संकेत तैयार कर लेने चाहिए। ऐसा करने से अध्यापक पाठ को पहले से अच्छी तरह समझ सकेगा और छात्रों की शंकाओं का समाधान कर सकेगा। उसको यह भी विदित हो जायगा कि पाठ की कौन कौन-सी कठिनाइयों को कितना कितना समय देना उचित है और संकेतों की तैयारी करने के कारण पाठ का कोई आवश्यक भाग भी नहीं छूटेगा।

संकेतों का रूप—संकेत कई प्रकार से तैयार किये जाते हैं। बहुधा पृष्ठ को बीच से दो खड़े कोष्ठों में बाँट दिया जाता है। विषय क्रमशः बाईं ओर लिखा जाता है और पाठन-विधि दाहिनी ओर। पाठन-विधि में अध्यापक जो कुछ करना चाहता है उसका संकेत देता है—जैसे प्रश्न पूछना, चित्र का दिखाना, छात्रों से कुछ काम कराना इत्यादि।

कभी कभी पृष्ठ को तीन कोष्ठों में विभक्त कर दिया जाता है। पहले में संकेत, दूसरे में व्याख्या और तीसरे में वह कार्य जो श्यामपट पर करने को है दिखलाया जाता है।

एक रीति और है जो बहुत प्रचलित है। यह जर्मनी के एक बड़े शिक्षा-शास्त्रज्ञ हरबर्ट की चलाई हुई जो हरबर्ट के शिक्षण-विधि-संबंधी पञ्च सोपान के नाम से प्रसिद्ध है। योरप और हमारे देश के अध्यापकों पर इस प्रणाली का बहुत प्रभाव पड़ा है और प्रत्येक विषय के प्रत्येक पाठ को इस प्रणाली से पढ़ाने का पयत्न किया गया है। सोपान इस प्रकार हैं—

(१) तैयारी।
(२) विश्लेषण।
(३) तुलना तथा भावनिष्कर्षण।
(४) विस्तार।
(५) प्रयोग।

तैयारी—यह सोपान बालकों का ध्यान नये पाठ की ओर आकर्षित करने और उन बातों का स्मरण कराने के लिए है जिनकी नये पाठ में आवश्यकता पड़ेगी। अध्यापक को पता चल जाता है कि छात्रों को पिछली बातें कहाँ तक स्मरण हैं। नये पाठ पढ़ने का अभिप्राय छात्रों को मालूम हो जाता है और उसके लिए उत्सुकता उत्पन्न हो जाती है। यह कार्य बहुधा प्रश्नों-द्वारा किया जाता है। इसमें बहुत समय न लगाना चाहिए। इसके लिए पाँच या सात मिनट पर्याप्त होने चाहिए।

विश्लेषण—इस प्रकार छात्रों को तैयार करके नया पाठ आरम्भ किया जाता है। जो कुछ नई बात पढ़ानी है क्रमशः छात्रों के सम्मुख उपस्थित की जाती है और प्रश्न, उदाहरणों, प्रयोगों तथा व्याख्या-द्वारा नई बातें सिखाने का प्रयत्न किया जाता है। इस कार्य में सबसे अधिक समय दिया जाता है अर्थात् लगभग तीस-पैंतीस मिनट लगाये जाते हैं।

तुलना, भावनिष्कर्षण तथा विस्तार—बहुधा ये दोनों सोपान एक दूसरे में मिल जाते हैं। जो कुछ नई बात सिखलाई गई है उसमें से आवश्यकतानुसार छान-बीन करके सूक्ष्म सिद्धांत निकालने चाहिए। जब छात्र किसी सिद्धांत को समझ लें या प्रयोग का परिणाम निकाल लें तो समझना चाहिए कि अध्यापक का कार्य सफलतापूर्वक हो गया।

प्रयोग—जो कुछ ज्ञान छात्रों ने प्राप्त किया है उसका प्रयोग करने की शक्ति उनमें होनी चाहिए। यदि वे ऐसा नहीं कर सकते तो पाठ का पढ़ाना व्यर्थ हो गया। इसलिए पाठ के अन्त में छात्रों को नये पाठ के आधार पर कुछ प्रश्न अवश्य देने चाहिए। इस सोपान का यही अभिप्राय है।

ऊपर लिखी हुई प्रणाली बहुत अच्छी मानी जाती है परन्तु इसके अनुसार साहित्य, सङ्गीत, ड्राइङ्ग, निबन्ध-रचना, कहानियाँ तथा इतिहास भली भाँति नहीं पढ़ाये जा सकते। यह प्रणाली गणित, रसायन-शास्त्र, और भूगोल पढ़ाने के लिए बहुत उपयुक्त है।

संकेत न बहुत बड़े होने चाहिए और न बहुत छोटे। उनमें सब मुख्य मुख्य और आवश्यक बातें आ जानी चाहिए। संकेत चाहे जैसे तैयार किये जायँ, अध्यापक को मशीन की तरह आँख बन्द करके किसी भी प्रणाली का अनुसरण नहीं करना चाहिए। प्रत्येक विषय को उचित प्रणाली के अनुसार पढ़ाने से सफलता प्राप्त होगी। अध्यापक को अपनी मौलिकता और अनुभवों का प्रयोग सर्वदा करते रहना चाहिए जिससे पाठ में सजीवता और मनोरञ्जकता बनी रहे। किसी पाठ के पढ़ाने में प्रश्नों की, किसी में उदाहरणों की, किसी में व्याख्याओं की और किसी में वर्णन की आवश्यकता पड़ती है। इसलिए अब हम इनकी ओर ध्यान देते हैं।

प्रश्न—प्रश्न पाठ के हर एक भाग में पूछे जाते हैं। प्रश्न करने के कई उद्देश्य हैं। पाठ के आरम्भ में बालकों का ध्यान आकर्षित करने के लिए या नये पाठ के लिए तैयार हो जाने के लिए या पुराने पाठ की आवृत्ति करने के लिए प्रश्न पूछे जाते हैं। प्रश्नों से यह पता चल जाता है कि छात्र नये पाठ को ग्रहण करने के लिए कहाँ तक तैयार है। अध्यापक जितनी पूर्णता से अपने छात्रों की योग्यता जानता है उतना ही अधिक उसको आरम्भिक प्रश्नों के बनाने में सहायता मिलती है।

पाठ के मध्य में जब कि छात्रों को नवीन विषय पढ़ाया जा रहा हो अध्यापक को चाहिए कि अपनी व्याख्या तथा वर्णन के बीच-बीच में प्रश्न करता जाय जिससे उसको मालूम होता जाय कि छात्र उसकी बातों को कहाँ तक समझते जाते हैं। ऐसा करने से व्याख्या इत्यादि बहुत दीर्घ और नीरस नहीं हो जाती और छात्रों को भी अपनी कठिनाई दूर करने का तत्काल ही अवसर मिल जाता है। अध्यापक को भी यह मालूम हो जाता है कि उसके छात्र पाठ की ओर ध्यान दे रहे हैं या नहीं। प्रकृति-निरीक्षण, विज्ञान तथा गणित में ऐसे प्रश्न पूछे

जाते है जिनकी सहायता से छात्र अपने आप प्रश्न को हल करने या नई बात को खोज निकालने का प्रयत्न करते है।

पाठ के अन्त मे जो कुछ छात्र पढ चुके है उसके सक्षेप करने, अपने आप सर्वव्यापी नियम निकालने अथवा पाठ की आवृत्ति करने के अभिप्राय से प्रश्न पूछे जाते हैं।

छात्रों से कुछ बातें कण्ठस्थ कराने के लिए प्रश्न पूछे जाते है। ऐसे प्रश्न बहुधा पाठ के आरम्भ या अन्त में पूछे जाते है। इसका तात्पर्य यह नही है कि ऐसे प्रश्न पाठ के मध्य में कभी न किये जायँ।

प्रश्न बनाने की कुछ रीतियाँ—प्रश्नों के बनाने में बहुत ध्यान और सतर्कता की आवश्यकता होती है।

प्रश्न ऐसे होने चाहिए कि छात्र ठीक-ठीक समझ सकें कि उनसे क्या और कितना पूछा गया है। कक्षा में बालकों से प्रश्न करने पर अध्यापक को अनुभव होगा कि कुछ लडके ठीक उत्तर देते है, शेष नही दे पाते और अध्यापक को या तो प्रश्न दोहराना पड़ता है या उसका रूप बदलना पडता है। कभी-कभी उसे छात्रों को कुछ बाते बतलानी पडती है जिनसे उन्हें यह ज्ञात हो जाय कि प्रश्न से उसका क्या अभिप्राय है। इस प्रकार की गडबडी के दो कारण हो सकते हैं। या तो प्रश्न छात्रों के योग्य नहीं हैं या वे उचित ढङ्ग से पूछे नहीं गये है। अध्यापक को इस बात का भी अनुभव होगा कि प्रश्न पूछना इतना सुगम और सरल कार्य नहीं है जितना कि कदाचित् वह समझता रहा है।

प्रश्न की भाषा सीधी, सरल, शुद्ध और बालकों की योग्यता के अनुसार होनी चाहिए। कठिन अथवा पेंचदार भाषा का प्रयोग करने से छात्र घबड़ा जाते हैं।

प्रश्न की भाषा इतनी स्पष्ट हो कि बालको को उसका अर्थ समझने में कठिनाई न पड़े। यदि प्रश्न के कई उत्तर सम्भव हुए तो वे दुबिधा में पड़ जायँगे कि प्रश्न का कौन-सा उत्तर दिया जाय। प्रश्न रोचक होने चाहिए जिससे छात्र पाठ की ओर आकर्षित रहें और इधर-उधर की न हाँकने लगें। जिन प्रश्नों का उत्तर केवल "हाँ" या "नहीं" हो वे बिना किसी विशेष प्रयोजन के न पूछने चाहिए क्योंकि छात्रों में प्रायः बिना सोचे समझे 'हाँ' या 'नहीं' कह देने की प्रवृत्ति होती है।

किसी बात को पूर्ण करनेवाले या स्वयं उत्तर बतानेवाले प्रश्न न पूछने चाहिए क्योंकि उनसे छात्रों को स्वतन्त्रतापूर्वक खोजकर उत्तर निकालने का

अवसर नहीं मिलता। प्रश्न बिलकुल कलवत् न होने चाहिए। ऐसे प्रश्नों का उत्तर देने में मस्तिष्क को कुछ प्रयास नहीं करना पड़ता। प्रश्नों का क्रम ठीक-ठीक होना चाहिए।

कक्षा में प्रश्न करते समय भी सावधानी की आवश्यकता है और साथ ही साथ कुछ विधि का भी ध्यान रखना चाहिए।

पहला साधारण नियम यह है कि प्रश्न को शुद्ध स्वर में और सावधानी के साथ धीरे-धीरे पूरी कक्षा को सम्बोधन करके कहा जाय। किसी एक छात्र-विशेष से प्रश्न न करना चाहिए। तदुपरान्त छात्रों को प्रश्न का उत्तर सोचने के लिए कुछ समय देना चाहिए। जब छात्रों को सोचने के लिए पर्याप्त समय मिल जाय तब अध्यापक किसी एक से उत्तर पूछे। यदि ठीक उत्तर मिल जाय तो उसको 'ठीक है' कहकर मान लेना चाहिए। यदि उसमें कुछ त्रुटि है तो अपने आप एकदम ठीक करने के बदले उसी या किसी दूसरे छात्र से उत्तर को ठीक कराना चाहिए। फिर आवश्यकतानुसार ठीक करके शुद्ध उत्तर छात्रों से कहला लेना चाहिए। अशुद्ध उत्तर मिलने पर 'नहीं' या 'अशुद्ध' है कहना चाहिए और उसी से अथवा दूसरे छात्रों से शुद्ध उत्तर निकलवाना चाहिए।

यदि कोई छात्र अटक-अटक कर उत्तर दे रहा हो तो जहाँ तक उत्तर ठीक हो वहाँ तक उसे मध्य में न रोकना चाहिए। जब वह अशुद्ध उत्तर देने लगे तो उसे टोंक देना चाहिए। ऐसे अवसर पर पाठ के समय पर भी ध्यान रखना आवश्यक है। मन्दबुद्धि छात्रों से उत्तर निकलवाने के प्रयत्न में कुल समय न नष्ट कर देना चाहिए नहीं तो अच्छे छात्रों का समय नष्ट होता है और पाठ भी पूरा नहीं हो सकता।

जब कभी इधर-उधर के उत्तर मिलने लगें तो दृढ़ता और शान्ति के साथ रोक देना चाहिए क्योंकि कभी-कभी छात्र असली पाठ से हट कर इधर-उधर की बातों में अध्यापक को लगा देने का प्रयत्न करते हैं।

कभी-कभी छात्र जान-बूझकर, रुक रुक कर और नीचे स्वर में उत्तर देते हैं। ऐसे समय अध्यापक को अधीर होकर छात्र के उत्तर को पूरा न कर देना चाहिए। जब तक वह चुप न हो जाय या अशुद्ध उत्तर न देने लगे उसी को प्रयत्न करने देना चाहिए। ऐसा काम छात्र अपनी त्रुटि छिपाने और साथ ही साथ अपने विषय में अध्यापक का अच्छा विचार बनाये रखने की इच्छा से करते हैं।

जब लगभग सभी छात्रों का उत्तर अशुद्ध हो या वे उत्तर ही न दे सकें तो समझना चाहिए कि या तो प्रश्न बहुत कठिन है या उसके बनाने में कुछ त्रुटि है या छात्रों को अपना पाठ स्मरण नहीं है। जैसा अवसर हो उसी प्रकार आगे बढ़ना चाहिए। यदि शुद्ध उत्तर अध्यापक को बतलाना पड़े तो उस उत्तर को छात्रों से कहला लेना चाहिए।

बहुधा अध्यापक लोग छात्रों के प्रत्येक शुद्ध उत्तर को प्रतिध्वनि की तरह अपने आप दुहराते जाते हैं। ऐसा करने में कोई लाभ नहीं है समय और शक्ति दोनों व्यर्थ नष्ट होते हैं। ऐसे दोहराने का छात्रों पर कुछ भी असर नहीं पड़ता। प्रश्नों की महत्ता का भी पता नहीं लगता। पाठ में भी निर्जीवता आ जाती है और छात्रों का ध्यान इधर-उधर बहक जाता है।

उत्तर—छात्रों के उत्तरों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। उत्तर शुद्ध भाषा में होने चाहिए। जैसा प्रश्न हो वैसा ही उत्तर भी होना आवश्यक है। "प्रश्न कुछ और उत्तर कुछ" न होना चाहिए। असम्बद्ध और अपूर्ण उत्तरों को न ग्रहण करना चाहिए।

उदाहरण—पाठ पढ़ाने में प्रश्नों के अतिरिक्त किसी न किसी प्रकार के उदाहरणों की भी आवश्यकता पड़ती है। पाठशाला में चित्र, माडल, मान-चित्र, ड्राइङ्ग इत्यादि का प्रयोग किया जाता है। इनके प्रयोग में बहुत-से लाभ और कुछ दोष होते हैं। अध्यापक की चतुरता इसमें है कि वह इनके उपयोग से अधिक से अधिक लाभ उठाये और जहाँ तक हो सके दोषों का प्रभाव न पड़ने दे। इसके लिए अनुभव चाहिए। फिर भी कुछ साधारण नियमों को ध्यान में रखने से बहुत कुछ सहायता मिल सकती है।

उदाहरण जिस बात के समझाने के लिए काम में लाये जायँ उससे सरल होने चाहिए जिससे बालक असली बात को सुगमता से समझ सकें। उदाहरण रोचक होने चाहिए। यदि वे अरोचक या कठिन हुए तो बालक उनकी ओर आकर्षित न होंगे और उनका प्रयोग व्यर्थ होगा।

उदाहरणों को रोचक बनाने से यह अभिप्राय नहीं है कि उन्हें ऐसे बना दे कि लड़के असली पाठ भूलकर उन्हीं में लिप्त हो जायँ।

कभी कभी ऐसा देखा गया है कि अध्यापक किसी न किसी प्रकार के उदाहरण का प्रयोग केवल कुछ दिखलाने के विचार से कर डालते हैं। इससे कोई लाभ नहीं होता। उदाहरण विषय से सम्बन्धित होने चाहिए। उनमें

भिन्नता भी हो क्योंकि एक ही उदाहरण बार बार देने से बालक पहले ही से समझ जाते हैं कि उनको अमुक उदाहरण दिया जायगा और वे पाठ की ओर विशेष ध्यान नहीं देते। उदाहरणों से बहुधा चित्रों का तात्पर्य होता है। चित्र छोटे और बड़े होते हैं। कक्षा में बड़े चित्रों का प्रयोग करना चाहिए जिसमें सब छात्र उसे अपनी अपनी जगह से ही देख सकें। छोटे चित्र दूर से साफ़ नहीं दिखलाई देते और जब कभी अध्यापक अपनी जगह से किसी कार्ड या पुस्तक का चित्र जो बालकों के पास नहीं है दिखलाता है तो कक्षा में अवश्य शोर-गुल मचता है, शासन बिगड़ जाता है और पाठ को हानि पहुँचती है। इसलिए जहाँ तक हो सके छोटे चित्रों का प्रयोग न करना चाहिए। बड़े चित्र मिलने में कठिनाई होती है पर उनसे पाठ में सुगमता होती है। छोटे चित्र सुगमता से मिलते हैं पर पाठ में बाधा डालते हैं। कभी कभी अध्यापक को विशेष प्रकार से चित्र तैयार करने पड़ते हैं। यदि वह उन्हें अपने आप बना सकता है तो बहुत ही अच्छी बात है अन्यथा उसे किसी से बनवा लेना चाहिए। चित्र भद्दे न होने चाहिए क्योंकि बच्चों में चित्रों के परखने की योग्यता पाँच वर्ष की अवस्था से ही आ जाती है।

व्याख्या तथा वर्णन—इतिहास और भाषा के पाठों में व्याख्या और वर्णन की विशेष आवश्यकता पड़ती है। इनकी भाषा सरल, शुद्ध, भावपूर्ण तथा स्पष्ट होनी चाहिए। एकदम लम्बे लम्बे वर्णन या व्याख्यायें न होनी चाहिए। व्याख्या करने में छात्रों की मदद लेनी चाहिए। ऐसा न हो कि पूरे घण्टे भर अध्यापक ही व्याख्या करता रहे और छात्रों को सिवाय सुनने के और कुछ करने का अवसर ही न मिले। अध्यापक को आवश्यकतानुसार छात्रों से प्रश्न पूछने चाहिए। उनको बीच बीच में नोट इत्यादि लिखने का अवसर देना चाहिए और साथ ही साथ इस कार्य के करने में सहायता भी देनी चाहिए।

कक्षा में शिक्षक का स्थान—पाठ तैयार करके अध्यापक को कक्षा में पढ़ाने के लिए उपस्थित होना पड़ता है। कक्षा में अध्यापक का क्या स्थान है?

अध्यापक बालकों का मार्ग-प्रदर्शक और मित्र है। वह उनकी कठिनाइयों का सुलझानेवाला और नई बातों को सीखने में उन्हें सहायता देनेवाला है। इन सब कार्यों को सफलतापूर्वक करने के लिए वह छात्रों से आज्ञापालन और विश्वास चाहता है। जब कभी परस्पर के व्यवहार में किसी कारण से किसी प्रकार की बाधा या त्रुटि आ जाती है तभी छात्रों और अध्यापक में किसी न किसी प्रकार का संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। ऐसे अवसर पर अध्यापक को

पक्षपात-रहित और शान्त रहना चाहिए और आवश्यकता से अधिक कठोर न होना चाहिए। यह विषय शासन से सम्बन्ध रखता है। यहाँ केवल इतना ही कहना पर्याप्त है कि अध्यापक और छात्रों में ऐसा व्यवहार हो कि कक्षा में शान्ति-पूर्वक पठन-पाठन का कार्य हो सके।

कुछ व्यावहारिक बातें

(१) **वाणी**—अध्यापक को कक्षा में अपनी वाणी से बहुत काम लेना पड़ता है। इसलिए उसको अपनी वाणी पूर्णतया अपने इच्छानुकूल रखनी चाहिए। उसको धीरे धीरे और विचार-पूर्वक बोलना चाहिए जिसमें सब छात्र सुन सकें और समझ सकें। ऐसा न मालूम हो कि अध्यापक चिल्ला रहा है। पीछे बैठे हुए बालकों की ओर अधिक ध्यान रखना चाहिए। ऐसा न हो कि वे लोग अध्यापक की आवाज़ को न सुन सकें।

बहुधा देखा गया है कि अध्यापक को अधिक बात करने की बान पड़ जाती है। ऐसा करने से अध्यापक थक जाता है। उसका मस्तिष्क ख़ाली हो जाता है। छात्रों का मन पाठ में नहीं लगता और पाठ अरुचिकर हो जाता है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि वह छात्रों को बोलने, काम करने और प्रश्न पूछने का अवसर दे। छात्रों के उत्तरों को मशीन की तरह न दुहरावे। प्रत्येक अवसर पर "समझे", "शाबाश", "क्या तुम बता सकते हो" इत्यादि वचनों का प्रयोग आवश्यकता से अधिक न करे क्योंकि इससे समय और शक्ति नष्ट होती है और वाक्यों का प्रभाव नष्ट हो जाता है।

(२) **भाषा**—बोलते समय प्रत्येक अध्यापक को भाषा का ध्यान रखना चाहिए। बहुधा अध्यापक और छात्र कक्षा में गाँव की बोली का प्रयोग करते हैं। ऐसा करने से शुद्ध भाषा की उन्नति में बहुत बाधा पड़ती है। इसलिए प्रत्येक अध्यापक को शुद्ध भाषा बोलनी चाहिए और छात्रों को भी ऐसा करने के लिए बाध्य करना चाहिए।

(३) **प्रश्न पूछने की विधि**—प्रश्न के तैयार करने के विषय में पहले कहा जा चुका है कि कुछ बातें ऐसी हैं जो कि कक्षा में आने के बाद अध्यापक के सामने आती हैं। इसलिए उन पर भी विचार करना चाहिए। प्रश्न पूछने पर कुछ लड़के अधीरता से बार बार हाथ उठाते हैं और कभी कभी "मुझसे पूछिए साहब", "मुझसे आप कुछ नहीं पूछते" इत्यादि वाक्यों का प्रयोग करते

हैं। इनकी अधीरता को रोकना चाहिए। प्रत्येक प्रश्न इन्हीं अधीर बालकों से न पूछना चाहिए। जो छात्र हाथ न उठावें उनसे भी प्रश्न करने चाहिए। ऐसा भी देखा गया है कि छात्र उत्तर देने के झंझट से बचने के लिए हाथ नहीं उठाते। कभी कभी यह दिखलाने के लिए कि उन्हें सब कुछ आता है झूठ मूठ हाथ उठा देते हैं। इन समस्याओं को अध्यापक कुछ अनुभव के पश्चात् हल कर सकता है। अनुभव प्राप्त करने का समय अध्यापक की कुशाग्रता और योग्यता पर निर्भर है।

कभी कभी छात्र लोग असंबद्ध उत्तरों-द्वारा अध्यापक का पाठ से ध्यान हटाकर इधर-उधर बातों में लगाने का प्रयत्न करते हैं। ऐसे अवसर पर अध्यापक को सचेत होना चाहिए और छात्रों की बातों को रोककर अपने कार्य पर आ जाना चाहिए।

(४) **शासन-सम्बन्धी साधारण बातें**—कभी कभी अध्यापक कक्षा के एक ही ओर देखता रहता है और दूसरी ओर छात्र मनमानी किया करते हैं। इसलिए अध्यापक को कुल कक्षा पर दृष्टि रखनी चाहिए। बहुत-सी छोटी-मोटी बातें अध्यापक के सामने प्रतिदिन आती हैं जिसमें अध्यापक को अपने अनुभव, बुद्धि तथा व्यवहार-कुशलता से काम लेना चाहिए। उसको घबड़ाकर किंकर्त्तव्यविमूढ़ न होना चाहिए। ऐसा करने से विद्यार्थी उसे वश में कर लेते हैं। यदि वह सचेत है तो छात्र उसका आदर करते हैं। आरम्भ में यदि काम में ढील पड़ जाती है तो उसका परिणाम बहुत भयङ्कर होता है। शासन को ठीक रखने के लिए अध्यापक को चाहिए कि छात्रों को कभी बेकार बैठने का अवसर न दे।

(५) **श्यामपट**—पाठ पढ़ाते समय अध्यापक को श्यामपट पर लिखना पड़ता है। लिखने के पहले उसे श्यामपट का स्थान ठीक से नियत कर लेना चाहिए। जो कुछ उस पर लिखा जाय साफ़ और शुद्ध होना चाहिए। अक्षर ऐसे हों कि पीछे बैठे हुए छात्र भी सुगमता से पढ़ सकें। लकीरें सीधी होनी चाहिए। जो विषय लिखा जाय वह नियमानुसार तथा क्रमबद्ध होना चाहिए। गंदे और गड़बड़ी से किये हुए कार्य का प्रभाव छात्रों पर बुरा पड़ता है। कक्षा का कार्य समाप्त होने पर श्यामपट के लेख को मिटाकर उसे साफ़ कर देना चाहिए जिससे अगले घंटे के अध्यापक को वह साफ़ मिले।

(६) **गृहकार्य**—सबसे नीची कक्षाओं के छात्रों को छोड़कर सभी बालकों

को घर के लिए कुछ काम दिया जाता है। ऐसा देखा गया है कि प्रत्येक अध्यापक अपने विषय को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण समझकर बहुत-सा काम दे देता है। ऐसा करने से छात्रों पर चारों ओर से भार लद जाता है और किसी अध्यापक का काम ठीक से नहीं होता। सबसे कठोर अध्यापक का काम विद्यार्थी-गण नक़ल कर कराके किसी प्रकार पूरा कर देते हैं। प्रत्येक अध्यापक को दूसरे का ध्यान रखना चाहिए और प्रत्येक कक्षा को किसी नियमित समय-विभाग के अनुसार घर पर करने के लिए काम देना चाहिए। इस काम का निरीक्षण बहुत आवश्यक है। यदि अध्यापक घर के काम को नहीं देख सकता या नहीं देखता तो छात्र उसे असावधानी से करने लगते हैं। छात्रों पर इसका बुरा प्रभाव पड़ता है। वे असावधान और आलसी हो जाते हैं, और साथ ही साथ अध्यापक की ओर उनके आदर की मात्रा कम हो जाती है।

(७) बालकों को उचित अध्ययन में सहायता देना—अध्यापक का कार्य अच्छी तरह पाठ देकर ही समाप्त नहीं हो जाता। उसका कर्तव्य है कि बालकों को पाठ पढ़ने, समझने तथा अपने आप मनन करने की रीतियाँ बतलावे जिससे छात्र अपनी सब शक्तियों का उपयोग कर सकें। भिन्न भिन्न प्रकार की कठिनाइयों पर भिन्न भिन्न प्रकार के चिह्न लगाना बतला दें, नोट अथवा संक्षिप्त वृत्तान्त लिखने में सहायता दें और जो कुछ बालकों ने पढ़ा है उसका प्रयोग करना सिखलावें।

कुछ बातें ऐसी होती हैं जो कण्ठ करनी पड़ती हैं। जैसे—कठिन शब्दों का अर्थ, पहाड़े, इतिहास की तिथियाँ इत्यादि। साधारणतः रटना बहुत बुरा समझा जाता है। परन्तु वही रटना ख़राब है जो बिना समझे तोते की तरह रटाया जाता है। जो बात समझकर याद की जाय या रटी जाय वह आपत्ति-जनक नहीं है। इसलिए जो कुछ भी छात्र लोग कंठ करें उसे पहले समझ लें। परन्तु बहुधा इसके विपरीत होता है। जो बात छात्र नहीं समझते अध्यापक के क्रोध से बचने और परीक्षक की आँखों में धूल झोंकने के लिए रट लेते हैं। इसका परिणाम बहुत भयङ्कर होता है। अध्यापक को जो कुछ बालकों से कंठ कराना हो उसे अच्छी तरह से समझावें। जब बालक समझ जायँ तब उन्हें कंठ करने की आज्ञा दें।

प्रत्येक प्रश्न को हल करने के लिए छात्रों में स्वतंत्रतापूर्वक विचार करने की बान डालनी चाहिए। प्रश्न में क्या दिया है, क्या माँगा जा रहा है,

उत्तर में किन किन बातों की आवश्यकता है, ये किस प्रकार और कहाँ मिल सकते हैं, ऐसी बातें छात्रों को अपने आप सोचने की बान डालनी चाहिए। किसी बात में अन्ध-विश्वास नहीं पैदा करना चाहिए। अन्ध-विश्वासी बालक स्वावलम्बी नहीं होते। वे छोटी छोटी बातों के लिए दूसरों पर निर्भर रहते हैं।

लेखक का यह विश्वास है कि जब तक छात्रों में स्वाध्याय तथा समझ कर कण्ठ करने की और अपने आप अनुसन्धान और विचार करने की शक्ति तथा बान नहीं डाली जाती तब तक अध्यापक का कार्य पूर्ण नहीं माना जा सकता।

तृतीय अध्याय

मातृभाषा की शिक्षा

(हिन्दी की शिक्षा का विशेष ध्यान रखते हुए)

भाषा सिखलाने का मुख्य उद्देश्य यह है कि बालक अपने विचार शुद्धता-पूर्वक और स्पष्ट रीति से प्रकट करना सीखें और दूसरों के विचारों को ठीक ठीक समझें तथा काम पड़ने पर दुहरा सकें। मनुष्य समाज-प्रेमी जीव है। उसको तभी सुख मिलता है जब वह अन्य मनुष्यों के साथ रहे, वार्तालाप करे और उनके सुख-दुःखों में भाग ले सके। भाषा-शिक्षण से बालकों को सम्भाषण, पत्र-व्यवहार तथा आमोद-प्रमोद में भी सहायता मिलती है; और उससे उनके सामाजिक जीवन की सफलता में भी वृद्धि होती है।

भाषा शिक्षण का महत्त्व—आधुनिक जीवन में वही मनुष्य आगे बढ़ सकेगा जो अपने विचारों को क्रमपूर्वक और स्पष्टता से प्रकट कर सकता है। देश के नेता, उपदेशक और गुरु वही हो सकते हैं जो ठीक ठीक बोल या लिख सकते हैं। ज़मींदार, साहूकार, मैनेजर आदि सभी मनुष्यों को, जिन्हें दूसरों से सरोकार पड़ता है या उन पर हुकूमत करनी होती है, भाषा शिक्षण से लाभ होता है। कारण यह कि जब तक वे अपने मन की बात साफ़ साफ़ न कह सकें तब तक दूसरों से उसकी तामील कैसे करा सकते हैं? अनेक भिखारी या फ़क़ीर इस ख़ूबी से भीख माँगते हैं कि लोग ख़ुशी से पैसा दे देते हैं। जिनसे कुछ बोलते नहीं बनता वे मुँह देखते ही रह जाते हैं। सार यह कि भाषा-शिक्षण का बड़ा महत्त्व है और वह सब प्रकार के मनुष्यों के लिए आवश्यक है।

भाषाशिक्षण के अङ्ग—मनुष्य अपने विचार कहकर या लिखकर प्रकट करता है। इसी प्रकार दूसरों के विचारों को वह पढ़कर या सुनकर समझ सकता है। इस तरह भाषाशिक्षण के निम्नलिखित अङ्ग हो जाते हैं:—

(१) **सम्भाषण**—दूसरों के विचार तुरन्त समझने और अपने विचार स्पष्टतापूर्वक प्रकट करने के लिए।

(२) **पढ़ना**—(क) छपी पुस्तक, (ख) हस्तलेख—दूसरों के लिखे हुए विचार समझने और उन्हें प्रकट करने के लिए।

(३) **लिखना**—अपने या दूसरों के विचार लिखकर प्रकट करने के लिए। हिज्जे, हस्तलिपि, निबन्ध-रचना, पत्र लिखना इसके अंतर्गत हैं।

(४) **कविता**—विचारों के प्रभावित रूप में समझने तथा प्रकट करने की शक्ति उपार्जन के लिए तथा आमोद-प्रमोद में सहायता देने के लिए।

(५) **व्याकरण**—भाषा का शुद्ध-रूप पहिचानने के लिए।

बालकों की योग्यता—जब बालक पाँच-छः वर्ष की अवस्था में पाठ-शाला में भरती होते हैं तब उन्हें थोड़े से शब्द मालूम होते हैं। अनुसंधान करने से पता चलता है कि उनका शब्द-कोश ३०० से ५०० शब्दों का रहता है। उनमें कुछ स्थूल विचार प्रकट करने की शक्ति भी रहती है, परन्तु बारीकी से वे कुछ नहीं कह सकते। यदि पेट में मरोड़ होती हो तो यह न बतला सकेंगे कि क्या हो रहा है। केवल यह कह सकेंगे कि न जाने क्या हो रहा है या पेट में तकलीफ़ है। अनेक विचारों तथा अनुभवों को बालक प्रकट नहीं कर सकता। इसी आधार पर शिक्षक को भाषा की शिक्षा देनी पड़ती है। उसे चाहिए कि उनके विचारों और अनुभवों को अधिक स्पष्ट कराने का प्रयत्न करे और उनकी वाचा-शक्ति को प्रबल करे।

शिक्षक की कठिनाइयाँ—देहाती पाठशालाओं में शिक्षकों की मुख्य कठिनाई यह होती है कि बालकों का शब्द-भाण्डार ग्रामीण बोलियों में रहता है। बालक जब पाठशाला में आते हैं तब तक खड़ी भाषा में बहुधा बोल नहीं सकते। घर में या पाठशाला में वे लोग देहाती बोली का व्यवहार किया करते हैं। कहीं कहीं तो शिक्षक उसी बोली का प्रयोग करते हैं। बहुधा यह देखने में आता है कि यदि खड़ी भाषा का प्रयोग किया जावे तो छोटे बालक कुछ समझते भी नहीं। शहरों में यह कठिनाई कुछ कम रहती है, परन्तु प्रांतीय झलक वहाँ भी दिखाई देती है—विशेषकर अशिक्षित घरों से आये हुए बालकों में। प्रांतीय बोलियों का तिरस्कार करना उचित नहीं। हर एक बोली में कुछ न कुछ माधुर्य है और वह इतनी भावपूर्ण होती है कि उसके बोलने और सुनने में शिक्षित मनुष्य को भी आनन्द आता है।

परन्तु भाषा सिखाने का एक मुख्य उद्देश्य यह भी है कि शिक्षित मनुष्य के व्यवहार-समाज का विस्तार यथोचित बढ़े। खड़ी हिन्दी भाषा को जाननेवाला पेशावर से कलकत्ते तक और हिमालय से लेकर दक्षिण हैदराबाद

तक के निवासियों से वार्तालाप और पत्र-व्यवहार भी कर सकता है। उसका व्यवहारक्षेत्र बहुत विस्तीर्ण हो जाता है। परन्तु देहाती बोली का बोलनेवाला बहुत ही परिमित क्षेत्र में व्यवहार कर सकता है। ब्रजनिवासी अवध की बैसवाड़ी या पटने के आस-पास की भोजपुरिया बोली न समझ सकेगा। राजपूताने अथवा मध्य भारत की बोलियाँ जैसे :—मेवाड़ी, मारवाड़ी, हाड़ौती, मालवी आदि संयुक्त-प्रान्त अथवा बिहारनिवासियों को कठिन मालूम होंगी। परन्तु खड़ी भाषा के सहारे पंजाब, संयुक्त-प्रान्त, बिहार, मध्यप्रदेश, राजपूताना तथा मध्य भारत-वासी मज़े में सम्भाषण कर परस्पर लाभ उठा सकेंगे। खड़ी हिन्दी जाननेवाले का समाज बारह तेरह करोड़ मनुष्य का हो सकता है।

इसलिए शिक्षकों को उचित है कि जहाँ तक बने पाठशाला में खड़ी भाषा का उपयोग करावें। आवश्यकता पड़ने पर ग्रामीण बोली का आश्रय लिया जावे। किन्तु उद्देश्य यही रहे कि खड़ी भाषा सिखानी है।

भाषा का उपयोग एक कला है—पाठ्य-विषयों में कुछ विषय ऐसे हैं जिनके सिखाने से बालकों को कुछ ज्ञान की प्राप्ति होती है जैसे—इतिहास, भूगोल आदि। पर कुछ ऐसे भी विषय हैं जिनसे कुछ कार्य कर सकने की शक्ति बढ़ सकती है। जैसे :—ड्राइंग, कापी-रायटिंग (हस्त-लेख), व्यायाम आदि। इन सब विषयों को कला कहते हैं। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो भाषा की गणना कलाओं में की जावेगी। क्योंकि भाषा सिखाने का मुख्य उद्देश्य शुद्ध भाषा बोलने, लिखने तथा समझने की शक्ति उत्पन्न करना है। भाषा-द्वारा ज्ञान भी प्राप्त होता है पर यह मुख्य उद्देश्य आरम्भ में नहीं रहता।

कलाओं के सिखाने की एक ही रीति है अर्थात् अभ्यास। भाषा सिखाने की मुख्य रीति केवल यही हो सकती है कि शुद्ध भाषा का प्रयोग बार बार कराया जावे। जिन बालकों को शुद्ध भाषा सुनने तथा बोलने वा लिखने के अधिक अवसर मिलते हैं वे ही उत्तम भाषा सीख लेते हैं; व्याकरण उन्हें मालूम हो या न हो। व्याकरण से कुछ सहायता अवश्य मिलती है, पर केवल उसकी सहायता से बालक भाषा नहीं सीख सकते, वह तो उपयोग से आती है।

भाषा और व्याकरण का सम्बन्ध—कुछ शिक्षकों तथा विद्वानों का मत है कि व्याकरण के बिना भाषा का ज्ञान नहीं आ सकता। इसका कारण यह है कि संस्कृत सीखने के लिए व्याकरण का सीखना आवश्यक है। बिना व्याकरण का अध्ययन किये संस्कृत भाषा का अच्छा ज्ञान नहीं होता। परन्तु ध्यान में यह

भी रखना उचित है कि मृत भाषा को सिखाने की शैली एक प्रकार की, और जीवित भाषा के सिखाने की शैली दूसरी तरह की होती है। संस्कृत-भाषा आज-कल ग्रन्थों में ही बाँचने को मिलती है, शायद ही कभी बोलने या सुनने को मिलती हो। भाषा परिमार्जित होने से परिवर्तनशील नहीं है। उसे व्याकरण के द्वारा पढ़ा सकते हैं। परन्तु हिन्दी सरीखी जीवित भाषा परिवर्तनशील है, उसका जो रूप आज है वह अगले पन्द्रह वर्ष में बदल जावेगा और ऐसा ही होता आया है। इसलिए जैसी भाषा का प्रचार हो वह व्यवहार से ही सीखी जा सकती है। व्याकरण से कुछ संकेत-मात्र अवश्य मिलते हैं।

हिन्दी का व्याकरण भाषा पर निर्भर है, न कि भाषा व्याकरण पर। इसलिए पहले भाषा सिखलाई जावे और उसका सामान्य अच्छा ज्ञान होने पर उसका व्याकरण बतलाया जावे। बहुधा देखने में आता है कि शिक्षित समाज में रहनेवाले बालक उत्तम हिन्दी बोलने और लिखने लगते हैं; परन्तु जिस समाज में बिगड़ी हुई भाषा का उपयोग अधिक हो रहा है उसमें रहनेवाले शिक्षित और व्याकरण जाननेवाले मनुष्य दूषित भाषा का उपयोग करते हैं।

यह भी देखने में आया है कि पाठशालाओं में विद्यार्थी व्याकरण के नियम तो ठीक ठीक बतला देते हैं। परन्तु भाषा का उपयोग करते समय उन्हीं का उल्लंघन कर देते हैं। इसका कारण यह है कि छोटी उम्र के बालकों में यह शक्ति नहीं है कि उपयोग के समय व्याकरण के जटिल नियमों का ध्यान रख सकें। जैसी आदत होती है वैसी ही भाषा का उपयोग करने लगते हैं।

व्याकरण का बहुत कुछ भाग भाषा के उपयोग में सहायक नहीं हो सकता। जैसे :—शब्द-भेद, सन्धि, समास, व्याख्या आदि। यदि कुछ लाभ भी हुआ तो भी क्वचित् ही। व्याकरण उचित प्रकार से सीखने से बुद्धि तीव्र और परिमार्जित अवश्य होती है, परन्तु भाषा सीखने में उससे बहुत कम सहायता मिलती है।

सार—भाषा सम्भाषण तथा उपयोग के द्वारा सिखाई जावे और शाला-गृह में जहाँ तक बने शुद्ध खड़ी भाषा का प्रयोग कराया जावे।

उपयोग कराने की रीतियाँ—भाषा का उपयोग कराने की कई रीतियाँ हैं। एक तो कक्षा में सम्भाषण-पाठ का देना, उसमें मामूली बातों पर बालकों से वार्तालाप कराया जावे और साथ ही साथ शब्दों का ठीक उपयोग, वाक्य-योजना आदि सिखलाया जावे। दूसरी रीति यह है कि कक्षा में कहानी कही और कहलाई जावे। मेरी समझ में पहली कक्षा में प्रथम छः मास इसी

तरह व्यतीत करने से अधिक लाभ होगा। पढ़ना-लिखना सिखलाने की जल्दी करने की कोई आवश्यकता नहीं। शुद्ध भाषा का उपयोग, शब्दों के शुद्ध उच्चारण और भावपूर्वक वाक्यों का कथन कर सकने की शक्ति आने पर पढ़ना-लिखना सुगम होगा। वाक्यों की योजना कर सकने की शक्ति आ जाने पर पढ़ना और लिखना सिखलाना अधिक लाभकारी होगा। इसी समय छोटी सरल कवितायें भी ज़बानी सिखाई जा सकती हैं। छोटे बालकों की स्मरण-शक्ति प्रबल होती है। उन्हें ऐसी कविताओं के याद करने में न तो कठिनाई पड़ती है और न शिक्षक को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है। कवितायें, मुहावरे, अच्छे वचन आदि याद कर लेने से शब्द-भाण्डार बढ़ जाता है जिससे आगे चलकर पाठ्य-पुस्तकें समझने में बालकों को बहुत सहायता मिलती है।

पढ़ना और लिखना आरम्भ हो जाने पर भी सम्भाषण-पाठ और कहानियों का कहना जारी रक्खा जावे। तीसरी चौथी कक्षाओं में भी हफ़्ते में दो एक ऐसे पाठ देना लाभकारी है।

पढ़ना सिखलाना

पढ़ना सिखलाने की प्रचलित रीतियाँ—(१) पहले अक्षर सिखलाये जायँ, फिर बारहखड़ी और संयुक्त-अक्षर, फिर शब्द, और सबसे पीछे वाक्यों का पढ़ना। यही रीति स्वाभाविक मालूम होती है। क्योंकि अक्षरों से शब्द बनते हैं और शब्दों से वाक्य। परन्तु दोष इसमें यह है कि बालकों को अक्षर सार्थक नहीं होते और शब्द भी, जब तक उनका उपयोग वाक्यों में न किया जाय, तब तक, पूर्णरूप से सार्थक नहीं होते।

(२) इस कारण एक दूसरी पद्धति का अनुसरण किया जाता है जिसे अँगरेज़ी में "लुक एन्ड से मेथड" (अर्थात् "जो देखो सो कहो" विधि) कहते हैं। उसके अनुसार शिक्षक आरंभ से ही वाक्यों का पढ़ना आरंभ कराता है। मान लिया कि वह निम्नलिखित वाक्य पढ़ना सिखलाना चाहता है—"घोड़ा तेज़ दौड़ता है"। शिक्षक इस वाक्य को पट्टी पर अथवा काले तख़्ते पर लिखकर, दिखलाता हुआ एक एक शब्द पढ़ता जाता है और बालकगण शब्दों की ओर देखते जाते हैं तथा उसका उच्चारण भी करते जाते हैं। बड़े होने पर जब कभी हम कोई पुस्तक पढ़ते हैं तब शब्दों को देखते ही पहचान लेते हैं—उनके हिज्जे देखने की कोशिश नहीं करते। जो मनुष्य हिज्जे देखकर पढ़ता है वह धीरे धीरे और अटक अटककर पढ़ सकता है। परन्तु जो शब्दों को

देखकर एकदम उन्हें पहचान लेता है, वह शीघ्रता से पढ़ सकता है। इस काम में "लुक एन्ड से मेथड" से सहायता मिलती है।

इसमें कसर यह दिखाती है कि कदाचित् हिज्जों का ज्ञान ठीक प्रकार से न हो सके। पर यदि जो वाक्य पढ़ने को दिये जायँ, वे कुशलतापूर्वक चुने जावें तो इस दोष का निवारण हो जायगा।

उदाहरण—

रामलाल घर को जाता है।
हीरालाल घर को जाता है।
वंशीलाल घर को जाता है।
रामसिंह घर को गया।
हरीसिंह घर को गया।
वंशीसिंह घर को गया।

शिक्षक पाइन्टर लेकर एक एक शब्द बतलाता और उसका उच्चारण करता जाता है। बालक भी देखते और उच्चारण करते जाते हैं। इस प्रकार कई बार करने से बालकों के मन में यह बात चित्रित हो जायगी कि प्रथम तीन वाक्यों में "लाल" शब्द तथा "जाता है" बराबर आये हैं और उनके लिखे हुए रूप भी पहचानने लगेंगे। इसी तरह अन्तिम तीन वाक्यों मे "सिंह" और "गया" को भी पहचानने लगेंगे। फिर पहले और चौथे वाक्य की तुलना करने से "राम" शब्द को पहचानने लगेंगे। इसी तरह धीरे धीरे उनको अभ्यास हो जायगा और वे कुछ शब्दों के रूप देखते ही बिना हिज्जे किये उन्हें तुरन्त पहचान जायँगे और उनका उच्चारण कर देंगे।

जब शब्द पहचानने लगें तब अक्षरों का व्यापार पहचानने के लिए उसी प्रकार की विधि का उपयोग किया जा सकता है। जैसे :—घट, घटा, घाटा, घुटा, घोटा आदि इन्हें ले करके अकारान्त, इकारान्त, ओकारान्त आदि का भेद सिखलाया जा सकता है।

हिन्दी-भाषा में विशेष गुण यह है कि जैसा पढ़ा जाता है वैसा ही लिखा जाता है। इसमें यह बात नहीं है कि एक ही अक्षर के कई उच्चारण होते हों और एक उच्चारण को भिन्न-भिन्न संकेतों-द्वारा प्रदर्शित करते हों। इसलिए ऊपर लिखी हुई दोनों रीतियों का अनुसरण सफलतापूर्वक हो सकता है। यदि अक्षरों से शिक्षा आरम्भ करनी हो तो कार्य सफलतापूर्वक करने के लिए यह आवश्यक

है कि चित्रों तथा भजनों, खिलौनों आदि की सहायता लेकर अक्षरों का ज्ञान कराया जावे। आजकल हिन्दी की अनेक प्राइमर मिलेंगी जिनमें चित्र तथा उनके नाम दोनों दिये होते हैं और चित्रों की सहायता से अक्षरों का ज्ञान हो जाता है। उदाहरण के लिए "अनार" का चित्र और उसके नीचे वह शब्द लिखा हो तो बालक चित्र देखकर 'अनार' शब्द का उच्चारण करेंगे और 'अ' का उपयोग सीख जावेंगे। "किंडर गार्टन-पद्धति" के अनुसार अनेक खिलौने तथा खेलों की योजना की गई है जिनके द्वारा अक्षरों को पहचानने और बनाने की शिक्षा खेल खेल में दी जा सकती है।

बारहखड़ी और संयुक्ताक्षर—प्रत्येक अक्षर में कुछ भाग तो अमुख्य है परन्तु कुछ भाग से अक्षर पहचाना जाता है। उदाहरण के लिए 'व' में खड़ी और आड़ी रेखा अमुख्य हैं परन्तु वर्तुलाकार रेखा मुख्य है। संयुक्त अक्षरों में बहुधा मुख्य रूप रह जाता है और अमुख्य छोड़ दिया जाता है। इसी तरह बारहखड़ी में मुख्य भाग का कुछ अंग रक्खा जाता है और शेष छोड़ दिया जाता है। शिक्षक को उचित है कि बालकों को मुख्य भाग पहचानना सिखावें और जब वे मुख्य भाग पहचानने लगें तब उनको यह नियम बतलाया जावे कि बारहखड़ी और संयुक्त अक्षरों में मुख्य भाग जहाँ तक बनता है रख लेते हैं। इस नियम के विरुद्ध कुछ उदाहरण हैं वे पीछे से लिये जावें।

लिखना और पढ़ना—अक्षरों को पहचानना अलग कार्य है। परन्तु उनको लिखना एक दूसरा ही कार्य है। वर्णमाला का प्रथम अक्षर अर्थात् 'अ' पहचानना सरल है, परन्तु उसको यथोचित रूप से लिखना अधिक कठिन है। उच्चारण सिखाने के लिए हिन्दी वर्णमाला का क्रम उत्तम है। पृथ्वी की अन्य भाषाओं में क्वचित् ही कोई भाषा ऐसी निकले कि जिसकी वर्णमाला इतनी क्रमबद्ध हो। इसलिए अक्षरों को पहचानना तथा उनका उच्चारण करना सिखाने के लिए उसी क्रम को स्वीकार करना लाभकारी है। लिखना सिखलाने के लिए या तो सरलता और कठिनाई के अनुसार अपना अलग क्रम बना लिया जावे या वर्णमाला का अनुसरण किया जावे। इस विषय में मतभेद है। मेरी समझ में जो अक्षर लिखने में सरल हों वे पहले लिये जावें।

लिखना सिखलाने का क्रम किस प्रकार होना चाहिए—

(१) बीजों या कौड़ियों द्वारा फ़र्श पर अक्षर बनवाना।

(२) रेत पर लकड़ी द्वारा। (इस प्रकार लिखने में पूरे हाथ को चलाना होता है।)

(३) श्यामपट पर चाक की पेन्सिल-द्वारा। इसमें भी पूरे हाथ को चलाना पड़ता है।

(४) स्लेट पर स्लेट-पेन्सिल से अथवा काग़ज़ पर सीसा-पेन्सिल से। (इसमें पूरा हाथ न चलाकर केवल कलाई तथा अँगुलियों का उपयोग करना पड़ता है। हाथ चलाने की अपेक्षा यह काम अधिक कठिन है।)

(५) लकड़ी की पट्टी पर छुही मिट्टी और बरू की क़लम से। इससे क़लम पकड़ने की कठिनाई भी आ जाती है, पर लिखा हुआ मिट सकता है।

(६) कापी पर स्याही और क़लम से।

यहाँ इस बात की आवश्यकता है कि पहले छपे हुए अक्षरों पर क़लम फेरी जावे और फिर स्वतन्त्रतापूर्वक लिखने की अनुमति दी जावे।

ड तथा ढ के नीचे बिन्दी लगाने से दो अधिक ध्वनियाँ प्रकट की जाती है। उसी तरह फ, ख, ग, ज और क के नीचे बिन्दी लगाने से उर्दू-भाषा की पाँच ध्वनियों का समावेश हो जाता है। इनका प्रयोग हिन्दी-साहित्य में होने लगा है और इसलिए इनका सिखलाना भी आवश्यक है। इससे हिन्दी-भाषा का कोई नुक़सान नहीं, वरन् उसको लाभ है। क्योंकि इनको सिखा देने से हिन्दी वर्णमाला में उन्चास के बदले छप्पन वर्ण हो जाते हैं और उससे भाषा की क्षमता बढ़ जावेगी।

कापी लिखना—कापी लिखाने से कुछ लाभ है या नहीं इस विषय पर बहुत कुछ मतभेद है। कारण बालकों का हस्त-लेख शिक्षक के नमूने पर और उसकी निगरानी पर बहुत कुछ अवलम्बित है। विद्यार्थीगण अपने गुरु की लेखन-शैली की बहुत कुछ नक़ल करते हैं। फिर यदि कापी लिखने के घण्टे में होशियारी से लिखा जावे और शेष घण्टों में बालकों को गोदने की आदत पड़े तो लिखना नहीं सुधर सकता। इसलिए लिखना सिखलाने के लिए इस सिद्धान्त को अमल में लाना चाहिए कि **जहाँ कहीं और जब कभी लिखना आवश्यक हो तो ध्यान और परिश्रमपूर्वक सुडौल अक्षर बना-बनाकर लिखे जावें। ख़राब और असावधानी से लिखने की अपेक्षा न लिखना ही अच्छा है।** शिक्षक प्रतिघण्टे में इस बात का ध्यान रक्खे कि जो कुछ लिखा जावे वह उत्तम प्रकार से ही लिखा जाय और इस विषय में अध्यापक को कड़ाई से काम लेना चाहिए।

कापी लिखाने से तभी फ़ायदा हो सकता है जब उपर्युक्त सिद्धान्त के अनुसार काम किया जाय।

हस्त-लिपि के लिए जो कापियाँ नियत की जाती हैं उनमें ऊपर छपा हुआ आदर्श रहता है उसी को बार बार लिखना पड़ता है। "बालक जिस समय दूसरी लकीर लिखते हैं उस समय तो आदर्श रूप सामने रहता है, परन्तु तीसरी लकीर लिखते समय आँख के सामने दूसरी लकीर आ जाती है जो कि आदर्श रूप नहीं कही जा सकती। इस कारण जैसे जैसे नीचे की लकीरों पर पहुँचते जाते हैं बालकों की लिखावट भी वैसे ही बिगड़ती जाती है। इसलिए जिस कापी में केवल एक आदर्श रूप ऊपर दिया रहता है वह लाभकारी नहीं होती। बीच बीच में हर तीसरी लकीर पर आदर्श या उसका संकेत (बिन्दियों द्वारा लिखे अक्षर) आना चाहिए। इसी बात को ध्यान में रखकर 'कापी स्लिप' का प्रयोग किया जाता है। यदि अध्यापक के अक्षर अच्छे हों तो वह काग़ज़ के लम्बे टुकड़ों पर आदर्श लिखकर बालकों को दे दें। उसे बालक अपनी प्रत्येक लकीर के ठीक ऊपर रखकर नक़ल कर सकते हैं।

बहुधा आलस्य के कारण हिन्दी-पाठशालाओं में बरू (सैंठे, किलिक या नेज़े) की क़लम का उपयोग नहीं होता और उसके बदले अँगरेज़ी निब का उपयोग किया जाता है। निब से हिन्दी के अक्षर कभी अच्छे नहीं बन सकते। क्योंकि न तो उसमें ठीक तरह का कत रक्खा जा सकता है और न कत रखने पर वह सरलता से काग़ज़ पर चल ही सकती है। बरू की क़लम का उपयोग करने के लिए यह ज़रूरी है कि शिक्षक के पास हमेशा चाक़ू रहे और वह बालकों को क़लम बनाना भी सिखावे। अध्यापक को चाहिए कि लिखने के लिए इस बात को आवश्यक समझकर बालकों को क़लम बनाना अवश्य सिखावे।

सुडौल अक्षर—कसरती मनुष्य को देख करके मन में आनन्द होता है। इसका कारण यह है कि उसके शरीर के सब अङ्ग सुडौल तथा किसी अनुपात से बने हुए रहते हैं। जिस मनुष्य की उँचाई बहुत हो पर छाती चौड़ी हो, अथवा हाथ पैर दुबले हों पर पेट फूला हुआ हो या अन्य किसी प्रकार से किसी मनुष्य के अङ्ग अनुपात-रहित हों तो वे अच्छे नहीं मालूम होते। मनुष्य का स्वभाव ऐसा है कि सुडौल चीज़ को देखकर वह प्रसन्न होता और कुडौल को देखकर उसके मन में ग्लानि होती है। यही हाल अक्षरों के लिखने में होता है। यदि लिखावट में अक्षर सुडौल तथा किसी अनुपात के अनुसार रहते हैं तो उन्हें देखकर मन प्रसन्न होता है और बेढंगे अक्षरों को देखकर बुरा मालूम होता है।

उदाहरण के लिए 'च' अक्षर लिया। उसमें जो वर्तुलाकार रेखा है वह इतनी बड़ी न होनी चाहिए कि लम्ब रेखा उसे सँभाल न सके। आड़ी रेखा उसके आगे केवल इतनी बढ़ी हुई होनी चाहिए जितनी चिड़िया की चोंच उसके धड़ के आगे होती है। अब 'क' लीजिए। उसमें बाईं तरफ़ और दाहिनी तरफ़ की वर्तुलाकार रेखायें किसी नियत परिमाण से होनी चाहिए। यदि 'व' बड़ा भारी बनाया और '‸' बहुत छोटा बनाया तो अक्षर कुढंगा हो जाता है। इसी तरह मूढ़ा देते समय भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि लम्ब रेखा के दोनों तरफ़ काफ़ी दूरी तक बनाया जावे जिसमें देखनेवाले को यह जँचे कि आधार पर अक्षर खड़ा हो सकता है। इसी प्रकार हर एक अक्षर की बनावट पर विचार करके शिक्षक को चाहिए कि बालकों के मन में अक्षर-सौंदर्य का भाव उत्पन्न करें। साथ ही साथ सफ़ाई तथा एक एक अक्षरों तथा शब्दों के बीच में उचित दूरी, एक सीधी रेखा में लिखना और लकीरों में समानान्तर रूप रखना आदि बातों को सिखलावे, और उनका अभ्यास करावे जिससे विद्यार्थियों के आदर्श उत्तम हो जावें।

पढ़ना सिखलाना—पढ़ना सिखलाने की तीन सीढ़ियाँ हो सकती हैं। पहली सीढ़ी में शिक्षक का विशेष लक्ष्य इस बात पर रहता है कि बालक छपे या लिखे हुए संकेतों को देख करके उनकी ध्वनि का तुरन्त स्मरण कर लें और उनका उच्चारण करें। दूसरी सीढ़ी में समझकर भावपूर्वक पढ़ने पर और फिर ज्ञान प्राप्त करने पर विशेष लक्ष्य दिया जाता है। मनोगत भावों को स्पष्ट और सुंदर भाषा में प्रदर्शित करने तथा भावों की बारीकी को समझने का अभ्यास तीसरी श्रेणी में कराया जाता है। पहली सीढ़ी हिन्दी स्कूलों में पहली और दूसरी कक्षाओं में सुगमतापूर्वक समाप्त की जा सकती है। तीसरी और चौथी कक्षाओं में दूसरा उद्देश्य सामने रखकर कार्य हो सकता है और पाँचवीं, छठीं तथा सातवीं कक्षाओं में तीसरा उद्देश्य सामने रखना चाहिए। यह सब मोटे हिसाब से बतलाया गया है। हिन्दी वर्णमाला इतनी उत्तम है कि हिन्दी सीखनेवाले पहले दर्जे की कठिनाइयों को दो साल के पहले भी समाप्त कर सकते हैं। मैंने ऐसे कितने बालक देखे हैं जिन्होंने साल भर के भीतर ही हिन्दी पढ़ना सीख लिया है। परन्तु औसत में प्रायः दो साल लग जाते हैं।

पढ़ना सिखलाना—पहली और दूसरी कक्षायें

इसका कार्य-क्रम बहुधा निम्नलिखित प्रकार से होना चाहिए :—

(१) नये पाठ में जो शब्द कठिन हों अथवा जिनके उच्चारण कठिन हों, उनको तख़्ते पर लिखकर पढ़वाना और उच्चारण करवाना।

(२) पाठ के विषय पर वार्तालाप करना जिससे उसका सार बालकों को ज्ञात हो जाय।

(३) शिक्षक का नमूना :—पाठ को स्वतः पढ़कर बतलावे। वह धीरे धीरे स्वर के उतार चढ़ाव के साथ और भावपूर्वक बाँचे। जो जो शब्द पढ़े जावें उन पर अपनी अपनी पुस्तकों में बालकगण अँगुलियाँ रखते जावें।

(४) बालकों को पढ़ने का अभ्यास कराना। कभी कभी वे लोग शिक्षक के साथ साथ भी पढ़ें, फिर होशियार लड़के और अन्त में पिछड़े हुए। जब पिछड़े हुए बालक ठीक ठीक पढ़ने लगें तब समझना चाहिए कि उद्देश्य सफल हुआ।

(५) पाठ का सार बालकों से निकलवाना।

(६) नवीन शब्दों तथा मुहाविरों का उपयोग वार्तालाप द्वारा कराना।

(७) लिखने के घण्टे में दृष्टि-लेख-पाठ अर्थात् पढ़े हुए पाठ में से कुछ पंक्तियाँ नक़ल करने को देना। पर ये दो तीन से अधिक न हों। शब्द भी दिये जा सकते हैं।

(८) (दूसरे दिन) पढ़ाये हुए पाठ की परीक्षा।

तीसरी और चौथी कक्षायें

पढ़ना सिखलाना—इन कक्षाओं में शिक्षक का लक्ष्य विशेषकर बोध-पूर्वक पढ़ने और पढ़कर ज्ञान उपार्जन करने पर रहेगा। बोधपूर्वक पढ़ने के लिए कुछ शारीरिक तथा मानसिक गुणों की आवश्यकता है।

स्पष्ट उच्चारण—अक्षरों को एक दूसरे के साथ ठीक ठीक जमाकर पढ़ना, स्वर-भेद (आवाज़ का उतार या चढ़ाव) और काफ़ी ज़ोर से तथा उचित शीघ्रता से पढ़ना शारीरिक गुण हैं। सम्बन्धित शब्दों को एक साथ पढ़ना, उचित स्थान पर अवधारण देना, जहाँ आवश्यक हो वहाँ ठहरना, और लिखने-वाले के भावों में लिप्त होकर पढ़ना—ये सब मानसिक गुण हैं। पढ़ते समय मनुष्य आँखों से अक्षरों को देखता हुआ मुँह से किसी शब्द का उच्चारण करता है पर उसका मस्तिष्क वाक्य का भाव ग्रहण करने का उद्योग करता है और उसकी आँखें दौड़कर पहले शब्द का उच्चारण समाप्त होते ही आगे के शब्दों का उच्चारण और उनके भाव प्रकट करने के लिए तैयार हो जाती हैं। इसमें

मानसिक शीघ्रता की आवश्यकता है। उदाहरण के लिए एक वाक्य किया :—
"बरसात में वर्षा अधिक होने तथा सूर्य की गर्मी तीव्र होने के कारण उमस बनी रहती है।"

जिस समय मुँह 'बरसात में' का उच्चारण कर रहा है, उस समय आँखें दौड़कर आगे के शब्दों अर्थात् 'वर्षा अधिक होने के कारण' को बाँचती हैं और बुद्धि उनका अर्थ लगाने की कोशिश करती है। यदि 'बरसात' का उच्चारण समाप्त होते ही, आँखों तथा बुद्धि ने अपना काम समाप्त कर लिया तो आगे पढ़ने में पढ़नेवाले को अटकना नहीं पड़ता। इसी को मानसिक शीघ्रता कहते हैं। मन्द-बुद्धिवाले बालक ऐसा नहीं कर पाते और वे पढ़ते समय बहुत अटकते तथा 'ऊँ' 'आँ' करते हैं। इन्हीं सब गुणों का विकास तीसरी और चौथी कक्षाओं में कराना चाहिए।

विद्यार्थियों के पढ़ने में दोष—(१) उच्चारण में अशुद्धियाँ। जैसे :— 'व' और 'ब', 'स' 'श' और 'ष'; 'क्ष' 'ज्ञ' 'ऋ' और संयुक्त अक्षरों में प्रथम उच्चारण को पीछे कहना और द्वितीय को पहले कहना। जैसे :—'तत्पूजनम्' को 'तप्तूजनम्'।

(२) गाकर पढ़ना, जिससे विदित होता है कि पढ़नेवाला भाव को नहीं समझता।

(३) उचित स्थान पर अवधारण न देना।

(४) जो शब्द सम्बन्धी नहीं हैं उनको एक साथ पढ़ना। जैसे :—"जो राजा अपनी। प्रजा की। रक्षा नहीं। करता वह। असफल है।" इस वाक्य में 'जो राजा' एक साथ पढ़ा जाना चाहिए, 'अपनी प्रजा की रक्षा' एक साथ कहा जाना चाहिए, 'नहीं करता', 'वह असफल है'—इस प्रकार के सम्बन्धी शब्द एक साथ कहने चाहिए।

ऊँची कक्षाओं में बहुधा चैतन्य विद्यार्थी बहुत जल्द पढ़ते हैं, जिससे सुननेवाले को बोध नहीं होने पाता। इसका कारण बहुधा यह होता है कि वे समझते हैं कि तेज़ पढ़ना ही अच्छा समझा जाता है। उनकी इस मिथ्या धारणा को दूर करना चाहिए।

मन में पढ़ना—तीसरी और चौथी कक्षाओं में विद्यार्थियों को मन में पढ़ने का अभ्यास कराना चाहिए। पाठ्य-पुस्तक में से कुछ सरल पाठ चुनकर मानसिक पठन के लिए नियत कर देना चाहिए और इसके लिए सप्ताह में कुछ न कुछ समय देना चाहिए। मानसिक पठन के समय 'गुनगुनाने' की आदत न

पढ़ने देनी चाहिए। अन्य पुस्तकें तथा मासिक पत्रिकायें भी दी जा सकती हैं। मानसिक पठन के उपरान्त जो कुछ पढ़ा गया है उसका सार पूछा जावे। परन्तु बारीकी से शब्दार्थ पूछने की कोई आवश्यकता नहीं है। बड़े होने पर पुस्तक या अख़बार पढ़ने में तभी आनन्द आता है जब मनुष्य शान्तिपूर्वक पढ़ सके और अनजाने शब्दों का अर्थ अन्दाज़ से निकाल ले। मानसिक पठन से पुस्तकें, पत्रिकाओं, अख़बारों के पढ़ने में सहायता मिलती है।

तीसरी और चौथी कक्षाओं में पाठ का क्रम—बहुधा वह निम्न-लिखित प्रकार का होना चाहिए, परन्तु देशकाल और पात्र का विचार करके आवश्यक परिवर्तन करने में कोई हानि नहीं।

(१) **कठिन शब्दों का उच्चारण**—पाठ में के जिन शब्दों के उच्चारण करने में बालकों को कठिनाई होने की सम्भावना हो उनका उच्चारण कराया जावे। विशेष करके उन शब्दों का जिनकी ध्वनि की पहचान या तो बालकों को न होती हो अथवा उनकी जीभ अथवा गले से शुद्ध ध्वनि न निकलती हो। इसका अभ्यास पहले सब विद्यार्थियों को एक साथ कराना चाहिए और फिर अलग अलग।

(२) कठिन शब्दों और पदों का अर्थ समझना।

(३) यदि पाठ का विषय कठिन हो तो उसका सार वार्तालाप-द्वारा कहना। कुछ पाठ ऐसे होते हैं कि जिनमें कुछ ज्ञान देने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे 'हवाई जहाज़'—ऐसे विषयों के पाठ।

'ध्रुवमत्स्य-यन्त्र' ऐसे 'मज्जन-घण्टा' पाठों में भाषा की कठिनाई के सिवाय विषय की कठिनाई भी रहती है। जब तक विषय का ज्ञान न हो जाय तब तक भाषा समझ में नहीं आ सकती।

(४) **पढ़कर नमूना देना**—या तो शिक्षक स्वतः पढ़े अथवा किसी अच्छे विद्यार्थी से पढ़वावे। एक पैराग्राफ़ से अधिक एक बार न पढ़ाना चाहिए। इससे यह लाभ है कि पैरा का अर्थ समझने में बालकों को सहायता मिलती है।

(५) **मन में पढ़ना**—अभिप्राय यह है कि एक बार मन में पढ़ लेने से और भी अधिक सहायता मिल जाती है। साथ ही यदि कोई ऐसे शब्द निकल आवें जिनका अर्थ बालकों को नहीं मालूम तो उनका अर्थ भी यहाँ बत-लाया जा सकता है।

(६) प्रश्नों-द्वारा पाठ का सार निकलवाना।

(७) पूरे सार को एक साथ कहलवाना।

(८) (दूसरे दिन) पढ़ाये हुए पाठ की जाँच पढ़वाकर अथवा सार पूछकर। शुद्ध-लिपि का उपयोग भी एक प्रकार की जाँच है।

कदाचित् यह प्रश्न उठे कि इतनी बारीकी से पढ़ाई करने में पाठ्य-पुस्तक साल भर में कैसे समाप्त हो सकती है? इसका उत्तर यह है कि भाषा-शिक्षण का मुख्य उद्देश्य भाषा का सिखाना है, न कि केवल नियत संख्या के पाठ साल भर में पूरे करना। यदि पूरी पुस्तक ऊपर बतलाई हुई विधि से समाप्त करने में कठिनाई मालूम हो, तो कुछ अधिक पाठ मनपठन के लिए छोड़ दिये जावें और उनकी पढ़ाई सरसरी तौर पर की जावे। परन्तु कुछ नियत पाठ बारीकी से पढ़ाना उचित है।

हिज्जे सिखलाना—हिज्जे सिखलाने की कई रीतियाँ हैं। जैसे—ज़बानी हिज्जे पूछना, दृष्टि-लेख-पाठ और शुद्ध-लेख-पाठ। परन्तु पद्धति का निर्णय करने के लिए मनोविज्ञान की सहायता लेना आवश्यक है। इसके अनुसार जो ज्ञान एक ही इंद्रिय के द्वारा दिया जाता है वह अधूरा रहता है। परन्तु कई इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान मिलता है वह अधिक पक्का हो जाता है। दूसरा सिद्धान्त यह है कि आँखों-द्वारा प्राप्त ज्ञान अधिक स्थिर रहता है और कान के द्वारा प्राप्त ज्ञान अधिक स्थिर नहीं होता। इन कारणों से हिज्जे सिखाने की उत्तम रीति तो यह है कि बालक शब्द का शुद्ध-रूप काले तख़्ते पर देखें, मुँह से उसका उच्चारण तथा हिज्जे करें, कानों से सुनें तथा हाथ से लिखें। पुस्तक में छपे हुए अक्षर छोटे होने के कारण उतने प्रभावशाली नहीं होते जितने शिक्षक के हाथ से लिखे हुए काले तख़्ते पर बड़े बड़े अक्षर।

ज़बानी हिज्जे पूछने की अपेक्षा दृष्टि-लेख-पाठ अधिक उपयोगी है, क्योंकि उसमें आँखों का उपयोग होता है और ज़बानी हिज्जे में जीभ और कान का भी उपयोग होता है। परन्तु देखकर लिखने के लिए प्राइमरी-पाठ-शालाओं में दो चार लकीर से अधिक न देना चाहिए। क्योंकि अधिक देने से बालकों का मन थक जाता है और वे फिर लापरवाही से लिखने लगते हैं। पहली और दूसरी कक्षाओं में दृष्टि-लेख-पाठ विशेष लाभकारी है और तीसरी तथा चौथी कक्षाओं में इसके बदले श्रुत-लेख (डिक्टेशन) अधिक लाभकारी होता है। यह बात न भूलनी चाहिए कि श्रुत-लेख-पाठ से हिज्जे की जाँच होती है न कि उसकी पढ़ाई। इसलिए जिस पाठ में से श्रुत-लेख देना हो वह पहले से

नियत हो जाना चाहिए और कक्षा को उसके लिए तैयार होने को समय देना चाहिए।

श्रुत-लेख-पाठ से मानसिक विकास में भी सहायता पहुँचती है। पर शर्त यह है कि डिक्टेशन के समय शब्द व्यर्थ दोहराये न जावें। सम्बन्धी शब्दों को एक साथ कहकर शिक्षक एक बार लिखावे और लेख समाप्त होने पर कुछ समय उसे सुधारने को देवे।

इस बात का ध्यान हमेशा रहे कि सब विषयों की पढ़ाई में हिज्जे सिखलाये जा सकते हैं, न कि केवल भाषा ही के घण्टे में। शिक्षक काले तख़्ते का उपयोग जितना ही अधिक करेगा उतना ही लाभ बालकों को इस विषय में होगा।

मिडिल-स्कूलों में भाषा सिखलाने का उद्देश्य—मिडिल कक्षाओं में प्राइमरी पाठशालाओं का काम जारी रहेगा; परन्तु उसे अधिक विस्तृत-रूप में करना आवश्यक है। बोधपूर्वक पढ़ना, पढ़कर ज्ञान उपार्जन करना, अपने मन के भाव कहकर या लिखकर प्रकट करना तथा भाषा-कोष का विस्तार बढ़ाना—ये सब कार्य विस्तृत-रूप से जारी रहेंगे। परन्तु इन कक्षाओं में विशेष लक्ष्य इस बात पर रहेगा कि बालकों में निम्नलिखित गुण आवें :—

दूसरों के विचारों को बारीकी से समझने की शक्ति, शब्दों का उपयोग तौल तौलकर करना, जो पुस्तक में लिखा है उसकी सत्यता की जाँच करना, पुस्तक तथा दूसरों के विचारों को बारीकी से प्रकट करना और अपने विचार भी सोच समझ और तौलकर बारीकी से प्रकट करना। हिंदी-साहित्य के अध्ययन का आरम्भ भी इन्हीं कक्षाओं में किया जा सकता है।

मनुष्य-स्वभाव में और विशेष करके बालकों के स्वभाव में यह दोष है कि (१) छपी हुई वार्ता को आँख मूँद करके मान लेता है। (२) बात को बढ़ा करके कहने का प्रयत्न करता है और (३) दूसरों के वचनों की पुनरुक्ति करते समय अपनी तरफ़ से भी कुछ नमक मिर्च मिलाने की चेष्टा करता है। बहुधा देखा गया है कि किसी के द्वारा सन्देशा भेजने में कुछ के कुछ समाचार पहुँचते हैं; क्योंकि कहनेवाले में इतनी शक्ति नहीं है कि सन्देश को जैसा का तैसा जाकर कह सुनावे। किसी दूसरे के शब्दों को ठीक न समझकर और कुछ का कुछ अर्थ लगाकर टीका-टिप्पणी करना सरासर अन्याय है। अपने विचारों को बढ़ाकर अतिशयोक्ति कर देना भी एक प्रकार का मिथ्याभाषण है। उपरोक्त

नियमों के अनुसार भाषा की शिक्षा देने से भाषा की शिक्षा तो मिलती ही है; परन्तु साथ ही साथ उत्तम प्रकार की नैतिक शिक्षा भी मिल सकती है।

कविता सिखाने का उद्देश्य—कविता सिखाने का मुख्य उद्देश्य यह है कि बालकों के मन में भाषा-सौन्दर्य का विकास धीरे धीरे होने लगे। इसका विकास होने से उनकी साहित्यिक सुरुचि उन्नत हो जाती है। कविता पढ़ने से अनायास कल्पना-शक्ति का भी विकास होने लगता है। कवि वही है जिसको भिन्न से भिन्न वस्तुओं में भी समानता का भाव दिख जावे और जो समान वस्तुओं में भी असमानता ढूँढ़ निकाले और यह सब कथन ऐसी भाषा में करे कि सुनने या बाँचनेवाला मुग्ध हो जावे। दूसरा लाभ यह भी है कि नैतिक शिक्षा अनायास ही मिल जाती है। कविता में दिये हुए उपदेश मन पर बड़ा असर करते हैं। वही उपदेश यदि गद्य में दिया जावे तो उतना प्रभावशाली नहीं होता।

परन्तु पाठशालाओं में पढ़ाई जानेवाली कविता ऐसी होनी चाहिए कि बालकों को रुचिकर हो। यदि भाषा बहुत क्लिष्ट हो अथवा उपदेश ठूँस ठूँसकर भरे गये हों तो विद्यार्थियों का मन विचलित हो जाता है और कविता से प्रेम उत्पन्न नहीं होता। हिन्दी भाषा में बालकों के योग्य कविताओं की कमी नहीं है किन्तु बहुधा ऐसी कवितायें चुनी जाती हैं जो उनके उपयुक्त नहीं होतीं। हिन्दी में प्राचीन कविता की भाषा आधुनिक खड़ी भाषा से बहुत कुछ भिन्न है। प्राइमरी कक्षाओं में अधिकतर खड़ी भाषा की कविता का उपयोग करना चाहिए। मिडिल कक्षाओं में पुरानी शैली की कविता अधिक सिखाई जावे। किन्तु दोनों ही श्रेणियों में दोनों प्रकार की कविताओं का सम्मिलित करना परमावश्यक है क्योंकि हिन्दी-साहित्य इनमें से एक के बिना अपूर्ण रहेगा।

बालकों का कविता में प्रेम तभी उत्पन्न होगा जब उचित लय के साथ कही और कहलाई जावे। कविता सिखाने से लाभ हुआ या नहीं इसकी मुख्य जाँच तो यही है कि शाला के बाहर बालक उन कविताओं को आनन्द के साथ कहते या गाते हैं अथवा नहीं। स्कूल में यदि कोई बालक आनन्द के साथ लयपूर्वक कविता कहने लगता है, तो कई शिक्षक इसे गुस्ताख़ी समझने लगते हैं; परन्तु यथार्थ में यह शिक्षक की सफलता का सबूत है। लय के अर्थ यह नहीं हैं कि बालक उसे गाकर पढ़े, भावपूर्ण रीति से छन्द के रूप का ध्यान रखकर पढ़ना ही लयपूर्वक पढ़ना समझा जाना चाहिए।

कविता सिखाते समय लक्ष्य भावों की ओर रखना चाहिए और भाव

समझ लेने पर ही समास, सन्धि, तद्धित आदि का प्रकरण छेड़ना चाहिए। कविता एक फूल के समान है जो देखने में सुन्दर मालूम पड़ता है; परन्तु यदि फूल के टुकड़े टुकड़े कर दिये जावें, तो उसकी सुन्दरता नष्ट हो जाती है। इस कारण शब्दार्थ, व्याकरण, व्युत्पत्ति आदि पर अधिक समय नहीं ख़र्च करना चाहिए। भाव का सौन्दर्य दिखाने में जितना अधिक समय व्यतीत हो उतना ही अच्छा है। कविता का उद्देश्य केवल मस्तिष्क का शिक्षण ही नहीं किन्तु हार्दिक भावों तथा कल्पना का विकास करना भी है, इसलिए इसे पढ़ाते समय भाषा, व्याकरण आदि को उसके गौण अंग समझना ही ठीक है।

उत्तम प्रकार की कविता कंठाग्र करने को अवश्य दी जानी चाहिए और सब बालकों को एक साथ कहने की उत्तेजना मिलती रहनी चाहिए। यदि कविता यथार्थ में बालकों के उपयुक्त है और उसे उचित रीति से पढ़ाया गया है, तो वह उन्हें बिना प्रयत्न के ही याद हो जाती है। कविता सुनते समय तनिक-सी अशुद्धि भी न छोड़नी चाहिए; क्योंकि उससे काव्य-सौन्दर्य का भाव नष्ट हो जाता है।

यदि बालकों को पाठ्य-पुस्तकों के बाहर उत्तम कविता पढ़ने अथवा सुनने को मिले तो वे उसे अपनी नोट-बुक में लिख लिया करें और कक्षा में नियत समय पर सुनावें।

हिंदी की पाठशाला में बहुधा अन्वय पहले कराया जाता है और पीछे अर्थ बतलाया जाता है। यदि बालक अन्वय कर सकते हैं तो उन्हें अर्थ मालूम है और उन्हें बतलाने की आवश्यकता नहीं। यदि अर्थ नहीं मालूम तो अन्वय पूछना व्यर्थ है। अन्वय कराने से इस बात की जाँच हो सकती है कि बालकगण कविता का अर्थ समझते हैं या नहीं। जाँच करते समय जिन शब्दों का लोप हो गया है उनको कोष्टक में लिखने का अभ्यास कराया जाना लाभकारी है।

कविताओं में बहुधा उपमाओं का समावेश रहता है और उनको समझाना कठिन हो जाता है। कभी कभी श्यामपट पर उपमान, उपमेय और समानता को दिखलाने के लिए तीन खाने खींचकर यह लिखा जावे कि किसकी उपमा की गई, किसमे की गई और क्यों की गई है।

गद्य तथा पद्य

शब्दार्थ—शब्दार्थ सिखाते समय निम्नलिखित आदेशों का ध्यान रखने से शिक्षक को अपने कार्य में बहुत कुछ सहायता मिलेगी :—

(१) एक शब्द के लिए केवल दूसरा शब्द लिख देना ही लाभकारी नहीं है। भाषा के कोई भी ऐसे दो शब्द कठिनाई से मिलेंगे जिनका अर्थ बिलकुल एक-सा हो। जैसे :—

'अनमना' के माने 'रूठा' नहीं हो सकता। कारण मनुष्य किसी से रूठा न हो, तो भी अस्वस्थता के कारण अनमना रह सकता है। छोटे बालकों का शब्द-कोष बहुत परिमित रहता है इसलिए केवल पर्यायवाची शब्द बतला देने से उनके ज्ञान का विस्तार बहुधा बढ़ता नहीं। हाँ, शब्द-कोष अवश्य बढ़ जाता है। इसलिए शब्दों के भाव समझाने का प्रयत्न करना आवश्यक है। इसके लिए केवल पर्याय न देकर शब्द की परिभाषा भी बतलाई जाय और वे दोनों ही को अपनी कापी में लिख लें। उनका पूरा अर्थ केवल उपयोग-द्वारा सिखाया जा सकता है।

(२) शब्दों-द्वारा ज्ञान का विस्तार तभी बढ़ सकता है, जब इन्द्रियों-द्वारा अर्थ का ज्ञान कराया जावे। उदाहरण के लिए :—

'खट्टा', 'कसैला', 'चरपरा' आदि शब्दों का ज्ञान छोटे बालकों को वस्तुएँ चखकर हो सकता है—जब उन्हें अनुभव-द्वारा यह ज्ञान हो जावे कि कौन-सी वस्तु 'खट्टी' कहलाती है और कौन-सी 'कसैली' तथा कौन-सी 'चरपरी'। जब कभी शिक्षक प्रत्यक्ष ज्ञान कराने में असमर्थ हो तब नमूने, तसवीरों तथा ड्राइङ्ग-द्वारा आवश्यक ज्ञान दे सकता है। व्याघ्र को कक्षा में लाकर प्रत्यक्ष ज्ञान देना असम्भव है पर उसका माडल या तसवीर दिखाने से काम चल सकता है। जब यह भी न मिले तब ड्राइङ्ग का उपयोग किया जाय। ऐसी दशाओं में जब कि प्रत्यक्ष वस्तु बहुत छोटी हो जैसे :—मक्खी की सूँड़ या उसके पैरों तथा पंखों की बनावट, तब बड़े आकार में काले तख़्ते पर ड्राइङ्ग खींचने से वह जल्द समझ में आ सकती है।

(३) जब इन्द्रियों-द्वारा ज्ञान देना भी असम्भव या कठिन हो जाता है तब ज़बानी समझाने की आवश्यकता पड़ती है। वर्णन करके, तुलना करके अथवा उदाहरण देकर या विपरीत वस्तु का उल्लेख करके कार्य किया जा सकता है। उदाहरण के लिए यदि ट्राम का अर्थ समझाना है तो यह वर्णन करना होगा कि वह रेल के डब्बे के समान होती है और लोहे की पटरियों पर चलती है, उसमें इञ्जिन नहीं रहता, परन्तु सड़क पर जो बिजली का तार लगा हुआ रहता है उसमें से वह एक डण्डे के द्वारा शक्ति लेती जाती है। यदि सेंधव, साँभरी और समुद्री नमक का भेद बतलाना है तो उनके रूप, गुण तथा

उत्पत्ति-स्थान की तुलना करके अर्थ बतलाया जा सकता है। कभी कभी विपरीत अर्थ लेकर के भी अर्थ समझाया जा सकता है। जैसे :—'तीव्र' और 'मन्द' 'तीव्रबुद्धि' का उलटा 'मन्दबुद्धि'।

बालकों को उदाहरण-द्वारा भी अर्थ समझा सकते हैं। जैसे :—'ईर्षा' 'होड़ाहोड़ी' 'तुषार' आदि शब्दों के अर्थ इनके उदाहरण देकर बतलाये जा सकते हैं। नियम यह रखना चाहिए कि उदाहरण पूर्ण रूप से घटित हो। 'होड़ाहोड़ी' में हमेशा 'ईर्षा' नहीं रहती। 'ईर्षा' तभी आ जाती है जब 'होड़ा-होड़ी' में दूसरे को हानि पहुँचाकर अपना काम निकालने की योजना होने लगे।

(४) हर समय बालकों के अनुभवों का उपयोग करते रहना चाहिए। शब्दों के अर्थ तभी सार्थक होते हैं जब बालकों के अनुभवों से उनका सम्बन्ध हो जावे।

(५) शब्दार्थ देते समय इस बात का ध्यान रहे कि जिस लिङ्ग, वचन, काल तथा कारक आदि में मूल शब्द हों, उसी में अर्थ में दिया हुआ शब्द भी रहे।

उदाहरण के लिए 'तीव्रता' का अर्थ देते समय "तेज़ बुद्धिवाला" ऐसा शब्दार्थ दे देना अनुचित है क्योंकि मूल शब्द भाववाचक संज्ञा है और अर्थ में विशेषण का उपयोग किया गया है। शब्दार्थ ठीक है या नहीं इसकी जाँच तभी हो सकती है जब अर्थ में दिये हुए शब्द मूल शब्द के बदले वाक्य में रख दिये जावें और वह वाक्य शुद्ध बना रहे तथा उसके अर्थ में भी परिवर्तन न हो।

भावार्थ सिखलाने की विधि—जब किसी कठिन वाक्य के शब्दों के अर्थ परिचित हो जावें तब भावार्थ सिखाने के लिए 'विचार-पृथक्करण और पुनर्योजना' की रीति का अनुसरण करना लाभकारी होता है। उदाहरण (१) :—

"जब मनुष्य में काम करने का उत्साह नहीं रहता तब वह प्रारब्ध के भरोसे बैठ जाता है।"

प्रश्नों-द्वारा उपर्युक्त वाक्य का विचार-पृथक्करण इस प्रकार हो सकता है :—

प्रश्न—किसके बारे में बातचीत है ?

उत्तर—मनुष्य के बारे में है।

प्रश्न—उसके बारे में क्या कहा गया है ?

उत्तर—कि वह प्रारब्ध के भरोसे बैठ जाता।

प्रश्न—वह ऐसा कब करता है ?

उत्तर—जब उसमें उत्साह नहीं रहता।

अभी तक पृथक्करण का उपयोग किया गया है। अब शिक्षक यह कहे कि इन तीनों उत्तरों को एक साथ कहो। तब कदाचित् उत्तर यह मिलेगा कि—

"मनुष्य प्रारब्ध के भरोसे तब बैठ जाता है जब उसमें काम करने का उत्साह नही रहता।" अब शिक्षक दोनों वाक्यों की तुलना करने को कहे। यह निकलवावे कि अर्थ में कुछ परिवर्तन हुआ कि नहीं। इस विधि में पहले वाक्य के विचारों का पृथक्करण करने से उसे समझने में सहायता मिलती है और पीछे से योजना करने की शक्ति भी उत्पन्न होती है। बालकों को यह भी ज्ञात हो जाता है कि भिन्न प्रकार की योजना से बहुधा अर्थ में भी कुछ विशेष झलक आ जाती है। इस पद्धति को अँगरेज़ी में एनालिटिको-सिनथेकिट-पद्धति कहते हैं। हिंदी में इसे पृथक्करण-योजना-पद्धति कह सकते हैं।

दूसरा उदाहरण—

"जब कभी और जहाँ कहीं कोई जाति युद्ध-क्षेत्र में पराजित हो जावे तो यह निश्चय करना अन्याययुक्त न होगा कि उसमें कुछ न कुछ न्यूनता आ गई थी।"

प्रश्न—इस वाक्य में मुख्य बात क्या कही गई है ?

उत्तर—यह निश्चय करना अन्याय न होगा।

प्रश्न—किस बात का ?

उत्तर—कि उसमें कुछ न कुछ न्यूनता आ गई थी।

प्रश्न—कब निश्चय करना अन्याययुक्त न होगा ?

उत्तर—जब कोई जाति रणक्षेत्र में पराजित हो जावे।

प्रश्न—क्या यह नियम हमेशा सही है ?

उत्तर—'हाँ'।

प्रश्न—कैसे जाना ?

उत्तर—वाक्य में ये शब्द आये हैं कि "जब कभी और जहाँ कहीं।"

प्रश्न—"आ गई थी" किस 'काल' में हैं ?

उत्तर—'पूर्ण-भूत-काल' में।

प्रश्न—इस 'काल' का क्यों उपयोग किया गया ?

उत्तर—क्योंकि न्यूनता आने का कार्य पराजित होने के पहले ही पूर्ण हो गया था।

अब बालकों से इन उत्तरों को अपनी तरह से योजना करके एक साथ कहने को कहा जावे।

उत्तर कदाचित् इस प्रकार होगा :—

"यह निश्चय करना अन्याययुक्त न होगा कि उस जाति में कुछ न कुछ न्यूनता आ गई थी जो रण-क्षेत्र में पराजित हो गई और यह निश्चय हमेशा के लिए सही है।"

उपर्युक्त रीति का अनुसरण करने से बालकों को अनायास ही वाक्य-पृथक्करण की रीति भी सिखा दी जाती है। अनेक वाक्यों की योजना भी सिखाई जाती है और साथ ही कुछ व्याकरण का ज्ञान भी करा दिया जा सकता है। प्रश्न इस प्रकार पूछे जावें कि क्रमशः उद्देश्य, विधेय, विधेय-पूरक, उद्देश्य और विधेय वर्द्धक शब्द या उपवाक्य उत्तर में निकल आवें।

व्याकरण

पहले कह आये हैं कि जीवित भाषा को सिखलाने में व्याकरण की बहुत कम मदद मिलती है—विशेष करके तेरह चौदह वर्ष की अवस्था से कम अवस्था-वालों को सिखाते समय। इस अवस्था के बालकों में तर्क-शक्ति बहुत कम जाग्रत रहती है। वे लोग भाषा को उपयोग द्वारा ही अधिक सफलतापूर्वक सीख सकते हैं। परन्तु किशोरावस्था आने पर उनकी तर्क-शक्ति जाग्रत होने लगती है और वे व्याकरण-सम्बन्धी जटिल प्रश्नों को समझने के योग्य भी होने लगते हैं।

व्याकरण सिखलाने से दो मुख्य लाभ हो सकते हैं। एक तर्क-शक्ति का विकास और दूसरा भाषा के शुद्ध-रूप का ज्ञान। यदि उचित रीति से व्याकरण सिखलाया जावे तो बुद्धि तीव्र हो जाती है, तर्क-शक्ति बढ़ती है, शब्दों के अवलोकन करने की शक्ति तीव्र होती है और भाषा के ज्ञान की पूर्ति भी हो जाती है। इस बात का ध्यान रहे कि ये लाभ तभी होंगे जब तेरह चौदह वर्ष की अवस्था प्राप्त होने पर यह विषय सिखाया जावे।

व्याकरण के दो विभाग किये जा सकते हैं। एक तो तर्क-शास्त्र के आधार पर तैयार किया हुआ व्याकरण जो सब भाषाओं में एक-सा या प्रायः एक-सा रहता है। संज्ञा, सर्वनाम, विशेषण, क्रिया आदि के भेद और उपभेद केवल हिंदी-भाषा ही में न मिलेंगे वरन् उर्दू, अँगरेज़ी, संस्कृत, फ़ारसी आदि पृथ्वी की

सभी भाषाओं में प्रायः समान ही रूप से मिलेंगे। इस भाग में शब्द-भेद, उपभेद, वाक्य-पृथक्करण, व्याख्या का समावेश हो जाता है। इस भाग के सीखने से तर्क-शक्ति बढ़ती और बुद्धि कुशाग्र होती है।

किन्तु प्रत्येक भाषा के व्याकरण में कुछ अपनी विशेषतायें होती हैं। हिंदी में केवल दो ही लिङ्ग हैं। संस्कृत और मराठी में तीन लिङ्ग। हिंदी में लिङ्ग का प्रभाव क्रिया पर भी पड़ता है परन्तु अँगरेजी, बङ्गाली आदि भाषाओं में नहीं पड़ता। लिङ्गविचार, एकवचन-बहुवचन विचार, कारक, कालों आदि का उपयोग भिन्न भिन्न भाषाओं में अलग अलग तरह का होता है। इन रूपों की जानकारी हुए बिना अथवा उनका शुद्ध उपयोग किये बिना भाषा का शुद्ध उपयोग नहीं किया जा सकता। इस कारण इनकी शिक्षा विशेष लाभकारी है। कारक-रचना, काल-रचना, पुँल्लिङ्ग-स्त्रीलिङ्ग तथा एकवचन-बहुवचन आदि विषय ऐसे हैं जिनका जानना बालकों को उपयोगी है और ये दस वर्ष की अवस्था होने पर सिखलाये जा सकते हैं।

परन्तु इस बात का ध्यान रहे कि पाठ्य-पुस्तकों में आये हुए शब्दों तथा रूपों का ही उपयोग विशेषकर किया जावे और उन्हीं के द्वारा लिङ्ग, वचन, कारक, काल आदि का ज्ञान भी दिया जावे। हिंदी-व्याकरण की पुस्तक पढ़ाने से विशेष लाभ नहीं; क्योंकि अनेक पुस्तकों में बहुतेरी अनावश्यक बातें भरी रहती हैं। यही कारण है कि व्याकरण की पुस्तक पढ़ने में बालकों का मन नहीं लगता। 'सिन्टैक्स' अर्थात् वाक्य-विन्यास के नियम लाभकारी होते हैं। परन्तु व्याकरण की पुस्तकों में बहुत कम पाये जाते हैं। यह नियम भी उपयोग-द्वारा सिखलाये जावें। लिखने में जब बालक अशुद्धियाँ करें तभी उन नियमों की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया जावे। कोरे नियम बतलाने से लाभ नहीं होता।

व्याकरण सिखलाने की रीतियाँ—

व्याकरण सिखलाने की मुख्य दो रीतियाँ हैं :—

(१) **निगमन की विधि—**अर्थात् पहले अक्षरों का धर्म सिखलाया जाय; फिर अक्षरों से बने शब्दों का, फिर शब्दों से बने संयुक्त-शब्दों का, फिर पदों को और अन्त में वाक्यों को क्रमपूर्वक लेना। व्याकरण की अनेक पुस्तकें इसी विधि पर लिखी गई हैं। उनमें पहले वर्ण-विचार, फिर शब्द-साधन और

अन्त में वाक्य विन्यास का उल्लेख रहता है। यह वैज्ञानिक रीति है और वयस्क लोगों को व्याकरण पढ़ने में लाभकारी होती है। परन्तु इसमें यह दोष है कि अक्षर तभी सार्थक होते है जब उनका उपयोग शब्दों में होने लगता है और शब्द भी पूर्णतया सार्थक तभी होते हैं जब उनका उपयोग वाक्यों में देखा जाता है। इसलिए यह पद्धति अल्प-वयस्क बालकों को व्याकरण सिखाने में लाभकारी नहीं होती।

(२) पृथक्करण की रीति—वाक्य सार्थक होते हैं, इस कारण उन्हें लेकर पृथक्करण कराया जाता है। पृथक्करण से पदों तथा उपवाक्यों के धर्म और उनके भेदों का ज्ञान उत्पन्न होता है। पीछे से पदों में आये हुए शब्दों का धर्म, उनका उपयोग और उनके रूपान्तर आदि का ज्ञान होने लगता है। शब्दों के ज्ञान होने के उपरान्त वर्ण-विचार का लेना रुचिकर होगा।

मनुष्य जब कभी ज्ञान उपार्जन करता है तो बहुधा पृथक्करण की रीति का अनुसरण करता है और इस कारण यह रीति स्वाभाविक कही जा सकती है।

पहले कह आये हैं कि व्याख्या सिखाने का मुख्य उद्देश्य तर्क-शक्ति को बढ़ाने का है। इसलिए परिभाषा और वर्गीकरण सिखाते समय तर्क-शास्त्र के नियमों का पालन करना चाहिए। उदाहरण के लिए यदि भूतकाल में क्रिया की पूर्णता, अपूर्णता, निकटता आदि का विचार करना आवश्यक है तो अन्य कामों में भी इनका विचार किया जावे। यदि क्रिया के समय से काल का निरूपण करना हो तो वर्गीकरण एक प्रकार से होगा। परन्तु यदि कहनेवाले की चित्त-वृत्ति से निर्णय करना हो तो वर्गीकरण दूसरी तरह से होगा। उदाहरण के लिए यह वाक्य लिया "रेलगाड़ी जा रही है।" यदि गाड़ी के जाने का समय देखा जावे तो इस कथन का अर्थ है कि गाड़ी निकट भूतकाल में जा रही थी, वर्तमान में जा रही है और निकट भविष्यत्काल में भी जावेगी। इस का काल भूत, वर्तमान, भविष्यत् की खिचड़ी ही है।

दूसरा उदाहरण "वह सबेरे लिखा करता है।" इसकी क्रिया का समय देखा जावे तो लिखने का कार्य भूतकाल में हुआ, वर्तमान में जारी है और भविष्यत् में कदाचित् जारी रहेगा। यदि बोलनेवाले की चित्तवृत्ति देखी जावे तो क्रिया वर्तमानकाल में कहेंगे। तर्क-शास्त्र के अनुसार भूत और भविष्यत् के बीच में वर्तमान केवल एक विभाजक रेखा है। इस रेखा की चौड़ाई नहीं होती और इसलिए किसी कार्य का समय केवल वर्तमान में नहीं हो सकता, क्योंकि यदि

उस कार्य में पाँच सेकंड भी लगें तो एक से अधिक कालों की खिचड़ी बन जाती है। यदि कहनेवाले की चित्तवृत्ति से काल की गणना की जावे तो कालों का वर्गीकरण उसी आधार पर करना चाहिए। "मैं गया हूँ" इसमें 'हूँ' शब्द के उपयोग से प्रतीत होता है कि कहनेवाले की चित्तवृत्ति वर्तमान की तरफ़ है और उसके कहने का अर्थ यह है कि "मैं हूँ—गये हुए की स्थिति में।" तो फिर इस क्रिया को भूतकाल में क्यों लेना चाहिए?

इसी प्रकार जो परिभाषा तैयार की जाय वह सोच समझकर व्यापक सिद्धान्तों पर तैयार की जावे। उदाहरण के लिए यदि क्रिया की यह परिभाषा दी जाय कि क्रिया से काम का करना पाया जाता है तो वह व्यापक नहीं है। कारण "ईश्वर है" इस वाक्य की क्रिया से काम का करना नहीं पाया जाता और उसे क्रिया नहीं कह सकेंगे। इसी प्रकार यदि यह परिभाषा दी जाय कि विशेषण संज्ञा का गुण बतलाता है तो अवगुण बतानेवाले विशेषण जाति-बाहर हो जाते हैं।

तर्क-शास्त्र के आधार पर परिभाषा बनाना अथवा वर्गीकरण करना सरल कार्य नहीं है। इसमें बालक तथा शिक्षक तो क्या, अच्छे अच्छे वैयाकरण गोता खा जाते हैं और उनमें भी मतभेद हो जाता है। इसलिए निर्दोष परिभाषा बनाना या सिखलाना कठिन कार्य है। परन्तु इसके सीखने से लाभ तभी है जब बालकों को इस बात की उत्तेजना बराबर मिले कि वे अपनी बुद्धि लड़ाते रहें। मत-भेद से हानि नहीं—वरन् लाभ है।

व्याकरण सिखलाते समय अनेक उदाहरणों को पहले लेना चाहिए फिर उन उदाहरणों पर विचार करना चाहिए; फिर उनके आधार पर किसी व्यापक नियम को बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अन्त में उस नियम की जाँच पाठ्य-पुस्तक में से अन्य उदाहरण लेकर फिर से करनी आवश्यक है। तभी पूरा लाभ हो सकता है।

पृथक्करण और व्याख्या कराते समय इस बात पर विशेष लक्ष्य रहना चाहिए कि किसी पद या शब्द का स्थान वाक्य में कौन-सा है। यह स्पष्ट रीति से दर्शाया जावे।

"मैं घर पर बैठा क्या करूँगा ऐसा उसके मन में प्रश्न उठा"। 'ऐसा' शब्द के प्रयोग से भ्रम होता है कि "मैं घर पर बैठा क्या करूँगा" यह उप-वाक्य विशेषणात्मक है। परन्तु उसका धर्म देखने से पता लगता है कि यह

संज्ञात्मक है और "उसके मन में प्रश्न उठा" क्रिया का यथार्थ में कर्म के समान है। "जो मनुष्य अपना काम फ़िक्र के साथ नहीं करता सो ठोकर खाता है"। 'जो' और 'सो' सर्वनाम मालूम पड़ते हैं परन्तु यथार्थ में वे समुच्चय-बोधक संयोजक शब्द भी हैं, और दोनों उपवाक्यों का सम्बन्ध बतलाते हैं। पृथक्करण तथा व्याख्या कराते समय इसी प्रकार का सम्बन्ध दिखलाने पर ध्यान रक्खा जावे। गौण बातों पर अधिक लक्ष्य देने की आवश्यकता नहीं है।

हिंदी के शिक्षक विराम-चिह्न के उपयोग का अभ्यास कम कराते हैं। एक दो पाठ दे देने से बालकगण इनका उपयोग नहीं सीख सकते। जब कभी और जहाँ कहीं विद्यार्थी-गण कुछ लिखें, तभी विराम-चिह्न यथोचित स्थान पर लगाने का आदेश मिलता रहे। विराम-चिह्न का उपयोग सिखाने की सुगम रीति यही है। इसी प्रकार पाठ्य-पुस्तकों में जैसे जैसे सन्धि, समास, कृदन्त, अलङ्कार आदि आते जावें वैसे वैसे वहीं पर समझा देने से इन विषयों का ज्ञान बालकों को होता जावेगा।

अभिनय—बालकों में स्वभावतः अभिनय करने का शौक़ रहता है और उसके लिए उचित अवकाश देने से भाषा का ज्ञान विस्तीर्ण होता है। अभिनय करने के अभिनेता को लेखक के भावों में लिप्त हो जाना पड़ता है। उससे उसकी भाषा का पूर्ण अर्थ परिचित हो जाता है। परन्तु अभिनय कराते समय बालकों के उपयुक्त नाटक चुने जावें। चाहे जो नाटक देकर अभिनय करना उचित नहीं। छोटी कक्षाओं में जहाँ कहीं वार्तालाप के पाठ आवें वहाँ भी अभिनय का रूप दिया जा सकता है।

याद करने के पाठ—छोटे बालकों की स्मरण-शक्ति बड़ी तीव्र होती है। भाषा सीखते समय उस शक्ति का उपयोग करना आवश्यक है। पहले कह आये है कि उत्तम उत्तम कविता सुनकर याद करने को देनी चाहिए। पर उत्तम उत्तम गद्य-लेख भी समय समय पर याद करने को देना लाभकारी है। ऐसा करने से भाषा का ज्ञान और उसकी उपयोगिता, उत्तम शैली का परिचय हो जाता है।

पहेली—अन्त्याक्षरी—हिंदी-संसार में कुछ वर्ष हुए पहेलियों का बहुत कुछ उपयोग होता था और छोटे छोटे बालक भी आपस में अनेक पहे-

लियाँ कहते और उत्तर पूछते थे। अभाग्यवश यह प्रथा कम होती जाती है। पहेलियों के सीखने और उनके उत्तर देने से भाषा का ज्ञान बढ़ता और बुद्धि भी जाग्रत होती है। हिंदी-भाषा में सैकड़ों ही नहीं बल्कि हज़ारों पहेलियाँ हैं। उनका प्रचार हर तरह से बढ़ाना शिक्षकों का कर्तव्य है।

अन्त्याक्षरी का प्रचार भी भाषा-शिक्षण में बहुत कुछ लाभकारी हो सकता है। बालकों में उसका प्रचार करना आवश्यक है।

चतुर्थ अध्याय

मातृभाषा की शिक्षा

(उर्दू की शिक्षा का विशेष ध्यान रखते हुए)

यह एक प्रचलित कहावत है कि शिशु मातृभाषा को माता के दूध के साथ पान करता है। इसका तात्पर्य यह है कि हमें अपनी मातृभाषा से स्वभावतः घनिष्ठ प्रेम तथा उसके साथ हमारा बड़ा गहरा सम्बन्ध होता है। संसार का बोध होते ही हम इसे सुनते हैं और अनुकरण-द्वारा उसे प्राप्त करते हैं। शैशवावस्था में जिन टूटे फूटे शब्दों-द्वारा हम अपने प्रारम्भिक किन्तु अत्यावश्यक विचारों तथा भावों को व्यक्त करते हैं वे हमें अपनी मातृभाषा से ही प्राप्त होते हैं। उनकी सहायता बिना न तो हम अपनी आवश्यकताओं को दूसरों पर प्रकट कर सकते हैं न उनके भावों को समझ सकते हैं। अस्तु एक ओर तो हम विचार-विनिमय तथा अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भाषा की सहायता पर निर्भर हैं और दूसरी ओर उससे अपने व्यक्तित्व के प्रकट करने की इच्छा को सन्तुष्ट करते हैं जो कि प्रत्येक मनुष्य में स्वभावतः होती है और जो कहीं शिशु के तोतले बोलों में प्रकट होती है और कहीं वक्ता के धाराप्रवाह भाषण तथा कवि के मधुर काव्य में। इसलिए हम स्वभाव से तथा परिस्थितियों के कारण उसी भाषा को ग्रहण करते हैं जिसको 'मातृभाषा' का प्रिय नाम दिया जाता है। यह सत्य है कि कुछ लोगों को जिन्हें भाषा सीखने में रुचि होती है कभी कभी स्वेच्छा से या परिस्थितिवश होकर अन्य भाषाएँ सीखनी पड़ती हैं और अपने भाव व्यक्त करने का माध्यम बनानी पड़ती हैं। आजकल भारतवर्ष में अँगरेज़ी को यही स्थान प्राप्त है। किन्तु ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है। प्रायः ६० प्रतिशत या इससे भी अधिक लोगों को अपने विचार प्रकट करने के लिए अथवा अपने ज्ञान की वृद्धि के लिए मातृभाषा ही स्वाभाविक तथा उपयुक्त सिद्ध होती है। यदि किसी देश में मातृभाषा की शिक्षा उपयुक्त तथा सत्य सिद्धान्तों के अनुसार न दी जाय तो चाहे शिक्षित मनुष्य और विद्यार्थों में

कितनी ही प्रवीणता प्राप्त कर लें किन्तु उनकी शिक्षा अपूर्ण तथा निरर्थक ही रहेगी। अस्तु उर्दू के अध्यापक का सबसे बड़ा कर्तव्य यह है कि वह विद्यार्थियों के हृदयों में इसकी महत्ता का भाव उत्पन्न कर दे तथा उसका सम्मान और उससे प्रेम करना सिखाये जिससे वे समझने लगें कि उसका शुद्धता तथा सुन्दरता से बोलना, पढ़ना तथा लिखना उनका वैयक्तिक तथा जातीय धर्म है। अध्यापक को चाहिए कि अपने वार्तालाप तथा शिक्षण से बालकों पर यह प्रकट कर दे कि उनके पुरखों के आचार-विचार तथा सभ्यता इसी भाषा में सुरक्षित हैं और यदि वे चाहते हैं कि इस अमूल्य पितृधन से लाभ उठाएँ तो यह आवश्यक है कि वे अपनी मातृभाषा पर पूर्ण अधिकार प्राप्त करें।

सर्वप्रथम यह निश्चित करना आवश्यक है कि स्कूलों में उर्दू की शिक्षा किन ध्येयों की प्राप्ति के लिए देनी चाहिए। एक लक्ष्य की ओर हम अभी संकेत कर चुके हैं अर्थात् प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति में यह योग्यता होनी चाहिए कि वह अपनी मातृभाषा को शुद्धता तथा सरलता के साथ बोल सके, उसको समझकर पढ़ सके और लेखन-द्वारा साफ़ साफ़ और पूर्णरूप से अपना भाव प्रकट कर सके। आधुनिक समय में इस योग्यता की आवश्यकता बहुत अधिक बढ़ गई है क्योंकि अब जीवन के अधिकतर भाग में जिह्वा का राज्य तलवार या बन्दूक़ से बहुत अधिक है। स्वयं हमारे देश में उत्तरदायित्वपूर्ण शासन स्थापित होनेवाला है और वोट का अधिकार शनैः शनैः जनता को दिया जा रहा है। इन अधिकारों से लाभ उठाने के लिए केवल साधारण पढ़ाई लिखाई पर्याप्त नहीं है किन्तु लोगों को प्रभावित करने के लिए तथा उनके विचार अपने अनुकूल बनाने के लिए हमारी भाषा की योग्यता इतनी होनी चाहिए कि हम भावपूर्ण तथा साफ़ साफ़ वार्तालाप कर सकें और अपने विचार लिखकर भी इस प्रकार प्रकट कर सकें कि पाठक हमारा अर्थ सरलता से समझ सकें और हमारी राय से प्रभावित हों। यह सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति के भाषण तथा लेखन में वह चमत्कार तथा जादू नहीं आ सकता कि जो श्रोता तथा पाठक के हृदय में आग लगा दे। यह विभूति तो बड़े बड़े कवियों तथा लेखकों ही के भाग में होती है। जैसे अनीस की उक्तियां जो हृदय में सीधे उतर जाती हैं या हाली के कथन जिन्होंने एक सोई हुई जाति को जाग्रत कर दिया। किन्तु उत्तम शिक्षा से इतना अवश्य हो सकता है कि प्रत्येक शिक्षित व्यक्ति के भावप्रकाशन में तार-तम्य, मधुरता तथा स्वच्छता उत्पन्न हो जाय और वह बिना झिझक या हिच-किचाहट के अपना अर्थ व्यक्त कर सके।

किसी भाषा की शिक्षा का दूसरा लक्ष्य यह होता है कि उसके द्वारा विद्यार्थी लाभप्रद तथा रोचक ग्रन्थों का अध्ययन करके अपने ज्ञान तथा अनुभव की वृद्धि करें। मानवजाति के सारे अनुभव तथा कृतियाँ, विद्या तथा कला के अमूल्य भाण्डार, दर्शन-शास्त्र तथा नैतिक विज्ञान के रत्न पुस्तकों के रूप में सुरक्षित हैं। यह सारा ज्ञान तथा विद्या का भाण्डार हमारा ही है यदि हममें इससे लाभ उठाने की योग्यता हो। यदि हम बाज़ार से कोई पुस्तक मोल लें तो साधारण रीति से वह हमारी सम्पत्ति हो जाती है किन्तु इसका यह अर्थ नहीं हो जाता कि हम उस ज्ञान तथा अनुभव के भी स्वामी हो जाते हैं जो उस पुस्तक के पृष्ठों में सुरक्षित हैं। ज्ञान को शब्दोंरूपी गोरखधन्धे से मुक्त करके मनुष्य के हृदय में स्थापित करने के लिए केवल शब्दों को पहचानने की शक्ति या उनके कोष में दिये हुए अर्थ का जानना ही यथेष्ट नहीं है। इसके लिए अध्ययन की आवश्यकता होती है जो कि बालकों में स्वयं ही नहीं उत्पन्न हो जाती बल्कि नियमानुसार शिक्षा तथा अभ्यास से पोषित होती है। उर्दू की प्रचलित शिक्षाप्रणाली में एक बहुत बड़ा दोष यह है कि विद्यार्थी को अध्ययन करने की आवश्यक कला नहीं सिखाई जाती। शिक्षक प्रायः यही समझ लेते हैं कि अध्ययन करना और पुस्तक का बाँचना पर्यायवाची शब्द हैं। वास्तव में उनका कर्तव्य है कि अपने विद्यार्थियों को इस बात की नियमानुसार शिक्षा दें कि साहित्यिक तथा नैतिक गद्य, पद्य और कहानी इत्यादि भिन्न भिन्न विषय के पाठों को पढ़ने में उन्हें किन विशेष बातों को ध्यान में रखना चाहिए जिससे कि वे इनसे भरपूर लाभ उठा सकें।

इसमें सन्देह नहीं कि अध्यन-विधि सिखाना केवल उर्दू के अध्यापक ही पर निर्भर नहीं है। इसमें सब शिक्षकों का सहयोग होना आवश्यक है। जब तक अपने अपने विषय के अध्यापन में वे इस उद्देश्य को सम्मुख न रखेंगे तब तक उसमें पूर्ण सफलता नहीं प्राप्त हो सकती। संयोगवश कुछ ही काल पहले इस विषय की एक उत्तम पुस्तक प्रकाशित हुई है जिसका नाम "कामयाब मुताला" (सफल अध्ययन) है और जिसके लेखक ट्रेनिङ्ग कालिज अलीगढ़ के प्रोफ़ेसर सय्यद तजम्मुल हुसेन साहब एम० ए०, बी० टी० हैं। अध्यापकों तथा उच्च कक्षाओं के विद्यार्थियों के लिए यह पुस्तक विशेषकर उपयोगी है। इसमें विशद रूप से इस विषय की व्याख्या की गई है। हम इस छोटे से अध्याय में स्थानाभाव के कारण अध्ययन करने की विधियों का वर्णन नहीं कर सकते। किन्तु इतना बता देना आवश्यक है कि इस सम्बन्ध में उर्दू के अध्यापक का विशेष कर्तव्य

क्या है। शिक्षक को चाहिए कि विद्यार्थियों की पाठ्य-पुस्तक में से विविध विषय के पाठ लेकर उन्हें बताये कि उनका अर्थ ग्रहण करने के लिए किस मार्ग का अवलम्बन करना चाहिए क्योंकि अध्ययन का ढङ्ग विषय के अनुसार बदल जाता है। उदाहरणार्थ यदि किसी साहित्यिक पाठ का अध्ययन करना है जिसमें किसी विशिष्ट विषय पर लाभप्रद बातें लिखी गई हैं तो प्रत्येक अनुच्छेद में से महत्त्वपूर्ण तथा केन्द्रिक बातों को ढूँढ़ लेना चाहिए और उनके पारस्परिक सम्बन्ध पर विचार करना चाहिए। यदि किसी पद्य का अध्ययन करना है तो विद्यार्थी को इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि उस विशेष भाव, विचार या दृश्य की स्पष्ट रूप से कल्पना करे जो कवि के ध्यान में था। इसके साथ ही यह भी देखना चाहिए कि उसको व्यक्त करने या उसका चित्र खींचने में कवि ने किस वर्णन-शैली का अनुसरण किया है, शब्दों का चुनाव कैसे किया है, उनके द्वारा कवि का इच्छित चित्र हमारे मस्तिष्क में खिंचता है या नहीं। इसी प्रकार पद्य के अध्ययन का एक अङ्ग यह भी है कि हम उसके शब्द विन्यास तथा ध्वनि-माधुर्य्य से भी आनन्द उठाएँ। मान लीजिए कि विद्यार्थी को किसी आख्यायिका या उपन्यास का अध्ययन करना है। यहाँ उसे कुछ विशेष बातों पर ध्यान देना चाहिए। उपन्यासकार ने अपने उपन्यास का प्लाट कैसा बनाया है। उसके पात्रों के चरित्र को अपने वर्णन तथा उनके वार्तालाप द्वारा किस प्रकार अङ्कित किया है, इत्यादि। ये बातें विद्यार्थी अपनी शक्ति तथा योग्यता के अनुसार ही समझ पायेंगे किन्तु शिक्षक को शनैः शनैः उन्हें ऐसे मार्ग पर लगाना चाहिए कि वे इनका मनन करना सीखें। यह समझ लेना कि शिक्षक का कर्तव्य पाठ को पढ़वाकर तथा कठिन शब्दों के अर्थ कराकर समाप्त हो जाता है, और पाठ को समझाना, उस पर वाद-विवाद कराना, विचार-विनिमय कराना तथा छात्रों का अनुभव विस्तृत कराना उसका काम नहीं, बड़ी भूल होगी। ये बातें विद्यार्थी स्वयं नहीं समझ सकते। इनके लिए शिक्षकों के आदेश तथा निरीक्षण की आवश्यकता है क्योंकि इनके बिना छात्रों में अध्ययन की बात नहीं आती।

अध्ययन की बान डालने से हमारा आशय यह है कि विद्यार्थी को कोर्स से बाहर की पुस्तकें पढ़ने की रुचि हो जाय और वह पुस्तकावलोकन को अपने अवकाश के समय के नियमित मनोरञ्जन का साधन बना ले। प्रचलित शिक्षा-प्रणाली में एक दोष यह भी है कि विद्यार्थी में अध्ययन की बान तथा रुचि नहीं उत्पन्न होती। हमारे देश में ऐसे लोगों की एक बड़ी संख्या है जो पाठशाला से निकलने के पश्चात् कोई पुस्तक या पत्र उठाकर भी नहीं देखते। कभी कभी तो

ऐसा होता है कि जो लोग केवल प्राइमरी कक्षा तक शिक्षा पाते हैं वे कुछ वर्षों के अनन्तर कृषि, हस्तकला और किसी प्रकार की मेहनत-मज़दूरी में पड़कर साधारण लिखना पढ़ना भी भूल जाते हैं—यहाँ तक कि शिक्षा-सम्बन्धी जन-संख्या की गणना में वे अपढ़ों में ही गिने जाते हैं। यह बात उनके लिए तो हानिकर है ही पर देश और जाति के लिए और भी हानिकर है। इसकी औषधि यही है कि छात्रों को पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त, समाचार-पत्र, पत्रिकाएँ तथा सरल, लाभदायक और रोचक पुस्तकें पढ़ाई जायँ जिससे कि केवल उनके साधारण विद्यावृद्धि तथा पढ़ने में प्रवाह और अभ्यास ही न बढ़े बल्कि वे अपनी ज्ञान-वृद्धि करने तथा अवकाश का समय बिताने के लिए उत्तमोत्तम पुस्तकों को अपना साथी तथा मार्ग-प्रदर्शक बना लें और उनके द्वारा अपने व्यक्तित्व की उन्नति तथा अनुभव को विस्तृत करने का प्रयत्न करें। हमारे स्कूलों में कई कारणों से इस ओर उदासीनता दिखाई जाती है। बहुत-से अध्यापकों का तो इस ओर ध्यान ही नहीं जाता क्योंकि उन्हें विस्तृत और साधारण अध्ययन की महत्ता का ज्ञान ही नहीं होता। कुछ शिक्षक जो इस ओर ध्यान देना भी चाहते हैं परीक्षा के परिणाम के भय से अपना सारा समय पाठ्य-पुस्तकों में ही व्यय कर देते हैं। फिर एक कठिनाई और है कि अधिकतर नगरों और देहात के स्कूलों में अन्य पुस्तकों की तो बात ही क्या है पाठ्य पुस्तकें भी अलभ्य हैं। किन्तु इन सब कठिनाइयों के होने पर भी कहीं कहीं उपयुक्त परिस्थिति पाकर शिक्षक प्रयत्न करते हैं कि विद्यार्थियों को पाठ्य-पुस्तकों के अतिरिक्त पुस्तकें भी पढ़ाई जायँ किन्तु उनमें इतनी योग्यता नहीं होती कि वे उचित पुस्तकें चुन सकें। वे यह निश्चय नहीं कर सकते कि बालक किन पुस्तकों को चाव से पढ़ेंगे। छोटे बालकों को बालकक्षा से लेकर मिडिल तक आख्यायिकाओं, उपन्यासों, जीवनियों, जासूसी कहानियों, देशों और जातियों की कथाओं, और सरल तथा सर्वसाधारण के समझने योग्य विज्ञान के आविष्कारों से विशेष प्रेम रहता है। उन्हें पुस्तकें पढ़ने का अभ्यास इसी प्रकार हो सकता है कि आरम्भ में शिक्षक बालकों को वही पुस्तकें पढ़ने को दे जिनसे उनका चित्त न ऊबे बल्कि कथा के आकर्षण से वे उन्हें पढ़ जायँ। पाठ्य-पुस्तकों के पाठों के चुनने में भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए। कुछ आवश्यकता से अधिक गम्भीर और विचारशील माता-पिता तथा शिक्षक यह प्रयत्न करते हैं कि उनके बालक कथा-कहानी का नाम तक न लें क्योंकि उन्हें इस बात का संदेह रहता है कि उनसे बालकों का चरित्र बिगड़ जाता है। किन्तु यह कठोरता अनावश्यक है और बाल-प्रकृति के सरासर विरुद्ध

है। यह सत्य है कि हमारी भाषा में बुरी कहानियाँ प्रचुरता से पाई जाती हैं जो बालकों के लिए सर्वथा अनुपयुक्त हैं। किन्तु साथ ही साथ उर्दू भाषा में ऐसी कहानियों और मनोरञ्जक पुस्तकों का भी पर्य्याप्त भंडार है जो बालक निःशंक होकर पढ़ सकते हैं। वास्तव में बालकों की शिक्षा का प्रथम कठिन सोपान यह है कि उन्हें पढ़ने के मार्ग पर डाला जाय और उनमें अध्ययन की बान डाली जाय। आचार-निर्माण करनेवाली तथा गम्भीर पुस्तकों की ओर ध्यान देने की बारी इसके पश्चात् आती है। एक अँगरेज़ लेखक का कथन है कि बालकों के लिए प्रारम्भ में "शैली इत्यादि के ज्ञान से प्रवाह की आवश्यकता अधिक है"। जब उनमें प्रवाह उत्पन्न हो जाय और वे बिना थकावट के अपनी रुचि की पुस्तकें पढ़ने लगें और उनके विषय में रोचक वार्तालाप करने लगें उस समय शिक्षक को चाहिए कि शनैः शनैः उन्हें साहित्य के और रूपों से परिचित करे, जैसे ऐतिहासिक कहानियाँ, इतिहास, भूगोल तथा विज्ञान के सिद्धातों पर सरल तथा मनोरञ्जक पुस्तकें तथा प्रसिद्ध लेखकों के सरल तथा सबके समझने योग्य लेख पढ़ने के लिए दें जिससे धीरे धीरे उनका शील-स्वभाव उत्तम बन जाय और उन्हें भले बुरे का ज्ञान हो जाय तथा उनमें मानसिक सतर्कता उत्पन्न हो। इस लक्ष्य को साधने में शिक्षक को स्वयं बालकों के स्वभाव से बड़ी सहायता मिलेगी क्योंकि ज्यों ज्यों उनकी अवस्था बढ़ती जाती है त्यों त्यों उनकी रुचियों में भी परिवर्तन होते जाते हैं। केवल काल्पनिक गल्पों से उनकी तुष्टि नहीं होतीं। अब बालक अपने आस-पास के जीवन तथा मनुष्यों के कार्य्यों में रुचि दिखाता है। इस परिवर्तन से लाभ उठाकर शिक्षक उन्हें लगभग नौ दस वर्ष की अवस्था से इन पुस्तकों पर लगा सकता है। किन्तु शर्त यही है कि पुस्तकें शुष्क भाषा में न लिखी हों और उनका ढंग रोचक तथा सरल हो।

कुछ पाठशालाओं में विद्यार्थियों की अध्ययन में रुचि उत्पन्न करने के लिए यह ढंग निकाला गया है कि उन्हें बहुत-सी पुस्तकों की सूची दे दी जाती है जो उनकी अवस्था तथा योग्यता के अनुरूप होती है और उन्हें आदेश किया जाता है कि उनमें से वे जितनी पुस्तकें पढ़ सकें पढ़ डालें और पुस्तक तथा उसके लेखक का नाम और उसके विषय का संक्षिप्त वर्णन एक नोटबुक में लिख लें। शिक्षक यदा-कदा उन नोटबुकों का निरीक्षण करते हैं, विद्यार्थियों से पुस्तकों के विषय में वार्त्तालाप करते हैं, उनके विचार जानते हैं और इस प्रकार उनकी रुचि का पता लगाते हैं। थोड़ा उत्साहित करने से शिक्षक उनमें यह इच्छा उत्पन्न कर सकता है कि वे इस विषय में परस्पर प्रतियोगिता करें और प्रत्येक

बालक एक दूसरे से अधिक पुस्तकें पढ़े। रुचि की वृद्धि करने के लिए कुछ शिक्षक तनिक संकेत-द्वारा बालकों में यह इच्छा उत्पन्न कर सकते हैं कि वे अपनी अपनी कापियों को बहुत स्वच्छ और सुन्दर बनावें, इनकी सुन्दर जिल्दें बाँधें, उनमें पुस्तकों के नाम इत्यादि के अतिरिक्त अपनी पसन्द की कविताएँ तथा गद्य के अवतरण लिखें। इस प्रकार वह अपनी अपनी कापियों से प्रेम तथा उन पर गर्व करना सीखते हैं और पाठशाला त्यागने पर भी कभी कभी चाव से उनके पन्ने उलटते हैं।

भाषा की शिक्षा का तीसरा उद्देश्य यह है कि विद्यार्थी गद्य तथा पद्य के उत्तमोत्तम उदाहरणों से आनन्द उठाना सीखें। पाठशाला के प्रत्येक बालक में थोड़ी-बहुत यह इच्छा अवश्य होती है कि वह सुन्दर वस्तुओं से आनन्द प्राप्त करे। उदाहरणार्थ जब वह किसी सुन्दर चित्र या भवन को या किसी रम्य प्राकृतिक दृश्य को देखता है या कोई मधुर राग सुनता है तो उसे बड़ी प्रसन्नता होती है और वह एक विशेष प्रकार का आनन्द प्राप्त करता है। भिन्न भिन्न लोगों में यह इच्छा भिन्न भिन्न मात्रा में होती है और सम्भव है कि कुछ लोग ऐसे भी हों जिनमें यह रसिकता बिलकुल न हो। किन्तु साधारणतया सब बालकों तथा युवकों में यह रसिकता होती है और यदि शिक्षक तथा माता-पिता इस ओर समुचित ध्यान दें तो यह चमक उठती है। यदि वे इस ओर से उदासीन रहेंगे तो सम्भव है कि सुन्दर वस्तुओं से आनन्दित होने की उनकी यह रसिकता बिलकुल नष्ट हो जाय। इस गुण की वृद्धि तथा उन्नति करना केवल भाषा-शिक्षक ही का कार्य नहीं है बल्कि इस विषय की ओर सब शिक्षकों और विशेषकर हस्तकला, प्रकृतिनिरीक्षण और इतिहास के शिक्षकों को ध्यान देना चाहिए। सबको इस बात का प्रयत्न करना चाहिए कि पाठशाला की प्रत्येक वस्तु में स्वच्छता, सौष्ठव तथा सुन्दरता का दर्शन हो जिसका प्रभाव विद्यार्थियों के शील पर स्वयमेव ही अच्छा पड़े। जहाँ तक भाषा की शिक्षा से सम्बन्ध है शिक्षक का कर्तव्य है कि वह आरम्भ ही से बालकों के सम्मुख गद्य तथा पद्य के सर्वोत्तम उदाहरण ही उपस्थित करे जिससे वे आरम्भ ही से सोच विचार करने के पूर्व उनसे आनन्द उठाना सीखें। इस गुण के उत्पन्न करने में शिक्षक के निजी साहित्यिक प्रेम, उत्साह, उसके स्वर, पढ़ने के ढंग का बड़ा प्रभाव पड़ेगा। जैसे यदि शिक्षक किसी पद्य को इस भाव से पढ़े कि विद्यार्थी स्वयमेव यह अनुभव करे कि उसे वह पद्य बहुत प्रिय है और अच्छा जान पड़ता है तो वह भी उससे प्रभावित और आनन्दित होगा। यही दशा उत्तम गद्य की भी होगी।

अस्तु एक ओर तो शिक्षक का यह कर्तव्य है कि वह स्वयं अच्छा पढ़ने का अभ्यास डाले और दूसरी ओर यह कि विद्यार्थियों को ओजस्वी तथा भावपूर्ण ढंग से पढ़ना सिखाए। कुछ शिक्षक प्रायः कक्षा में अच्छे विद्यार्थियों को केवल उच्च स्वर में पढ़ाते ही नहीं हैं बल्कि कभी कभी बहुत अशुद्ध उच्चारण करनेवाले छात्रों से सारी कक्षा के सम्मुख पढ़वाते हैं। उनका आशय यह होता है कि ऐसे विद्यार्थियों की झिझक दूर हो जाय और उनको अच्छा पढ़ने की बान पड़े। किन्तु यह प्रथा ठीक नहीं है। कक्षा के सम्मुख उच्च स्वर से पाठ करना एक ऐसा कार्य है जो बहुत उत्तम विद्यार्थियों के ही भाग में पड़ना चाहिए जिन्होंने पूर्व से इस पाठ की तैयारी की है। तैयारी के बिना, अटक अटक कर पढ़ने में तथा प्रत्येक नवीन शब्द के साथ युद्ध करने में विद्यार्थी तथा उसके साथियों का समय व्यर्थ नष्ट होता है। ऐसे विद्यार्थियों के सुधार का उत्तम मार्ग तो यह है कि शिक्षक उन्हें अपने समीप बुलाकर पृथक् पृथक् पढ़वाये और उनकी प्रमुख त्रुटियों तथा अशुद्धियों को सुधारे। जब उनका पढ़ना अच्छा हो जाय तो समस्त कक्षा के आगे उन्हें पारितोषिक स्वरूप पढ़ने का अवसर देना चाहिए। क्योंकि उच्च स्वर से पढ़ने का ध्येय तभी पूर्ण होता है जब किसी बड़े लेखक या कवि की कृति पढ़ते हुए एक ओर हम उसके भाव-प्रकाशन की बारीकियाँ तथा उत्तमता की प्रशंसा करें और दूसरी ओर हमारे श्रवणों को उसके शब्दों की ध्वनि तथा उनका क्रम मधुर जान पड़े।

हमने कहा है कि यदि आरम्भ ही से बालकों के सम्मुख गद्य तथा पद्य के उत्तमोत्तम उदाहरण पढ़े तथा पढ़ाये जायँ तो उनकी रुचि आरम्भ ही से सुधर जायगी। किन्तु उच्च कक्षाओं में पहुँच कर नियमित रूप से उनकी भावना-शक्ति का वर्द्धन करना चाहिए। जैसे आज़ाद या अनीस की कविता क्यों उत्तम है और अच्छी मालूम पड़ती है तथा हमारे प्रतिदिन के समाचार-पत्रों और स्वयंभू कवियों की भाषा क्यों घटिया लगती है। यह विश्लेषण-शक्ति उत्पन्न करने के लिए, कुछ पद्यों तथा गद्यभागों का विस्तृत अध्ययन करना चाहिए और शिक्षक के आदेश तथा निग्रहानुसार यह देखना चाहिए कि लेखक जो भाव प्रकट करना चाहता है उसे सरलता तथा स्वच्छता से कहाँ तक निबाह सका है और उसकी वर्णनशैली में कौन-कौन-सी विशेषताएँ हैं। उत्तम कविता की विशेष पहचान यह है कि वह हृदय से निकलती है और हृदयग्राही होती है। उसके विचारों तथा भावों में गति होती है, निश्चलता नहीं। उदाहरणार्थ निम्नलिखित पद्य में कवि ने किस प्रकार भाषा की उत्तमताओं तथा त्रुटियों को अत्यन्त सरलता तथा

भावपूर्णता से वर्णन किया है और इस सादगी में इतनी मधुरता है कि बरबस प्रशंसा करने को जी चाहता है तथा उसकी ध्वनि भी कितनी श्रुतिमधुर प्रतीत होती है।

तेरे अफ़सूँ का कोई रोक नहीं तेरे जादू का है उतार कहाँ।
तेरे काटे का है कहाँ मंतर तू वह अफ़ई कि कहिये दुश्मने जाँ॥
कहीं नर्मी से दिल को खींच लिया कहीं तेज़ी से मार दीं छुरियाँ।
तू बनाती है दोस्त ग़ैरों को करती है दोस्तों को दुश्मने जाँ॥

उत्तम कविता का एक और गुण यह है कि उसमें कवि शब्दों के द्वारा ललित कला का प्रदर्शन करता है और जो दृश्य उसकी कल्पना या उसकी दृष्टि के सम्मुख होता है उसका चित्र अपनी अनूठी उपमाओं तथा उक्तियों द्वारा खींच देता है। लम्बी कविता में प्रायः कवि प्रत्येक पद में चित्र के नये रूप प्रदर्शित करता है और शब्दों के द्वारा उसे पूर्ण कर देता है। शिक्षक को चाहिए कि छात्रों का ध्यान इस ओर आकर्षित करे और उन्हें आदेश दे कि कुछ विशेष पाठों में वे लेखक के इस गुण पर मनन करें। उदाहरणार्थ हम नीचे मौलाना हाली के कुछ पद देते हैं। इनमें अरब की मरुभूमि का चित्र तीन ही पदों में कैसी उत्तमता से खींच दिया है:—

ज़मीं संगलाख़ और हवा आतशफ़िशाँ।
लूओं की लपट बाद सर सर के तूफ़ाँ॥
पहाड़ और टीले सराब और बियाबाँ।
खजूरों के झुण्ड और ख़ारे मग़ीलाँ॥
न खेतों में ग़ल्ला न जङ्गल में खेती।
अरब और कुल कायनात इसकी यह थी॥

इसी प्रकार ग़ालिब ने एक स्थान पर वसन्त का चित्र खींचा है और वनस्पति की चारुता तथा हरियाली इस प्रकार दिखाई है।

सब्ज़े को जब कहीं जगह न मिली, बन गया रू-ए आब पर काई।

कैसी अनोखी तथा चिपकती हुई उक्ति है।

ऊपर दिये हुए उद्देश्यों की व्याख्या से विदित होता है कि उर्दू की शिक्षा को स्कूलों में एक महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त होना चाहिए और जब तक कोई विद्यार्थी जिसकी मातृभाषा उर्दू है इन व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक उद्देश्यों को प्राप्त नहीं कर लेता उसकी शिक्षा अपूर्ण रहेगी चाहे वह अन्य विषयों में

कितनी ही योग्यता क्यों न प्राप्त कर ले। किन्तु भिन्न भिन्न कारणों से हमारे स्कूलों तथा कालिजों और विश्वविद्यालयों में भी छात्रों का साधारण ज्ञान अत्यन्त अल्प होता है और यदि हम इनके उर्दू के ज्ञान की तुलना किसी अँगरेज़ विद्यार्थी के अँगरेज़ी के ज्ञान से करें तो हम उन्हें बहुत न्यून पाएँगे। इसका एक कारण तो यह है कि इँगलेंड के स्कूलों में साधारण बातों के ज्ञान पर अधिक ध्यान दिया जाता है और विद्यार्थी केवल पाठ्य-पुस्तकों ही के अध्ययन में अपना सारा ध्यान तथा समय नहीं लगाते बल्कि बहुत शीघ्र प्रसिद्ध तथा बड़े लेखकों की ऐसी पुस्तकें पढ़ना आरंभ कर देते हैं जो उनकी समझ तथा रुचि के उपयुक्त होती हैं। इस प्रकार उनके लिखने और बोलने में प्रवाह तथा ज्ञान में दीर्घता आ जाती है। दूसरे, पाठशाला के सब विषयों से भाषा की पढ़ाई में सहायता मिलती है। चूँकि सारे विषय उनकी मातृभाषा अर्थात् अँगरेज़ी में पढ़ाये जाते हैं, इसलिए प्रत्येक शिक्षक को यह अवसर मिलता है कि वह विद्यार्थी के अँगरेज़ी बोलने, लिखने और पढ़ने का निरीक्षण करे तथा उनकी त्रुटियाँ सुधारे और अपना विशेष विषय पढ़ाते समय इस बात का आग्रह करे कि विद्यार्थी उक्त विषय की पुस्तकें शीघ्रता तथा प्रवाह के साथ समझ समझ कर पढ़ें तथा अपने विचार शुद्ध भाषा में विशुद्धता से प्रकट करें। हमारी पाठशालाओं में तो छात्रों का अधिकतर समय और ध्यान अँगरेज़ी सीखने तथा उसे अशुद्ध बोलने में जाता है और फलतः उर्दू की ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। उर्दू पाठशालाओं में शिक्षक इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए मिल-जुलकर कार्य नहीं करते। इसके अतिरिक्त प्रायः उन अध्यापकों का जो इस विषय की शिक्षा देते हैं ज्ञान बहुत ही परिमित होता है और छात्रों में साहित्यिक प्रेम उत्पन्न करना उनके वश की बात नहीं होती। साहित्यिक रुचि एक ऐसी अद्भुत वस्तु है जो सिखाई पढ़ाई नहीं जा सकती। वह तो संक्रामक रोग की भाँति एक मनुष्य से दूसरे को होती जाती है। यदि शिक्षक की साहित्यिक रुचि अच्छी है, यदि उसे अच्छी पुस्तकों तथा अच्छे लेखकों का केवल ज्ञान ही नहीं बल्कि उनसे प्रेम भी है और वह प्रेम उसकी बात-चीत, शिक्षा-प्रणाली तथा उसके सब कार्यों से होता है तो विद्यार्थियों के हृदय में भी इस प्रेम की अग्नि शीघ्र ही प्रज्वलित हो जायगी। यह आवश्यक नहीं कि वे उन्हीं वस्तुओं को पसन्द करें जो उनके शिक्षक को प्रिय हैं किन्तु उनमें साहित्यिक रुचि उत्पन्न हो जायगी और शिक्षक की रुचि से प्रभावित होकर वे अच्छी तथा बुरी वस्तुओं को पहचानने योग्य हो जायँगे। तब उनकी दृष्टि में बाज़ार

के सस्ते तथा निरर्थक उपन्यासों या किसी टुटपुँजिये कवि की तुकबंदी का वही मान न रहेगा जो उदाहरणार्थ, प्रेमचन्द के उपन्यासों या इक़बाल की कविता का होता है। यह विचार बिलकुल असंगत है कि प्रारम्भिक कक्षाओं को सब कोई पढ़ा सकता है यदि उसे थोड़ा बहुत भी पढ़ना लिखना आता है और विशेषकर यह समझना कि मातृभाषा की शिक्षा के लिए किसी विशेष योग्यता तथा तैयारी की आवश्यकता नहीं है बिलकुल ठीक नहीं। प्रारम्भिक शिक्षा उचितरूप से देने के लिए यह परमावश्यक है कि शिक्षक का अध्ययन पर्याप्त तथा विस्तृत हो, वह साहित्य से सच्चा प्रेम रखता हो तथा अपने अध्ययन को जारी रक्खे। जो शिक्षक परीक्षा के पश्चात् अपनी पढ़ाई समाप्त कर देते हैं और नवीन तथा प्राचीन ग्रंथों से अपना सम्बन्ध बनाये नहीं रखते वे अपने उच्च व्यवसाय के साथ विश्वासघात करते हैं। विश्वासघात के अतिरिक्त, कम पढ़े हुए शिक्षक को सदा इस बात का भय बना रहता है कि कहीं कोई विद्यार्थी ऐसा प्रश्न न कर बैठे जिससे उसकी विद्या का ओछापन प्रकट हो जाय। ऐसे अवसर पर जो शिक्षक तनिक वाक्पटु होते हैं वे बात को टाल देते हैं किन्तु दूसरों को मुँहकी खानी पड़ती है। ये दोनों दशाएँ उनकी अवस्था तथा पद के प्रतिकूल हैं और नैतिक दृष्टि से हेय हैं। अस्तु, उर्दू की शिक्षा में उन्नति करने के लिए तथा विद्यार्थियों का ज्ञान बृहत् करने के लिए इस बात की बड़ी आवश्यकता है कि शिक्षकों की शिक्षा का ऐसा प्रबन्ध किया जाय कि केवल उन्हें शिक्षाविधि ही का ज्ञान न हो किन्तु वे उर्दू-भाषा तथा साहित्य का भी ज्ञान रखते हों और स्कूलों में नियुक्त हो जाने के पश्चात् भी अपने अध्ययन को जारी रक्खें। हमने अभी इस बात का आग्रह किया है कि शिक्षकों का साहित्यिक ज्ञान बहुत विस्तृत तथा उनकी रुचि बहुत परिमार्जित होनी चाहिए, किन्तु इसके साथ ही शिक्षक को अपने कार्य के सिद्धांतों तथा नियमों से भी परिचित होना चाहिए। ऐसा हो सकता है कि एक मनुष्य का भाषा तथा साहित्य का ज्ञान बहुत विस्तृत हो किन्तु वह स्कूल के बालकों को भले प्रकार से शिक्षा न दे सके। इस असफलता के दो बड़े कारण हो सकते हैं। एक तो यह सम्भव है कि वह बालकों की इच्छाओं तथा रुचियों को न समझता हो और उन्हें ऐसी बातें पढ़ाना चाहे जो उनकी समझ और रुचि के प्रतिकूल हों। इस दोष को दूर करने के लिए शिक्षक को बालकों के स्वभाव का निरीक्षण करना चाहिए। उसे मनोविज्ञान की पुस्तकें पढ़ना चाहिए तथा बालकों की क्रियाओं, चेष्टाओं और रुचि का स्वयं निरी-

क्षण द्वारा अनुभव प्राप्त करना चाहिए। इसी कारण शिक्षकों के लिए बाल-मनोविज्ञान एक परमावश्यक पाठ्य विषय है।

इस असफ़लता का दूसरा कारण यह हो सकता है कि अध्यापक शिक्षा की उचित विधि से अनभिज्ञ हो और अपने पाठ को बालकों की रुचि के अनुकूल तथा अर्थगौरव-युक्त न बना सके। इसके लिए यह आवश्यक है कि वह आधुनिक शिक्षा-प्रणालियों का ज्ञान प्राप्त करे, अन्य सफल अध्यापकों के अनुभव का अध्ययन करे और स्वयं अपनी शिक्षण-प्रणाली के परिणाम को देखकर उनके अनुसार अपनी विधि में परिवर्तन करता रहे।

आगे चलकर हम संक्षेप में यह बतायेंगे कि शिक्षक को प्रतिदिन के पाठ पढ़ाने में किन किन बातों पर विशेष ध्यान देना चाहिए। ये उपदेश ऐसे नहीं हैं जिन्हें प्रत्येक पाठ में तथा प्रत्येक समय बिना सोचे-विचारे मान लेना चाहिए क्योंकि छात्रों की योग्यता तथा विषय की उपयोगिता के अनुसार इनमें परिवर्तन अवश्यम्भावी है। तब भी इन उपदेशों को सम्मुख रखने तथा उन पर विचार-पूर्वक कार्य करने से शिक्षक को अपने कार्य में बहुत सहायता मिल सकेगी। इससे उर्दू की शिक्षा अरोचक तथा निर्जीव होने और केवल 'हिज्जे व अर्थ रटने' के बदले छात्रों के लिए एक लाभदायक तथा मनोवांच्छित विषय बन जायगी।

अध्यापक को चाहिए कि प्रत्येक पाठ के लिए एक उपयुक्त प्रस्तावना बनावे। इससे कई लाभ हो सकते हैं। यदि पाठ बिलकुल नवीन है और पिछले पाठों से उसका सम्बन्ध कुछ भी नहीं है तो इसकी बातचीत में वह बालकों में विषय के प्रति रुचि उत्पन्न कर सकता है। उदाहरणार्थ यदि शिक्षक को 'इंशा' का वह प्रसिद्ध पद्य पढ़ाना है जिसका प्रथम पद यह है—

"कमर बाँधे हुए चलने को याँ सब यार बैठे हैं।
बहुत आगे गये बाक़ी जो हैं तय्यार बैठे हैं॥"

तो उसे चाहिए कि छात्रों को उस कवि-सम्मेलन का वृत्तान्त सुनाये जिसमें 'इंशा' ने यह कविता पढ़ी थी, जहाँ इनको कोई भी न जानता था बल्कि इनकी हीन वेशभूषा देखकर लोग आश्चर्य करते थे कि यह कौन सम्मेलन में घुस आया है। किन्तु जब उन्होंने अपनी प्रभावशाली कविता पढ़ी तो सभा में सन्नाटा छा गया और ऐसा दृश्य उपस्थित हो गया कि बहुत समय तक दर्शकों को नहीं भूला। यदि शिक्षक इस घटना को आरम्भ में भावपूर्ण ढङ्ग से वर्णन करे तो सम्भव नहीं कि बालक प्रभावित न हों और कविता को चाव से न पढ़ें। इसी

प्रकार यदि शिक्षक कोई कहानी पढ़ाना चाहता है तो भूमिका में उसके लेखक, घटना तथा पात्रों की ओर बालकों का ध्यान आकर्षित करना चाहिए। यदि किसी अन्य लाभदायक विषय का पाठ है तो इसके महत्त्व को प्रकट करना चाहिए जिससे बालक ध्यान तथा एकाग्रता से पढे। इससे यह लाभ होता है कि बालक पाठ को किसी उद्देश्य के साथ पढते है यह न हो कि वे अँधेरे में ठोकर खाते फिरे या अन्यमनस्कता के साथ उसे विवश होकर पढे।

दूसरी बात यह है कि इस भूमिका मे शिक्षक विद्यार्थियों का उस लेखक से परिचय करा सकता है जिसकी कविता या लेख वे पढनेवाले हैं और साथ ही यह भी बता सकता है कि पढ़ते समय कौन कौन-सी बातों पर विशेष ध्यान देना आवश्यक होगा। यदि लेख किसी पुस्तक से लिया गया है तो उस पुस्तक का नाम बताया जा सकता है जिससे उत्साही छात्रों मे यह इच्छा उत्पन्न हो जाय कि मूल पुस्तक पढ़कर पूरी कथा अथवा विषय का ज्ञान प्राप्त करे। अस्तु, इसी विचार से मैंने अपनी लिखी हुई पाठ्य-पुस्तक "उर्दू-अदब" में प्रत्येक पाठ के आरम्भ मे एक नोट दे दिया है जिसमें विद्यार्थियो को पाठ का विषय, लेखक का वृत्तान्त तथा और संक्षिप्त विवरण बताया गया है और आवश्यकतानुसार उनकी पाठ मे रुचि उत्पन्न कराई गई है। यदि पाठ नया नहीं है और उसका सम्बन्ध गत पाठ से है तो शिक्षक भूमिका में छात्रों के ज्ञान की परख कर सकता है तथा पुराने पाठ की याद दिला सकता है। इस प्रकार वह गत तथा आगामी विषय मे सम्बन्ध स्थापित कर सकता है। तात्पर्य यह है कि किसी भी पाठ को चाहे नवीन हो या पुराना बिना भूमिका के एकदम न आरम्भ कर देना चाहिए। यह भूमिका विषयानुसार बदलती रहेगी। जैसे पाठ यदि स्वास्थ्य-रक्षा के नियमो पर है तो शिक्षक अपने वार्तालाप में यह मालूम करेगा कि विद्यार्थियो का इस विषय का ज्ञान कितना है, उनमे परस्पर वाद-विवाद करायेगा और अपना विस्तृत ज्ञान उनके सम्मुख उपस्थित करेगा। इस सीढ़ी को पार करने के उपरान्त उसे असली पाठ को पढाना चाहिए जिसके द्वारा सारी पिछली बातचीत में क्रम बँध जायगा और उनका ज्ञान अधिक विस्तृत तथा सुगठित रूप धारण कर लेगा। यहाँ भी शिक्षण-प्रणाली विषयानुसार तथा बालकों की योग्यता के अनुसार बदलती रहेगी। बालको से बोलकर पढ़वाने के नियम हम पहले ही वर्णन कर चुके है। यदि कक्षा मे कुछ विद्यार्थी अच्छा पढ़ते है तो उनसे पढ़वाना चाहिए। यदि सयोग से सबका पढ़ना एक ही प्रकार का है तो शिक्षक को स्वयं पढना चाहिए। यदि शिक्षक को पाठ के किसी वर्णन

पर या भाषा के प्रभाव पर ज़ोर देना है या किसी कविता में शब्दों के चुनाव पर प्रकाश डालना है तथा उनकी सुन्दरता प्रकट करना है तो भी उसे स्वयं ही पढ़ना चाहिए। किन्तु ऊँची कक्षाओं में क्रमशः बोलकर पढ़ने के स्थान पर मौनपठन की आवश्यकता होती है जिससे कि विद्यार्थी अधिक शीघ्रता से पढ़ सकें और भविष्य के लिए उन्हें शुद्ध रीति से अध्ययन करने की बान पड़े। जहाँ कहीं भी किसी लेख या पुस्तक पढ़ने का लक्ष्य कहानी इत्यादि विषय की ज्ञान-प्राप्ति है वहाँ मौनपाठ ही सबसे उत्तम रीति होती है। इसका अर्थ यह नहीं है कि बालक पढ़ने में केवल शब्द न निकालें या मुख के भीतर पढ़ें। इसका असली भाव यह है कि होंठों के बदले हम केवल नेत्रों से पढ़ें और लेख का अर्थ आँख के द्वारा मस्तिष्क में पहुँचे। इसके अतिरिक्त यदि हम पढ़ने में होंठ हिलावें तो हमारी गति कम हो जाती है चाहे हमारे मुख से एक भी शब्द न निकले। मौनपठन का अभ्यास ज्यों ज्यों बढ़ता जाता है होंठों का हिलना बन्द होता जाता है और आँख न केवल अधिक गति से ही पढ़ती है किन्तु प्रत्येक बार में अधिक शब्द देख सकती है और इस प्रकार पढ़ने की गति तीव्र हो जाती है। शिक्षक का एक बड़ा कार्य यह है कि विद्यार्थियों में मौनपठन की बान डाले। इसकी एक रीति यह है कि जैसे ही बालक शब्द पहचानने की कठि-नाइयों को पार कर चुकें उन्हें प्रतिदिन पाठ के मध्य में तथा साधारण रोचक पुस्तकें पढ़ने में मौनपठन का अवसर दिया जाय और उच्च कक्षाओं में बोलकर पढ़ने के बदले इसे अधिक समय दिया जाय। इस प्रकार जब विद्यार्थी शिक्षक की भूमिका के पश्चात् अपने पाठ को स्वाभाविक गति से चुपचाप पढ़ता है तो वह उसका अर्थ समझता जाता है, यदि भाषा तथा विषय में वह पाठ बालक की योग्यता के अनुकूल हो। मौनपठन से एक लाभ यह भी होगा कि तीक्ष्ण, मध्यम तथा बोदे बालक अपनी अपनी गति से पाठ पढ़ेंगे और उन्हें एक दूसरे पर निर्भर नहीं होना पड़ेगा।

इसके पश्चात् शिक्षक तथा बालकों में विचार-विनिमय तथा वाद-विवाद की बारी आती है जो बोलने तथा सोचने की शक्ति की वृद्धि के लिए परमावश्यक है। बहुधा शिक्षक पाठ की कठिनाइयों, और वह भी शब्दों तथा भाषा की कठिनाइयों को समझाकर पाठ का अन्त कर देते हैं। किन्तु बालकों को तभी लाभ हो सकता है जब उपस्थित विषय पर वह अपने विचार प्रकट करें, एक दूसरे से भिन्नता प्रकट करें, शिक्षक को अपना मत समझायें, तथा उसका मत समझने का प्रयत्न करें। इस प्रकार उनके भाषण में प्रवाह तथा विचारों में विस्तार उत्पन्न होगा। इस विषय में शिक्षक का कार्य यह है कि वह बालकों के

अपूर्ण तथा अव्यवस्थित ज्ञान को पूर्ण तथा सुव्यवस्थित करे, उनके प्रतिदिन के अनुभव तथा निरीक्षण का सम्बन्ध उनके पुस्तकों-द्वारा प्राप्त ज्ञान से स्थापित करे, अन्य उदाहरण दे, तुलना करे तथा उनके पिछले ज्ञान को जाग्रत करके उनको अधिक ज्ञान प्रदान करे। मान लीजिए कि सातवीं कक्षा के शहर के विद्यार्थी "देहात की ज़िन्दगी" शीर्षक लेख पढ़ रहे हैं। उसको पढ़ाते हुए शिक्षक यह मालूम करेगा कि उन्हें इसके विषय में पहले से कौन कौन बातें ज्ञात हैं और उनके विचार से इसकी हानियाँ तथा लाभ क्या हैं। इसके लिए बहुत-सी रीतियाँ हो सकती हैं। जैसे शिक्षक भिन्न विचारवाले बालकों में वाद-विवाद कराये और उनसे कहे कि प्रत्येक बालक अपने मत की पुष्टि के लिए दो या तीन मिनट तक भाषण दे और विपक्ष के मत को काटने का प्रयत्न करे। इसके पश्चात् वह उन्हें भिन्न देशों के देहाती जीवन का हाल सुनाकर उनकी ज्ञानवृद्धि कर सकता है जिसमें वे अपने देश की स्थिति की उन देशों से तुलना करके युक्तिपूर्ण तथा ठीक परिणाम निकाल सकें। कभी कभी ऐसा करना चाहिए कि उस विषय पर किसी दूसरे लेखक का लेख या कविता पढ़ने के लिए उन्हें दी जाय जिसमें वे भाव प्रकट करने के भिन्न भिन्न ढङ्ग सीखें।

ऊपर के कथन से यह स्पष्ट हो गया होगा कि भाषा की शिक्षा में शब्दों के अध्ययन से अधिक हम इस बात पर ज़ोर देना चाहते हैं कि छात्र लेखक के भाव, विचार तथा दृष्टिकोण का अध्ययन करें और यह देखें कि वह क्या कहना चाहता है और अपने भाव को कहाँ तक सफलता, स्पष्टता तथा पूर्णता के साथ निभा सका है। इस ध्येय की पूर्ति के लिए शब्दों का अध्ययन भी आवश्यक है किन्तु यह लेख पढ़ते समय ही होना चाहिए। उन्हें लेख से पृथक् न करना चाहिए। हम शब्दों को निर्जीव नहीं मानना चाहते जो हर प्रकार की भाषा में निश्चेष्ट पड़े हुए एक अर्थ प्रकट करें, वास्तव में शब्द जीते जागते चेष्टायुक्त पदार्थ हैं जिनका अर्थ बहुत कुछ उनके प्रसंग पर निर्भर होता है। अस्तु, इन्हें पूरी तरह इनके प्रसंग से ही समझा जा सकता है। कोष की सहायता लेना बड़ा लाभदायक है परन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है क्योंकि उसमें शब्द अलग अलग दिये होते हैं और उनके अर्थ भी अलग ही मालूम होते हैं किन्तु लेख में उनका परस्पर सम्बन्ध होता है इस कारण वे सजीव हो जाते हैं। शब्दों के अध्ययन का महत्त्व कविता तथा उत्तम साहित्य में और भी अधिक हो जाता है क्योंकि प्रत्येक बड़ा लेखक तथा कवि शब्दों को नवीन अर्थ से युक्त करके सजा देता है। इसलिए शिक्षक को चाहिए कि बालकों का ध्यान इस

बात की ओर आकर्षित करें कि उत्तम साहित्य तथा काव्य में शब्द कितने उपयुक्त तथा भावयुक्त होते हैं और किस प्रकार वे केवल प्राकृतिक दृश्य ही का नहीं किन्तु लेखक के हृदय का भी चित्र खींच देते हैं। छात्रों को इस बात का अभ्यास कराना चाहिए कि अच्छे लेखों तथा कविताओं में से ऐसे शब्द तथा वाक्यांश चुना करें जो उन्हें सबसे अधिक रुचें। इसके पश्चात् शिक्षक कक्षा में उन चुने हुए शब्दों तथा वाक्यांशों की तुलना करके देख सकता है कि उनकी रुचियाँ कहाँ तक समान हैं तथा उनके चुनाव के क्या कारण हैं। लेखक के पदलालित्य का अनुभव बालक को इस प्रकार भी हो सकता है कि वह उसके शब्दों के स्थान पर दूसरे पर्यायवाची शब्द रखकर देखें कि उक्त लेख पर क्या प्रभाव पड़ता है। यदि लेख या कविता उच्चकोटि की है तो वे निश्चय ही देखेंगे कि लेखक अथवा कवि ने प्रत्येक शब्द को हीरे की भाँति उसमें जड़ दिया है जिसको निकाल देने से लेख की सुंदरता नष्ट हो जाती है।

उर्दू-शिक्षक को इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि जहाँ कहीं उसे अवसर मिले अपने विषय का सम्बन्ध दूसरे विषयों से कर दे। शिक्षा में 'सम्बन्ध' से यह तात्पर्य है कि जहाँ कहीं किसी दूसरे विषय के हवाला देने मे अपने विषय पर प्रकाश पड़ सके उससे अवश्य लाभ उठाना चाहिए। उदाहरणार्थ यदि बालक उर्दू की पुस्तक में स्विट्ज़रलेंड का वर्णन पढ़ रहे हैं तो उसको समझने में उन्हें अपने भूगोल के ज्ञान से सहायता मिलेगी। या यदि वे अकबर के दरबार के सम्बन्ध में आज़ाद का लेख पढ़ रहे हैं तो शिक्षक को चाहिए कि उसका सम्बन्ध उनके इतिहास के ज्ञान से स्थापित करे। इसी प्रकार उर्दू की पाठ्य-पुस्तकों में कला-कौशल सम्बन्धी पाठ होते हैं जिनका सम्बन्ध विज्ञान से है। इनमें भी सम्बन्ध स्थापित करने का अवसर मिल सकता है। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि नाममात्र के लिए केवल दिखावे के हेतु ऐसा न किया जाय। एक विषय में दूसरे विषय का हवाला तभी देना चाहिए जब कि दोनों में वास्तविक सम्बन्ध हो और एक से दूसरे को समझने में सहायता मिल सके। परन्तु इसके लिए सबसे आवश्यक यह है कि शिक्षक स्वयं अपने मन में भिन्न भिन्न विषयों के बीच सम्बन्ध स्थापित रक्खे और यथासमय सरलता से वह एक विषय से दूसरे विषय पर जा सके। यह तभी सम्भव है जब शिक्षक स्वयं अध्ययन करता रहे और केवल साहित्यिक ही नहीं किन्तु अन्य विषयों की उत्तमोत्तम पुस्तकें पढ़ता रहे और साहित्यिक परिवर्तनों से अपने को परिचित रक्खे। वही शिक्षक अपने

विद्यार्थियों को पूर्णतया लाभ पहुँचा सकता है जिसका अपना मस्तिष्क विद्या तथा उत्साह से परिपूर्ण हो।

लिखने की शिक्षा—इस लेख में हम संक्षेप रूप से यह भी बताना चाहते है कि बालकों को लिखना सिखाने में किन बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। जहाँ तक लिखने तथा भावप्रकाशन का सम्बन्ध है उसका वर्णन इस पुस्तक के एक दूसरे अध्याय में किया जायगा। यहाँ हमारा सम्बन्ध लिखने की क्रिया से है। बच्चों की शिक्षा में हमें इस नियम को स्मरण रखना चाहिए कि किसी विषय को पढ़ाने में और विशेष कर उर्दू की शिक्षा में हमें उसके अङ्गों को जैसे, लिखना, पढ़ना, व्याकरण इत्यादि को पृथक् पृथक् न करना चाहिए क्योंकि इन सबका प्रत्येक से बहुत निकट का तथा गहरा सम्बन्ध होता है और ये परस्पर एक दूसरे की सहायता करते हैं। छोटे बालकों के लिए यह परमावश्यक है कि इन्हें जो कुछ बताया या सिखाया जाय उसके समझने में इनकी भिन्न ज्ञानेन्द्रियों से कार्य लिया जाय जिसमें वह विषय उन्हें भले प्रकार से हृदयङ्गम हो जाय। उदाहरणार्थ जब उन्हें आरम्भ में सीन (س), ज़बर (َ), रे (ر) "सर" बताया जाय तो उन्हें चाहिए कि वे उसको मुख से भी कहें, उसके अर्थ को समझें और उसे लिखें भी चाहे वायु ही में क्यों न हो। बालकों का लिखना हस्तकौशल के समान है। उनके लिए लेखनी से पट्टी या काग़ज़ पर कोई अर्थयुक्त शब्द लिखना ऐसा ही है जैसा लकड़ी के टुकड़ों या औज़ारों के साथ खेलना। इसलिए आरम्भ में उन्हें लिखना इस प्रकार सिखाना चाहिए जैसे कोई खेल, न कि जैसे कोई कठिन पाठ्यक्रम का अङ्ग जिसे वे विवश होकर सीख रहे हों। इसलिए प्रारम्भिक कक्षाओं में बालकों से मिट्टी के अक्षर बनवाने चाहिए। बालुका पर लिखाना चाहिए, वायु में हाथ से अक्षर तथा शब्द बनवाने चाहिए जिससे वे अङ्ग-परिचालन-द्वारा इनके स्वरूपों को स्मरण कर लें। बालकों के लिए आरम्भ में पूरे हाथ या बाहु का चलाना सरल होता है। पर कलाई और अँगुलियों-द्वारा चुन चुन कर सूक्ष्मता से छोटे छोटे शब्द बनाना कठिन होता है। इसलिए आरम्भ में उनको लिखने का अभ्यास ऊपर लिखी रीति से कराना चाहिए जिससे उनका हाथ अभ्यस्त हो जाय। इसके बाद लिखे हुए शब्दों पर अँगुली या लेखनी फेरनी चाहिए, जिससे अँगुलियाँ लिखने की साधारण क्रियाओं में अभ्यस्त हो जायँ। इन सब सीढ़ियों को पार करने के पश्चात् पेंसिल या लेखनी से काग़ज़, पट्टी या स्लेट पर लिखने का अवसर आता है और तब तक बालक को अँगुली चलाने की क्रिया का इतना अभ्यास हो जाता है कि वह बिन

रुकावट के लिख सके। इससे एक परिणाम यह भी निकलता है कि प्रचलित प्रणाली जिसके अनुसार बालकों को बहुत शीघ्र और एकदम ही पट्टी पर लिखना आरम्भ करा दिया जाता है अनुचित है। कम से कम इसे एक वर्ष और रोकना चाहिए और इस बीच में बताई हुई बातों का अभ्यास कराना चाहिए। यह अभ्यास न तो बहुत कठिन ही है और न इसके लिए किसी बहुमूल्य सामग्री ही की आवश्यकता है। छोटे छोटे ग्रामीण स्कूलों के शिक्षक भी यह कार्य करा सकते हैं।

जब बालक लिखना आरंभ कर देते हैं और शब्दों को बनाने की प्रारंभिक कठिनाई नहीं रहती तब शिक्षक को इस ओर ध्यान देना चाहिए कि उनकी लिखावट में किस प्रकार रुचि उत्पन्न हो और वे कैसे रुचि से लिखने लगें। प्रचलित रीति यह है कि बालकों को नक़ल करने के लिए कुछ विषय दे दिया जाता है या उन्हें कोई 'कापी स्लिप' दे दी जाती है कि वे उसमें लिखे वाक्यों की प्रतिलिपि उतारें। किसी सीमा तक ऐसा करने में कोई हानि नही है किन्तु केवल इतना ही पर्याप्त नहीं है। शिक्षक को बालकों के लिखने के लिए ऐसी वस्तुएँ चुनना चाहिए जिनमें उन्हें स्वाभाविक रुचि हो। इससे वे एकाग्रचित्त से लिखेंगे और इसी कार्य्य में बिलकुल तन्मय हो जायँगे। उन्हें यह न भास होना चाहिए कि शिक्षक या पाठशाला के कारण वे लिख रहे हैं। आधुनिक पाठ-शालाओं में जहाँ शिक्षा बालकों की मनोवृत्तियों के अनुसार रक्खी गई है वहाँ बहुत-सी ऐसी रीतियाँ प्रचलित हैं जिनके अनुसार कार्य करके बालक लेखन-कला के साथ साथ निबन्ध-रचना में भी पटु हो जाते हैं। उदाहरणार्थ बालकों को परस्पर, अन्य स्कूलों के छात्रों से तथा अपने सम्बन्धियों इत्यादि से पत्र-व्यवहार की प्रेरणा दी जाती है। किन्तु इसमें सफलता के लिए यह आवश्यक है कि इन कल्पित व्यक्तियों को निरर्थक पत्र न लिखवाये जायँ कि उनके लिए विषय ढूँढ़ने में कठिनाई पड़े बल्कि पत्र ऐसे होने चाहिए कि बालक अपनी आवश्यकता समझ कर और अपने मन से लिखें। पाठशाला की एक छोटी-सी पत्रिका भी निकाली जा सकती है जिसके लिए तीक्ष्ण बुद्धिवाले विद्यार्थी लेख लिखें और ऐसी सावधानी तथा स्वच्छता से लिखें कि उन्हें एकदम पत्रिका में सम्मिलित कर लिया जाय। यदि कुछ अच्छे लेखकों की लिखाई सुन्दर न हो तो कुछ अच्छे लिखनेवालों को पत्रिका के लिखने का काम दे दिया जाय। कुछ स्कूलों में एक और प्रणाली बहुत लाभदायक सिद्ध हुई है। बालकों से एक विशेष कापी बनवाई जाती है और उसमें वे उत्तमोत्तम प्रकार के गद्यांश तथा कवितायें उतार

लेते हैं और इस प्रकार वर्ष भर के अन्त में उनके पास एक अच्छी स्मृति प्रस्तुत हो जाती है। इस प्रकार बालक केवल अपनी कापियों की तुलना ही नहीं करते और अन्य बालकों से आगे बढ़ने का प्रयत्न करते हैं बल्कि (यदि शिक्षक विचारशील हों तो) वह स्वयं प्रतिवर्ष अपने गत वर्ष के कार्य से अच्छा कार्य करने का प्रयत्न करते हैं और तुलना यही सबसे उत्तम भी है जिसमें छात्र स्वयं अपने से तुलना करके उन्नति करता चला जाय। इससे तनिक भिन्न रूप में यह प्रणाली है कि प्रत्येक कक्षा या समस्त स्कूल के लिए एक रजिस्टर बना दिया जाता है और उसमें अच्छे लिखनेवाले छात्र अपने लेख नक़ल करते हैं। यह रजिस्टर पुस्तकालय में सुरक्षित रक्खा जाता है और इसमें लिखने का अवसर केवल उन्हीं छात्रों को मिलता है जिनका लिखना बहुत अच्छा हो। इसलिए उसको वे एक प्रकार का सम्मान समझते हैं और उसे प्राप्त करने के लिए बहुधा बड़ा परिश्रम करते हैं क्योंकि उन्हें यह विचार बना रहता है कि उस रजिस्टर में लिखकर पाठशाला में वे अपना एक अमिट चिह्न छोड़ जायँगे।

व्याकरण की शिक्षा—स्कूलों में बालकों पर व्याकरण के नाम से बहुत अत्याचार तथा कठोरता हुई है क्योंकि साधारणतया जो व्याकरण की पुस्तकें लिखी गई हैं उनमें बालकों की रुचि, बुद्धि तथा आवश्यकताओं का बिलकुल ही ध्यान नहीं रक्खा गया है बल्कि अरबी तथा फ़ारसी व्याकरणों की नक़ल करके लेखकों ने इनमें बहुत-सी निरर्थक तथा कठिन बातें भर दी हैं जिनके पढ़ने से बालकों को कुछ भी लाभ नहीं पहुँच सकता, जिनको समझ कर स्मरण करना तो दूर रहा कभी कभी वे उनका शुद्ध उच्चारण भी नहीं कर सकते। केवल शिक्षक के भय से वे परिभाषायें तथा उदाहरण रट लेते हैं। यही कारण है कि पाठशाला में विद्यार्थी इस विषय में सबसे अधिक अरुचि प्रकट करते हैं। हमारी सम्मति से तो कम से कम मिडिल तक तो इस बात की बिलकुल आवश्यकता नहीं है कि बालकों को संज्ञा, विशेषण तथा क्रिया की अगणित जातियों के नाम रटाये जायँ और उनकी परिभाषायें याद कराई जायँ। शिक्षक का प्रथम कार्य, जैसा कि हम ऊपर सविस्तार वर्णन कर चुके हैं, यह होना चाहिए कि बालक अपने विचार स्पष्टता तथा प्रवाह के साथ व्यक्त कर सकें। व्याकरण-शिक्षा की बारी इसके पश्चात् आती है क्योंकि शुद्ध बोलना तथा लिखना व्याकरण-द्वारा नहीं सिखाया जा सकता बल्कि अभ्यास, आदत तथा उचित उदाहरणों के अनुकरण से आता है। जो बालक अपने आस-पास के लोगों को शुद्ध भाषा बोलते सुनेगा वह स्वयं शुद्ध भाषा बोलेगा और जो त्रुटिपूर्ण भाषा सुनेगा उसके बोलने में वे ही त्रुटियाँ

घर कर लेंगी। आरम्भ में बालकों को स्वतन्त्रता से लिखने तथा बोलने का अवसर देना चाहिए और उनकी त्रुटियों का सुधार बिना व्याकरण का हवाला दिये ही करना चाहिए। यदि बालक का प्रारम्भिक जीवन ऐसे घर तथा पड़ोस में हुआ हो जहाँ अशुद्ध भाषा बोली जाती है तो वह पाठशाला में पहुँचकर वही भाषा बोलेगा और शिक्षक को त्रुटियाँ सुधारनी पड़ेंगी। वहाँ भी व्याकरण से अधिक आवश्यकता शुद्ध बोलना सिखाने की है और शिक्षक को चाहिए कि प्रत्येक छात्र की मुख्य-मुख्य त्रुटियों को नोट करे और उनका सुधार उन्हें पृथक् पृथक् बुलाकर करे। स्वयं शुद्ध भाषा बोल कर और पुस्तकें पढ़वा कर बालकों के कानों को इसका अभ्यस्त बना दें कि वे स्वयं ही शुद्ध तथा अशुद्ध शब्दों और भाषा की विवेचना कर सकें।

जब बालक मिडिल की उच्च कक्षाओं में पहुँचें उस समय उन्हें व्याकरण की आवश्यक बातें बता देनी चाहिए जिनका उन्हें प्रतिदिन काम पड़ता हो ताकि वे यह जान सकें कि अमुक त्रुटि के कारण क्या हैं और वे किन नियमों का पालन करके इनसे बच सकते हैं। इसका ध्येय यह होना चाहिए कि वह विद्यार्थियों को शुद्ध उर्दू बोलने और लिखने में सहायता दे और उन्हें ऐसी अशुद्धियों से सुरक्षित रक्खे जो भाषा के व्यवहार तथा पूर्णता के विरुद्ध हों। इसके अतिरिक्त इसका दूसरा ध्येय यह है कि छात्र वाक्यों में शब्दों के क्रम तथा स्थान को पहचानने लगें और जहाँ कहीं कठिन तथा जटिल वाक्यों के समझने में कठिनाई हो उनकी पदव्याख्या (analysis) करें और शब्दों तथा वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध को प्रकट करके अर्थ निकाल सकें। आवश्यकता इस बात की है कि भाषा का कोई विद्वान् जो बालशिक्षा के नियमों तथा उनकी मानसिक आवश्यकताओं से अभिज्ञ हो, प्रचलित व्याकरण की पुस्तकों में से सारी अनावश्यक और केवल सिद्धान्त की बातें निकाल कर व्याकरण को नवीन ढंग से बालकों की आवश्यकता के अनुसार सम्पादित करे और उसमें "सर्फ़ व नह्व" में से केवल उन्हीं बातों को सम्मिलित करे जिनको जानना बालकों के लिए आवश्यक तथा लाभदायक हो। इँगलेंड के शिक्षा-विधान (Educational Code) में व्याकरण-शिक्षा के सम्बन्ध में जो विचार प्रकट किये गये हैं वे हमारे स्कूलों पर भी लागू होते है :—

"व्याकरण की शिक्षा स्कूल की उच्च कक्षाओं तक ही परिमित रखनी चाहिए, और यदि दी जाय तो उसका ध्येय यह होना चाहिए कि छात्र उन वाक्यों की बनावट को समझ सकें जिनको वे बोलते हों

या लिखते पढ़ते हों और वे यह पहचानने लगें कि वाक्य में भिन्न भिन्न जाति के शब्दों का क्या कार्य होता है। किंतु जहाँ तक सम्भव हो सिद्धांत का प्रयोग वर्जित रक्खा जाय।"

अस्तु हमारे मतानुकूल छठी कक्षा तक व्याकरण की शिक्षा कुछ भी न देनी चाहिए। सातवीं तथा आठवीं कक्षाओं में सर्फ़ और नह्व की आवश्यक बातें बतानी चाहिए जिनसे या तो अशुद्धियों से बचने में या वाक्य की बनावट इत्यादि समझने में सहायता मिले। व्याकरण को अधिकतर पढ़ने और निबन्ध-रचना के प्रसंग में प्रयोगिक रीति से पढ़ाना चाहिए और उदाहरण देकर उसके नियमों की व्याख्या करनी चाहिए। व्याकरण को बालकों के लिए एक भयावह विषय बनाना बड़ी भूल है।

शिक्षक का कर्तव्य है कि वह उर्दू की शिक्षा अपने विद्यार्थियों के लिए अत्यंत रोचक बना दे जिसमें वे अपनी मातृभाषा से प्रेम करें, उसे शुद्धता से बोलें और जब कभी लिखने की आवश्यकता पड़े तो अपने विचारों को अत्यन्त स्पष्टता से व्यक्त कर सकें। जब तक हमारे स्कूलों में मातृ-भाषा की शिक्षा उचित सिद्धांतों पर न दी जायगी तब तक छात्रों के साधारण ज्ञान में उन्नति नहीं होगी।

पञ्चम अध्याय

निबन्ध-रचना

भाषण तथा लेखन का लक्ष्य क्या है? अपने विचारों को प्रकट करना। अर्थात् निज हृद्गत भावों को इस प्रकार व्यक्त करना कि हमारे वार्तालाप को सुननेवाला तथा लेख को पढ़नेवाला हमारे अभिप्राय को पूर्णतया समझ जाय।

जब भाषण तथा लेखन का लक्ष्य यह है तो क्या यह आवश्यक नहीं कि हमारे कथन में कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ हो? और क्या हमारे विद्यालयों का यह ध्येय न होना चाहिए कि हम अपने विद्यार्थियों में ऐसी ही योग्यता उत्पन्न कर दें? किन्तु प्रायः देखा गया है कि हमारे भाषण तथा लेखन में न सरसता होती है न प्रवाह, न भावों का तारतम्य और न कथन की उपयुक्तता। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि हमारी शिक्षा इतनी त्रुटिपूर्ण है कि हम अपनी मातृभाषा का भी सम्यक् प्रयोग नहीं कर सकते। इसका कारण क्या है? सभी कोई शिक्षक ही को इसका उत्तरदायी ठहराते हैं और इस न्यूनता तथा अपूर्णता का कारण बताते हैं आधुनिक शिक्षा-प्रणाली को जिसके अनुसार शिक्षक साधारणतः अपना कार्य करता है। यह मानने में किसी को आपत्ति न होगी कि हमारे शिक्षकगण अपने कर्तव्य का पालन भली भाँति करने का प्रयत्न करते हैं। वे भरसक इस बात का ध्यान रखते हैं कि विद्यार्थियों में हर प्रकार की योग्यता तथा रुचि उत्पन्न हो जाय। किन्तु साथ ही साथ यह भी प्रकट है कि निबन्ध-लेखन तथा विषयों के तारतम्य के कुछ नियमों का पालन करने के अतिरिक्त अध्यापकगण उन नियमों की उन्नति तथा सुधार की ओर किञ्चित् भी ध्यान नहीं देते। वे कक्षा में विद्यार्थियों को एक विषय दे देते हैं और कह देते हैं कि इस पर निबन्ध लिख लाओ। वे विद्यार्थियों के लिखे निबन्धों की बड़े परिश्रम तथा ध्यान से समालोचना करते हैं तथा त्रुटियों के सुधारने में बहुत-सा समय भी व्यतीत करते हैं। किन्तु इतने जी-तोड़ परिश्रम का फल आशाजनक नहीं होता। वास्तव में बात यह है कि भाषण तथा लेखन कलायें हैं और जिस प्रकार हर कला के नियम होते हैं और उसे सीखने के लिए प्रारम्भिक अभ्यास

तथा ध्यान की आवश्यकता होती है उसी प्रकार भाषण तथा लेखन के लिए भी प्रारम्भिक अभ्यास तथा दत्तचित्त प्रयास की आवश्यकता है।

साधारणतः हमारी शिक्षाप्रणाली में यह त्रुटि है कि शिक्षक कुछ विशेष जानकारियों को ध्यान में रखते हुए पाठ आरम्भ करता है। वह अपना उत्तर-दायित्व यहीं तक समझता है कि वह विद्यार्थियों के सम्मुख पाठ के विषय को भले प्रकार से उपस्थित कर दे और बीच बीच में यह देख ले कि विद्यार्थियों को उसके पाठ से कितना लाभ हो रहा है। उसकी दृष्टि में विद्यार्थियों का कोई व्यक्तिगत महत्त्व नहीं होता। इसका फल यह होता है कि भाषण तथा लेखन के विषयों व नियमों का विद्यार्थियों के व्यक्तित्व, रुचि तथा प्रिय व इच्छित वस्तुओं से कोई सम्बन्ध नहीं रह जाता। जिस प्रकार गणित के प्रश्न हल किये जाते हैं उसी प्रकार वे वार्तालाप भी कर लेते हैं और निबन्ध भी लिख देते हैं। उनके व्यक्तिगत सुख-दुःख, रुचि तथा अरुचि को उनके वार्तालाप तथा लेखों से कोई प्रयोजन नहीं होता। और इसी कारण पुस्तकों में पठित वाक्य, गुरुओं के मुख से सुनी हुई बातें तथा अन्य लोगों का अनुभव ही उनके मस्तिष्क की पूँजी बनकर रह जाते हैं। अस्तु निबन्ध-लेखन का लक्ष्य विद्यार्थियों को केवल लेख की अशुद्धियों से बचाना, उचित-अनुचित स्थान पर अलंकार तथा कहावतों को ठूँस देना, और पाँच-छः पृष्ठ का व्याकरण की अशुद्धियों से रहित लेख लिख देना रह जाता है।

उपर्युक्त त्रुटियों को ध्यान में रखते हुए हम कुछ नियम स्थापित कर सकते हैं। वे ये हैं :—

(क) शिक्षक को ऐसे उपादानों का प्रयोग करना चाहिए जिससे विद्यार्थियों के नैतिक मनोभावों में वृद्धि हो सके और, जहाँ तक केवल भाषा से सम्बन्ध है, विद्यार्थियों के कथन में तारतम्य तथा प्रवाह उत्पन्न हो जाय।

(ख) हर पाठ में चाहे—वह भूगोल का हो अथवा गणित का—अध्यापक इस बात का प्रयत्न करे कि शिष्य के कथन में सूक्ष्मता, प्रवाह और विचार व्यक्त करने की स्वाभाविकता हो और वह समय समय पर उनके वार्त्तालाप की त्रुटियाँ सुधारता जाय।

(ग) उत्तमोत्तम पुस्तकों के अध्ययन में रुचि उत्पन्न की जाय।

(घ) प्रतिसप्ताह अध्यापक की अध्यक्षता में भाषणार्थ तथा वाद-विवाद के लिए विद्यार्थियों की सभा की जाय और भाषण देने वा वाद-विवाद करने से पूर्व

विद्यार्थी अपने विचारों को क्रमपूर्वक रखने में शिक्षक के उपदेश से लाभ उठा लिया करें।

(ङ) कक्षा में यदा-कदा पद्यों (अन्ताक्षरी) तथा व्याकरण के मनोरञ्जक उपाङ्गों पर परस्पर वाद-विवाद या प्रतिद्वंद्विता का प्रचार किया जाय।

इसी प्रकार के अनेक नियम और भी बनाये जा सकते हैं। किन्तु उत्तम यही प्रतीत होता है कि हर एक शिक्षक को इस बात की पूर्ण स्वतन्त्रता दी जाय कि वह अपने विद्यालय की स्थिति तथा विद्यार्थियों की सामाजिक और सभ्यता-सम्बन्धी दशा के अनुसार अपने लिए स्वयं नियम बना ले। इसी प्रसंग में यह बता देना आवश्यक है कि विद्यार्थियों की रुचि का पता लगाने के लिए शिक्षक एक बड़ी सरल रीति का प्रयोग कर सकता है। वह यह है कि "आभूषण पहनने की हानियाँ", या "रेल से लाभ" अथवा "सत्य को आँच नहीं" पर निबन्ध लिखने की आज्ञा देने के बदले, बालकों को यह स्वतन्त्रता दे दी जाय कि वह अपने इच्छानुसार विषय उपस्थित करें। तत्पश्चात् या तो वह विषय चुन लिया जाय जिसे अधिक बालक चाहते हैं, अथवा हर एक बालक को अपने चुने हुए विषय पर वार्त्तालाप या भाषण का अवसर दिया जाय। यदि किसी विद्यार्थी को किसी विषय का किञ्चिन्मात्र भी ज्ञान नहीं है तो वह उसका वर्णन भी बिलकुल नहीं कर सकता। इसके विपरीत यदि किसी विषय का ज्ञान उपस्थित है तो उसके वर्णन के लिए केवल शब्दों की आवश्यकता रह जाती है जिसकी पूर्ति वास्तव में कोई कठिन बात नहीं है।

शब्दों का पूर्ण महत्त्व तथा उनका शुद्ध प्रयोग बिना अभ्यास और प्रयास के नहीं आ सकता। इसलिए इस स्थान पर यह बता देना उपयुक्त होगा कि यद्यपि निबन्ध-लेखन का अभ्यास उच्च कक्षाओं में आरम्भ किया जायगा तथापि तैयारी जिस दिन बालक पाठशाला में प्रवेश करे उसी दिन से इस आगामी कार्य के लिए करनी चाहिए। क्योंकि यदि विचारों को सुव्यवस्थित करने का ढङ्ग तथा शब्दों का शुद्ध प्रयोग आरम्भ ही से न सिखाया जायगा तो जब हम निबन्ध-लेखन आरम्भ करेंगे तो प्रारम्भिक त्रुटियाँ राह में अनेक रोड़े अटकायेंगी।

यह स्पष्ट है कि आरम्भ में बालक में न तो पढ़ने की योग्यता होती है और न लिखने की। इसलिए यह आवश्यक है कि लेखन-योग्यता उत्पन्न करने के पूर्व वार्तालाप तथा भाषण की शक्ति उत्पन्न करना ही शिक्षक का सर्वप्रथम कर्त्तव्य है। प्रायः शिक्षक इसी भ्रम में रहते हैं कि निबन्ध-लेखन की शिक्षा

प्रारम्भिक कक्षाओं की पढ़ाई समाप्त होने पर तुरन्त आरम्भ की जा सकती है यद्यपि आवश्यकता इस बात की है कि वार्तालाप करने की योग्यता ही को निबन्ध-लेखन की नींव समझना चाहिए। एक योरपीय ग्रन्थकार का सिद्धान्त है कि "वस्तुओं का ज्ञान देने से पूर्व शब्दों का ज्ञान कराना बालकों में अस्पष्ट और अशुद्धविचार उत्पन्न कर देता है। इससे शब्द उस वस्तु से जिसका कि वह नाम है अधिक महत्त्वपूर्ण हो जाता है। विषय का ज्ञान प्राप्त करने से पहले ही लेखन-कला के नियमों का अध्ययन करने से कथन या वर्णन में धाराप्रवाहिता तो अवश्य उत्पन्न हो जाती है किन्तु इसका ध्येय केवल शब्दों का प्रयोग होता है न कि विचार तथा अभिप्राय का प्रकाशन।" इसलिए यदि हम प्रारम्भिक कक्षाओं में बालकों के हृदयों में यह इच्छा तथा रुचि उत्पन्न कर दें कि वे अपने सह-पाठियों के सम्मुख अपनी जानी हुई वस्तुओं का मनोरञ्जक ढङ्ग से वर्णन कर सकें तो हम बालकों में निस्सन्देह एक बहुत ही लाभप्रद टेव की नींव डाल देंगे अर्थात् जब वे कुछ कहना चाहेंगे तो बड़ी सरलता तथा पूर्णता से कह सकेंगे तथा जब उनके पास कुछ कहने को नहीं होगा तो वे चुप रहेंगे।

यह बात मानी हुई है कि प्रारम्भिक कक्षाओं में वार्तालाप तथा भाषण ही का कार्य होना चाहिए। बच्चों को इस बात की स्वतन्त्रता होनी चाहिए कि वे अपने विचार स्वतन्त्र रूप से प्रकट कर सकें। उनकी अशुद्धियाँ इस प्रकार न बतानी चाहिए कि जिससे अशुद्धियों का ज्ञान उन्हें गूँगा बना दे। किन्तु केवल यह कहना चाहिए "ऐसे कहने के बदले यदि इस प्रकार कहो तो अधिक अच्छा होगा।" शुद्ध और अशुद्ध का ज्ञान होने से पूर्व बालकों को अच्छे और बुरे का ज्ञान होता है। शिक्षक को इस सिद्धान्त से लाभ उठाना चाहिए। उदाहरणार्थ, एक बालक कहता है, "मास्टर साहब, हम पढ़ूँगा" तो उसे बता देना चाहिए कि यह वाक्य बुरा है और "मैं पढ़ूँगा या हम पढ़ेंगे" कहना चाहिए। किन्तु ये अवसर तभी आ सकते हैं जब कि बालक निधड़क होकर वार्तालाप कर सकें। बालक अपने प्रतिदिन के साधारण जीवन की बातें करते हैं। हर वस्तु को देखने-भालने तथा उससे मनोरञ्जन करने के इच्छुक होते हैं। किन्तु यदि आप कुछ नियत प्रकार के ही प्रश्न करें तो देखेंगे कि बालक मौन हो जायगा। अर्थात् बालक में अपने को व्यक्त करने की जो इच्छा है वह प्रश्न के बेतुकेपन से दब जाती है। यह शिक्षक तथा विद्यालय का वह अत्याचार है जिसका निवारण करना सरल नहीं है। इसलिए हर शिक्षक का यह सर्वोपरि धर्म है कि शिशु को "बोलता

हुआ" बनावे। इस कर्तव्य की पूर्ति के लिए विविध युक्तियों का अवलम्बन किया जा सकता है।

(१) बालक को वाचाल बनाने के लिए एक सफल उपाय यह है कि किसी चित्र को कक्षा में एक ऐसे स्थान पर लटका देना चाहिए जहाँ हर एक बालक की दृष्टि पहुँच सके। फिर उस चित्र के आधार पर बच्चों की रुचि का ध्यान रखते हुए वार्तालाप आरम्भ करना चाहिए। शिक्षक चित्र को उसी दृष्टि से देखे जिससे उसे बालक देखते हैं। आरम्भ में केवल चित्र की भिन्न भिन्न वस्तुओं को पहचनवाना पर्याप्त है। फिर प्रत्येक वस्तु के लिए एक वाक्य बनवाया जाय। फिर यथासम्भव इन वाक्यों में एक सम्बन्ध स्थापित किया जाय। चित्र के उन्हीं भागों को प्रयोग में लाया जाय जिसमें बालकों को रुचि हो। इस प्रकार के पाठों से बालकों तथा शिक्षक दोनों का मनोरंजन अवश्य ही होगा।

(२) हर प्रकार के बालकों को कहानियाँ स्वभावतः प्रिय होती हैं। यदि शिक्षक उत्तमोत्तम कहानियाँ बालकों को सुनाये और फिर उनसे कहे कि तुम भी इसी प्रकार कोई कहानी कहो तो ८० प्रतिशत विश्वास किया जा सकता है कि बालक तुरंत बातचीत आरम्भ कर देंगे। कहानियों से लाभ प्राप्त करने के कई ढंग हो सकते हैं जो प्रत्येक शिक्षक स्वयं निकाल सकता है। उदाहरणार्थ निम्नलिखित कहानी ही को लीजिए।

(क) एक हाथी, एक सिंह, एक मृग और एक श्रृगाल किसी वन में रहते थे।

(ख) वहाँ पानी तथा चारे का काल पड़ गया।

(ग) अब अलग अलग हाथी, सिंह तथा मृग और श्रृगाल ने क्या किया?

कहानी की पूर्ति का प्रयत्न कीजिए। बालकों से वार्तालाप कीजिए और विविध बातों को ध्यान में रखते हुए कहानी को भिन्न भिन्न प्रकार से पूर्ण कीजिए।

बच्चों के उपयुक्त पुस्तकें दुर्लभ तो अवश्य हैं पर अब अलभ्य नहीं हैं। ऐसी छोटी छोटी पुस्तकें जिनमें शिशुओं के योग्य कहानियाँ हैं (जो इलाहाबाद, लखनऊ, लाहौर तथा दिल्ली के पुस्तक-विक्रेताओं के यहाँ प्रचुरता से प्राप्त हो सकती हैं) शिक्षक के लिए अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होंगी। किन्तु इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि कहानियों में बालकों की ग्रहण-शक्ति के परे

कुछ भी न होना चाहिए। और न वह इतनी लम्बी हो कि अन्त तक पहुँचते पहुँचते बालक को आरम्भ की बात भूल जाय।

(३) कहानियों के पश्चात् देखी हुई वस्तुओं का वर्णन, सामने रक्खी हुई वस्तुओं का वर्णन तथा वस्तुओं की तुलना करने का अभ्यास आरम्भ करना चाहिए। इसमें प्रथम दोनों पाठों में अधिक सोच-विचार तथा अभ्यास की आवश्यकता प्रतीत होती है। इसलिए अध्यापक को चाहिए कि आरम्भ में अपने पाठ को उन्हीं वस्तुओं तथा घटनाओं तक परिमित रक्खे जो बालकों की देखी हुई हों और जो बालकों के रहन-सहन का आवश्यक अङ्ग रही हों। मनोभावों के विश्लेषण के लिए बालक की स्मरण-शक्ति, शृङ्खलाबन्धन-शक्ति तथा ग्रहण-शक्ति अत्यन्त लाभदायक तथा आवश्यक है।

(४) यह बिलकुल स्पष्ट है कि भाषण की अपेक्षा वार्तालाप अधिक सरल तथा मनोरञ्जक है और फिर यदि वार्तालाप समवयस्कों में हो तो वह उस वार्तालाप से, जो कि अल्पवयस्क तथा अधिक अवस्थावाले पुरुष के मध्य में होता है, कहीं अधिक चित्ताकर्षक और प्रसन्नतादायक हो सकता है। इसलिए यदि शिक्षक दो विद्यार्थियों के पारस्परिक वार्तालाप को शिक्षा का आधार बना सके तो सफलता निस्सन्देह प्राप्त होगी। किन्तु बालक अपने विचारों को सफलतापूर्वक व्यक्त नहीं कर सकते इसलिए यदि उन्हें कल्पित व्यक्तित्व दे दिया जाय तो उसकी अपूर्वता उनका मुँह खोल देगी। मान लीजिए कि कक्षा के दो शिशुओं को, जिनके नाम मोहन तथा सोहन हैं, चुनकर आप अपने पास बुला लेते हैं और मोहन से कहते हैं कि "तुम एक यात्री हो जो रेल-द्वारा एक ग्राम से दूसरे ग्राम तक जाना चाहते हो। सोहन रेल का बाबू है जो स्टेशन पर टिकट देता है तथा गाड़ी का समय बताता है और फाटक पर खड़े होकर यात्रियों के टिकट लेता है। अब मोहन तुम सोहन से वार्तालाप करो, टिकट मोल लो, गाड़ी का समय पूछो, इत्यादि, इत्यादि।

इसी प्रकार विद्यार्थी अपने को नहर का पटवारी, थाने का मुंशी इत्यादि मान कर वार्तालाप कर सकते हैं। संक्षेप में विद्यार्थियों के आस-पास की अगणित वस्तुएँ एक एक करके पाठ तथा वार्तालाप के विषय बनाये जा सकते हैं। इस प्रकार के पाठों का ज्ञान उदाहरणों से समझाया जा सकता है। परंतु विश्वास है कि शिक्षक सोच-विचार कर आवश्यकतानुसार पाठ निर्माण कर लेंगे।

पाँच-छः वर्ष की शिक्षा के पश्चात् बालक ने पठन तथा लेखन की प्रारम्भिक सीढ़ियाँ पार कर ली हैं। कुछ पाठ्य तथा अन्य पुस्तकें पढ़ ली हैं

किन्तु अभी तक उसकी रचनात्मक तथा क्रियात्मक शक्तियों की वृद्धि केवल वार्तालाप तथा सम्भाषण से होती रही है। अब उसकी शिक्षा में लेखन का नया अंश भी सम्मिलित हो जाना चाहिए। आइए इस बात पर विचार करें कि अब शिक्षक को कौन कौन-सी सीढ़ियाँ पार करनी हैं और हर सीढ़ी पर किन किन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

विषयो के चुनाव के बारे में इससे पूर्व ही नियम स्थापित किया जा चुका है कि विषयनिर्वाचन बालकों की रुचि के अनुसार होना चाहिए। अब इस नियम में इतनी वृद्धि और की जा सकती है कि विषयान्वेषण तथा निर्वाचन के पश्चात् यह आवश्यक नहीं है कि शिष्य तुरन्त ही चुने हुए विषय पर निबन्ध लिखना प्रारम्भ कर दें। शिक्षक को निबन्धार्थ निर्वाचित विषय पर बातचीत करके उसके हर एक अङ्ग को विद्यार्थियों के सम्मुख पूर्णतया स्पष्ट कर देना चाहिए। इससे यह लाभ होगा कि प्रत्येक विद्यार्थी निबन्ध को इच्छानुसार सुव्यवस्थित कर सकेगा। और उसी अङ्ग पर लेख लिखेगा जिसमें उसे अधिक रुचि है और जिसका उसे ज्ञान है। इस बात को कभी न भूलना चाहिए कि हमारी लेखनशैली में मनोरंजकता तथा सरसता तभी आ सकती है जब हमें अपने निबन्ध के विषय का भरपूर ज्ञान हो।

जब हम किसी विषय पर कुछ लिखना चाहते हैं तथा उसके ऊपर विचार करते हैं तो हमारे मस्तिष्क में उस विषय-सम्बन्धी अनेक विचार, घटनायें तथा युक्तियाँ उपस्थित हो जाती हैं। यह तो सम्भव नहीं कि सब विचार एक साथ ही लेखनीबद्ध किये जा सकें। इसलिए संकेत रूप में विचारों की सूची बना लेनी चाहिए। कुछ बातें पहले लिखनी चाहिए कुछ बाद में। बहुधा ऐसी बातें भी होती हैं जो अनावश्यक या कम महत्त्वपूर्ण होने के कारण छोड़ दी जाती हैं। इस बात का समझना कि कौन-सी बात किस स्थान पर लिखी जाय, कैसी भूमिका हो और कैसा परिशिष्ट, क्या आरम्भ और क्या अन्त, कहाँ पर लेखनी उठाई जाय और कहाँ पर रख दी जाय केवल अभ्यास ही से सम्भव नहीं। यदि शिक्षक ने अपनी कक्षा में विद्यार्थियों की सहायता लेकर विषय का अध्ययन अच्छी तरह से करा दिया है तो व्यवस्था का प्रश्न सरल हो जायगा और निबन्ध के संगठन की कठिनाइयों के कारण बालकों को दिये हुए विषय पर सुन्दर निबन्ध लिखने में सुविधा होगी। इस कारण यह बात सर्वदा स्मरण रखनी चाहिए कि निबन्ध के लिखने की कक्षाओं में भी सम्भाषण तथा वार्तालाप की उतनी ही आवश्यकता है जितनी कि प्रारम्भिक कक्षाओं में और

यह कि उसका महत्त्व दोनों ही श्रेणियों में शिक्षक के दृष्टिकोण से लगभग एक-सा है। यह स्पष्ट है कि निबन्ध-रचना का लेखन-भाग भाषण-भाग से बहुत कुछ भिन्न होगा किन्तु यह भिन्नता उसी प्रारम्भिक तैयारी पर जो शिक्षक वार्तालाप द्वारा कर सकता है अवलम्बित नहीं हो सकती।

नीचे निबन्ध-रचना के कुछ ढङ्ग लिखे जाते हैं। अनुभव से यह कहा जा सकता है कि इनके अनुसार कार्य करने से बालकों में निबन्ध-लेखन की अच्छी योग्यता उत्पन्न की जा सकती है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि शिक्षक लकीर का फ़क़ीर हो जाय। अभिप्राय यह है कि शिक्षक अपने बालकों की आवश्यकताओं का ध्यान रखते हुए इनमें यथासाध्य परिवर्त्तन कर लें।

गद्य का अध्ययन—पाठ्य-पुस्तक में से गद्य का एक भाग ले लीजिए। इस गद्य-भाग को कक्षा के सम्मुख उच्च स्वर से पढ़िए या किसी बालक से कहिए कि वह पढ़े। इस प्रकार पढ़ चुकने के पश्चात् उसके विषय की व्याख्या करके भिन्न भिन्न उक्तियाँ तथा युक्तियाँ क्रम से श्याम पट पर लिख दीजिए। कठिन शब्दों तथा मुहावरों के अर्थ तथा महत्त्व विशदता के साथ विद्यार्थियों को समझा दीजिए जिससे छात्रों को ज्ञात हो जाय कि इस गद्य-भाग का आशय क्या है। किस किस मनुष्य तथा वस्तु का उल्लेख किया गया है, क्या क्या घटनाएँ तथा युक्तियाँ उपस्थित की गई हैं। प्राकृतिक दृश्य के वर्णन के लिए कौन कौन-से शब्दों का प्रयोग किया गया है। पात्रों के चरित्र-चित्रण के लिए शब्दों तथा मुहावरों के चुनाव में कैसी सतर्कता बर्ती गई है इत्यादि, इत्यादि।

इसके पश्चात् छात्रों से कहिए कि वे अपने वाक्यों में उन्हीं शब्दों तथा मुहावरों का प्रयोग करें। प्राकृतिक दृश्यों का अपनी भाषा में वर्णन करें। फिर छात्रों के गद्य की तुलना नमूने के गद्य से कीजिए और कक्षा को बतलाइए कि शुद्ध शब्दों के प्रयोग भाषा की धाराप्रवाहिता तथा शब्दों और मुहाविरों के उपयुक्त प्रयोग से लेख में कैसी मधुरता आ जाती है।

पत्रलेखन—बहुधा शिक्षक पत्रलेखन की ओर उचित ध्यान नहीं देते। वास्तव में पत्रलेखन निबन्ध-रचना का एक अत्यन्त ही आवश्यक अंग है। पत्रों में सिरनामे इत्यादि की आवश्यकता, आरंभ तथा समाप्त करने का ढङ्ग, पता इत्यादि लिखने के नियम ऐसी आवश्यक बातें हैं कि हर एक शिक्षक को उन्हें अपने छात्रों को भली भाँति समझा देना चाहिए।

बच्चे बड़ों का अनुकरण करने तथा बड़ा बनने के स्वभावतः इच्छुक होते हैं। और प्रत्येक गृह में पत्रलेखन बड़ों के हाथ में होने के कारण जब पत्रलेखन

का अवसर बालकों को दिया जायगा तो अनुमान किया जा सकता है कि इसी अनुकरण करने की प्रकृति के प्रभाव से उनकी इसमें भी रुचि हो जायगी। किन्तु यह आवश्यक है कि इस मनोरञ्जकता को सत्य बनाने के लिए विषयों का निर्वाचन बहुत ही सावधानी से किया जाना चाहिए। शिक्षक को चाहिए कि आरम्भ में पत्रों के नमूने दिखावे। सिरनामा तथा स्वस्तिवाचन लिखना सिखाने के लिए भिन्न भिन्न पत्रों के नमूने श्याम पट पर लिख दे। तत्पश्चात् पत्र का मुख्य विषय तथा समाप्ति सिखाई जाय तथा प्रारम्भिक कठिनाइयाँ सम्भाषण-द्वारा दूर की जायँ। तब वह छात्रों से पत्र लिखने को कहे। इस सम्बन्ध में प्राजेक्ट मेथड का प्रयोग मनोरंजक और उपयोगी होगा। आधुनिक शिक्षाप्रणाली के अनेक प्रयोगों में से प्राजेक्ट-प्रणाली के नियमों का पालन अधिकतर विद्यालयों में लाभदायक सिद्ध हो चुका है। ऐसे तो प्राजेक्ट हर विषय की शिक्षा के लिए उपयोगी हो सकती है किन्तु वास्तव में निबन्ध-रचना तथा लेखनकला सिखाने के लिए इस प्रणाली की उपयोगिता लगभग निश्चित है। निबन्ध-रचना सिखाने के लिए प्राजेक्ट-प्रणाली निम्न-लिखित रीति से प्रयुक्त की जा सकती है।

मान लीजिए कि आपके विद्यालय में इंस्पेक्टर आनेवाला है और इसी अवसर पर पारितोषिक-वितरणोत्सव भी होगा। फुटबाल, हाकी, कबड्डी इत्यादि प्रतिद्वन्दिता के खेल भी होंगे। साराश यह कि वह दिन पाठशाला के अन्य साधारण दिनों से भिन्न होगा। आप इस आगामी दिवस की लड़कों को सूचना दीजिए। इसके हर अङ्ग पर भले प्रकार वाद विवाद करके यह निश्चित किया जाय कि क्या क्या किया जायगा। हर कार्य का कारण तथा उसके करने का ढङ्ग बालकों को ज्ञात हो जाना चाहिए। इसके पश्चात् बालकों को भिन्न भिन्न टोलियों में विभक्त कर दीजिए तथा प्रत्येक टोली को एक एक कार्य सौंप दीजिए। अर्थात् कोई टोली सजावट का प्रबन्ध करे, कोई खेल-कूद के प्रबन्ध को देखे। फिर प्रत्येक टोली अपने किये हुए कार्य का विवरण उपस्थित करे। इसी प्रसङ्ग में अपने गुरुजनों तथा मित्रों के नाम पत्र लिखे, प्रधानाध्यापक को अवकाश के लिए प्रार्थनापत्र लिखे इत्यादि। संक्षेप में आशय यह है कि सारी कक्षा अपने विचार और योग्यता के अनुसार शिक्षक की अध्यक्षता में अपना संसार स्वयं ही बनाये हुए हो। फिर वह इस संसार की घटनाओं को अपनी बुद्धि के अनुसार लेखनीबद्ध करे।

पारिवारिक तथा व्यवसायी पत्रों के लिए भी अनेक विषय हो सकते हैं। शिक्षक को चाहिए कि इन विषयों की सूची प्रस्तुत करे लें और समयानुसार

बालकों से उन विषयों पर पत्र लिखवायें। सम्भवतः अब यह स्पष्ट हो गया होगा कि पत्रलेखन निबन्ध-रचना के अभ्यास के लिए बहुत लाभप्रद सिद्ध हो सकता है। किन्तु यह अत्यन्त आवश्यक है कि शिक्षक इन विषयों को छात्रों की रुचि को ध्यान में रखते हुए चुनें। बहुधा एक कक्षा के विद्यार्थी का दूसरी कक्षा के विद्यार्थी को पत्र लिखना तथा उसका उत्तर पाना मनोरञ्जनपूर्ण होता है।

उच्च कक्षाओं में प्रसिद्ध लेखकों के पत्रों का अध्ययन भी पत्रलेखन तथा निबन्धरचना के लिए लाभप्रद सिद्ध हो सकता है।

संक्षेपकरण—कम से कम शब्दों में अधिक से अधिक अर्थ का व्यक्त करना अच्छी लेखनशैली तथा विचारपूर्ण लेखों का एक आवश्यक लक्षण है। इसलिए अपने छात्रों को संक्षेपकरण का अभ्यास कराना शिक्षक का एक आवश्यक कर्त्तव्य है। उसके लिए सरल नियम यह है कि तर्कयुक्तियों से रहित एक गद्य का भाग लीजिए और उसे अपने विद्यार्थियों को एक या दो बार पढ़कर सुना दीजिए। फिर अलग अलग पूछिए कि उसमें क्या वर्णन किया गया है। श्याम पट पर उन बातों को लिखते जाइए। फिर उसी गद्य-भाग को पढ़िए और देखिए कि छात्र क्या क्या बताना भूल गये हैं। जब सब बातें श्याम पट पर लिख जायँ तो छात्र विचार करें कि चुनी हुई बातों में कौन-कौन सी आवश्यक हैं। संक्षेप-करण का ध्येय यह होना चाहिए कि अनावश्यक बातों को छोड़ दिया जाय तथा आवश्यक बातें क्रमानुसार सुव्यवस्थित करके चुन ली जायँ।

कहानीलेखन—कहानी कहने की बालकों को स्वाभाविक इच्छा होती है। प्रत्येक बालक में कहानी कहने और सुनने का स्वाभाविक प्रेम है। यह मनोभाव केवल शिशुओं ही में परिमित नहीं है किन्तु बड़ों में भी पाया जाता है। प्रारम्भिका निबन्धरचना के प्रसंग में इसकी आवश्यकता तथा लाभों का वर्णन किया जा चुका है। उच्च कक्षाओं में भी कहानीलेखन इसी आधार पर प्रचलित रखना चाहिए। किसी घटना को, जिसका किसी विद्यार्थी को ज्ञान हो, चुन लीजिए और पहले उससे केवल उसी घटना का वर्णन करने को कहिए। तत्पश्चात् घटनाओं के पारस्परिक प्रभाव, आस-पास के जनसमुदाय के जीवन, व्यवहार तथा प्रतिदिन के कार्यों से नित्य नई कहानियाँ आविष्कृत कराइए। वास्तव में कहानीलेखन के द्वारा शिक्षक का ध्येय निम्नलिखित तीन गुणों की प्राप्ति होना चाहिए। अर्थात् क्रमानुसार घटनावर्णन, दृश्यवर्णन तथा कार्यवर्णन की क्षमता। ये उस समय प्राप्त हो सकते हैं जब विद्यार्थी अपने अनुभवों का प्रयोग करने पर तत्पर हों। ऊँट, घोड़ा, गाय, बैल से कौन बच्चा परिचित नहीं।

कौन यह नहीं जानता कि यह पशु प्रातः से सायं तक क्या करते हैं। मनुष्य का उनके साथ क्या व्यवहार होता है। किन्तु क्या शिशु यह नहीं सोच सकते कि ऊँट, घोड़ा, गाय, बैल मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करते हैं। प्रत्येक शिक्षक इस मनोरञ्जनपूर्ण दृष्टिकोण का प्रयोग निबन्धलेखन के लिए कर सकता है। उदाहरणार्थ गाय के संबंध में मनुष्य के विचार क्या हैं और फिर गाय को मनन-योग्य मानकर सोचा जाय कि मनुष्य के सम्बन्ध में गाय के विचार क्या हैं। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के लिए दो दृष्टिकोण हो सकते हैं अर्थात् एक तो विद्यार्थी का और दूसरा विद्यार्थी के सम्बन्ध में वर्णित वस्तु का।

यदि शिक्षक अपने छात्रों को कल्पना की इस सुन्दर तथा परिपूर्ण वाटिका तक पहुँचा देंगे तो कौन कह सकता है कि वे सुगन्धिपूर्ण तथा रंग-बिरंगे पुष्पों के कुसुमगुच्छ न बना लायेंगे?

निबन्धरचना की और अनेक रीतियाँ लिखी जा सकती हैं। शिशुओं के चारों ओर की प्रत्येक वस्तु उनके मनोरञ्जन का कारण हो सकती है। ग्रीष्म तथा शिशिर-ऋतुएँ, वसंत तथा शरद्, सड़क, गाड़ी, मोटर, नहर, पटवारी, डाकघर, पक्षी, पशु, ग्रामकूप, ग्राम की चौपाल और स्वयं ग्रामीण बालक, युवा तथा वृद्ध,—तात्पर्य यह कि कौन ऐसी वस्तु है जो बालकों के लिए अरोचक है। वरन् आवश्यकता इस बात की है कि शिक्षक छात्रों की रुचि का उपयोग करे। उनके आचारजनक मनोभावों की वृद्धि का उपाय करता रहे और सदा यह स्मरण रक्खे कि शुद्ध भाषण से भाषण की आवश्यकता अधिक है। और यदि आरम्भ ही में अनुचित समालोचना ने बालक का मुख बन्द कर दिया तो फिर उसका भविष्य में बोलना असम्भव हो जायगा।

षष्ठ अध्याय

गणित—शिक्षा और सिद्धान्त

१—गणित की शिक्षा स्कूलों में क्यों दी जाती है ?—किसी भी विषय की शिक्षाविधि उस विषय के पाठन के लक्ष्य के ऊपर पूर्णतया निर्भर रहती है । इसलिए सर्वप्रथम गणित के अध्यापक को इस योग्य होना चाहिए कि वह उपर्युक्त प्रश्न का उत्तर समुचित रूप से दे सके ।

एक प्रधान कारण तो यह है कि बालक को स्कूल में भेजने के ध्येय अर्थात् बुद्धिविकास की पूर्ति बड़ी सुचारुता से होती है । अभ्यास तो किसी भी विषय के द्वारा दिया जा सकता है किन्तु विकास के लिए यह आवश्यक है कि प्रयत्न सफल हो अन्यथा आरम्भ से ही निराशा और अरुचि का संचार प्रगति में बाधा पहुँचाने लग जायगा । यह भी आवश्यक है कि बालक स्वयं निर्णय कर सकें कि वे अपने प्रयत्न में सलफ हुए अथवा नहीं । गणित में यह बहुत सहज है क्योंकि काम की कठिनता को बालक की योग्यता के अनुसार बड़ी सरलता से किया जा सकता है । बालक को मार्ग से भटक जाने पर केवल अपनी भूल ही नहीं उस भूल के कारण का भी पता लग जाता है । श्लेष, अस्पष्टता और दुरूहता के न होने से बालक को बाधाओं से सम्मुख युद्ध करके विजय प्राप्त करनी पड़ती है । वह अध्यापक या किसी अन्य गणितज्ञ का मत मानने को बाध्य नहीं है । उसे स्वयं ही दत्त बातों की विवेचना करके, निस्सार को छोड़कर सार को ग्रहण करना पड़ता और अभीष्ट फल प्राप्त करना होता है । विचारों की यथार्थता में तो यह विषय सर्वोपरि है ही । भाषा की यथार्थता भी विचारों की यथार्थता की अनुगामिनी होने के कारण इस विषय में पर्याप्त मात्रा में है । उचित शिक्षा से आगमन अर्थात् मिलते-जुलते विभिन्न उदाहरणों की सहायता से व्यापक सामान्य सत्य की प्राप्ति और निगमन अर्थात् सामान्य सत्य के आधार पर विशेष फलों की प्राप्ति, दोनों विधियों का अभ्यास हो सकता है । किन्तु यह सदा ध्यान रखना चाहिए कि 'कैसे' भी उतना ही आवश्यक है जितना 'क्या' । अर्थात् किसी भी सोपान प्राप्त करने की विधि भी उतनी ही आवश्यक है जितना कि यह

ज्ञान कि येन केन प्रकारेण बालक को कुछ ज्ञान प्राप्त हो चुका है। क्योंकि ये ही अनुसन्धान की विधियाँ सदा से सत्य की प्राप्ति में सहायता देती रही हैं।

दूसरा प्रधान कारण गणित की व्यापकता और इसलिए उपयोगिता है। हमें इस कल्पना की व्याख्या की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती कि गणित की अनुपस्थिति में सभ्य संसार तथा मनुष्य के विचारों में कितनी भयंकर न्यूनता होती तथा शिल्प, स्थापत्य आदि की क्या दशा होती। गणित की व्यापकता तथा मानवीय मस्तिष्क के साथ इसके घनिष्ठ सम्बन्ध का पता इसी से लग सकता है कि इसके मूल सत्यों का अपावरण भिन्न भिन्न जातियों ने भिन्न भिन्न काल में बिना एक दूसरे के ज्ञान अथवा सहायता के किया है। इसी लिए सदा से और विशेषरूप ये आज-कल के विश्वव्यापी शिल्पीकरण में गणित की उपयोगिता उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है। यदि ऐसा न होता तो क्या अध्यापक को छोटे से छोटे बालकों को उनके भी अनुभव के अंतर्गत उदाहरणों द्वारा समझाने में तनिक भी कठिनता न पड़ती? ग्रामीण बाज़ारों में तो उनकी भिन्न भिन्न कच्ची-पक्की तौलों के कारण साधारण गणित-ज्ञान अनिवार्य है। इसी लिए ग्रामीण स्कूलों में सदा से भाषा और गणित की प्रधानता रही है।

२—**गणित-शिक्षा के कुछ मूल तत्त्व**—गणित-शिक्षा में आरम्भ से ही अवलोकन, प्रयोग और सहज ज्ञान का उचित स्थान होना चाहिए। इस प्रकार से कक्षा-गणित और सांसारिक गणित की पृथक्ता मिटाई जा सकती है। जैसे यदि श्याम पट पर एक स्थान पर रखकर एक पेंसिल अपने एक सिरे के बल घुमाई जाय और उसके समय समय पर स्थित दशाओं के नाम रख दिये जायँ तो उस पेंसिल के घूमकर अपने पूर्व स्थान पर आ जाने पर इन सब कोणों का योग ३६०° होना बालकों की समझ में बड़ी जल्दी आ सकता है। यह सत्य है कि सहज ज्ञान बालक के चेतन अथवा अचेतन अनुभव पर ही बहुत कुछ निर्भर है और उसके अपरिपक्व और मिथ्या-कल्पनापूर्ण सहज ज्ञान का अधिक विश्वास भी न करना चाहिए; किन्तु फिर भी यदि सहज ज्ञान मूल तत्त्वों के अनुसार है और समय-समय पर वास्तविकता से प्रमाणित होता जा रहा है तो ऐसे सहज ज्ञान की अवहेलना बालक के विकास में बाधक होगी। संसार के बड़े से बड़े आविष्कारों में सूझ का प्रायः बड़ा हाथ रहा है। हाँ, उसको उच्छृङ्खल कल्पना में परिवर्त्तन न होने देना अध्यापक का कर्तव्य है। इस प्रकार आगमन-द्वारा सामान्य सत्य की प्राप्ति अन्वेषकों का प्रधान अस्त्र है। निगमन-द्वारा इसी सामान्य सत्य के नई स्थिति में आरोपण से विशेष अपूर्वज्ञात सम्बन्धों का ज्ञान होता है। कभी कभी

बिखरे हुए अनेक सत्य एक ही मूल तत्त्व के अनेक अंग प्रमाणित होकर एक सूत्र में बँध जाते हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ और भी विधियों का संक्षिप्त उल्लेख उचित है। इनमें प्राचीनतम सुकराती विधि है जिससे यूनान का प्रसिद्ध दार्शनिक सुकरात बड़े बड़े पंडितों के भ्रमपूर्ण विचारों को छिन्न-भिन्न किया करता था। इस विधि में बालक जिस बात को सत्य मानता है उसी के ठीक विपरीत कथन को उसके ही उत्तरों द्वारा सत्य सिद्ध कर दिया जाता है और बालक झट अपनी भूल समझ जाता और स्वीकार कर लेता है। किन्तु इसमें बालकों को कक्षा के सामने मूर्ख बनना और फिर भी निश्चेष्ट रहना पड़ता है। इसलिए इस विधि का अधिक प्रयोग उचित नहीं है।

विवेचना-विधि का विशद वर्णन आगे रेखागणित के सम्बन्ध में दिया जायगा। किन्तु यहाँ पर यह समझ लेना आवश्यक है कि यही विधि सार और निस्सार को समझने और पृथक् के लिए बालक के लिए सर्वोत्तम है और इसमें गौण रूप से सम्बन्धित पाठों की पुनरावृत्ति भी हो जाती है। इसी विधि से प्रथम आविष्कारकों ने काम लिया था और इसी विधि के जानने से बालक स्वयं उन्नति कर सकता है। इस प्रकार से प्राप्त मार्ग के सरलतम वर्णन को संयोजन-विधि कहते हैं। इसी विधि के अनुसार प्राप्त सत्यों का एकत्रीकरण, सूत्र-बन्धन और विभाग होता है।

सबसे आधुनिक विधियाँ दो हैं—स्वान्वेषी विधि, प्रयोगशाला-विधि। स्वान्वेषी विधि में अध्यापक यह प्रयत्न करता है कि बालक मूल अविष्कर्ता की भाँति ही अपने सम्मुख के प्रश्नों के उत्तर स्वयं खोज निकाले। यह आवश्यक नहीं है कि वह मूल आविष्कर्ता की भाँति वर्षों भटका करे किंतु उसके अनुभव से लाभ उठावे और अपने अध्यापक की अल्पतम सहायता से थोड़े ही समय और प्रयत्न से अपना काम निकाल सके। जैसे मानचित्र और वर्णनों की सहायता से मध्य अफ़्रीका के भूगोल जानने में अब बालक को लिविंगस्टोन आदि यात्रियों की असंख्य भयंकर से भयंकर कठिनाइयों में से एक का भी सामना न करना पड़ेगा। किंतु फिर भी स्वयं सिद्ध किया हुआ सत्य अपना ही होता है चाहे वही सत्य सहस्रों बार क्यों न सिद्ध हो चुका हो। गणित का कौन अध्यापक बालकों की उस प्रसन्नता का अनुभव नहीं करता जो उनको अपनी गणना और नाप के मिल जाने पर होती है। किंतु इस विधि के प्रयोग में दोनों ओर खाई है। न तो सहायता की इच्छा से आकुल होकर बालक को गोद में ही उठा लेना चाहिए

और न इसके विपरीत उनको भास्कराचार्य और रामानुजम् मानकर अकेले असंख्य पथवाले सघन वन में विचरने और थककर बैठ जाने के लिए छोड़ देना चाहिए। इस विधि में आरम्भ में समय भी अधिक नष्ट होगा किंतु विचारों की प्रौढ़ता और नवीन समस्याओं के सुलझाने के दाँवपेचों का ज्ञान सदा के लिए बालक का स्थायी कोष हो जायगा और कुछ दिनों के बाद समय भी उतना ही लगने लगेगा। इस विधि की सफलता के लिए अध्यापक में अपने विषय में साधारण से अधिक रुचि, ज्ञान और संलग्नता होनी चाहिए।

प्रयोग-शाला-विधि में जिन सत्यों की अन्य विधियों से उपपत्ति होती है उनके अस्तित्व का ज्ञान होता है। यह ज्ञान प्रयोग-शाला में काम करते करते उदय होता है। किन्तु इस विधि में समय और धन दोनों का अधिक व्यय होता है।

ऊपर संक्षिप्त रीति से प्रचलित विधियों का संक्षिप्त वर्णन और उनकी सीमा का यथासम्भव परिचय दिया जा चुका है। किन्तु यह भी जान लेना नितान्त आवश्यक है कि उन विधियों का प्रयोग कहाँ और कब होना चाहिए। सफल अध्यापक को तो कभी भी एक विधि का क्रीतदास बनकर न रहना चाहिए। किन्तु यथा-स्थान सभी विधियों का प्रयोग पाठ, काल और पात्र के अनुसार करना चाहिए। सुकराती विधि तो कभी कभी बिजली की भाँति बालक को उसी के शब्दों में समझाने के लिए अथवा शरीर बालक को चुप करने के लिए काम के लाई जाती है। आगमन-विधि साध्य अथवा मूलतत्त्व के पूर्व उदाहरणों के भली भाँति निरीक्षण और उनसे सामान्य तत्त्व खोजने के काम में आती है। विवेचना-विधि के सर्वोत्कृष्ट उदाहरण रेखागणित में हैं किंतु समस्या समझने में इसका प्रयोग सब जगह हो सकता है। स्वान्वेषी विधि इन सब विधियों के अन्दर आत्मा की भाँति विद्यमान है। इसका उचित प्रयोग सब जगह श्रेय है।

३—गणित-कक्षा का संचालन—गणित कक्षा का काम घंटा बजते ही इस प्रकार आरम्भ कर देना चाहिए कि कुछ चुने हुए प्रश्न तुरन्त लगाने को कह दिये जायँ। यह प्रश्न कई प्रकार के हो सकते हैं—(१) पुनरावृत्ति के लिए, (२) पिछले पाठ की जाँच के लिए, (३) प्रगति तीव्र करने के लिए मौखिक प्रश्न, जिनका सम्बन्ध आसन्नपठित पाठ से अवश्य होना चाहिए। इस सम्बन्ध में एक 'नव प्रश्न'-प्रणाली भी ध्यान देने योग्य है।

इस 'नव प्रश्न'-प्रणाली में पाठ के आरम्भ में श्यामपट के नौ भाग कर दिये जाते हैं और हर एक भाग में एक प्रश्न संक्षिप्त रीति से लिखा रहता है। इसी प्रकार विभक्त एक एक काग़ज़ का टुकड़ा प्रत्येक बालक को प्रश्न हल करने

के लिए दे दिया जाता है। अधिकतर यह प्रश्न मौखिक करने के लिए होते हैं किंतु कभी कभी कठिन प्रश्न के लिए दूसरी ओर क्रिया करने की आज्ञा दे दी जाती है। एक नमूना आगे दिया जाता है। अध्यापक इसी आदर्श पर अपने 'नव प्रश्न' स्वयं तैयार कर सकते हैं।

$३\frac{१}{२}\%$ भिन्न में	$\frac{७}{८}$ प्र० सैकड़ा में	$(५\frac{३}{४})^२$
१५) को २:३ में बाँटो	आदमी ३ घंटे लगाता बालक ६ ,, ,, २ आदमी और ३ बालक ?	·२५ × ·८७६
एक आदमी १२ मील ६ घंटे में। दो आदमी १२ मील ?	$\sqrt{१६९}$	९ − ७ + ८ ÷ २

इस 'नव प्रश्न' सोपान में १० मिनट से अधिक कभी नहीं लगाना चाहिए।

इसके अनन्तर पाठ को तीन भागों में विभक्त करना चाहिए—(१) प्रस्तावना, (२) नवीन पाठ, (३) उसकी पुष्टि। यदि 'नव प्रश्न' या अन्य मौखिक प्रश्नों का सम्बन्ध नवीन पाठ से है तो उन्हीं की कठिनाइयों को लेकर नवीन पाठ आरम्भ किया जा सकता है। अथवा उनमें आई हुई विधि का सरल रूप नवीन पाठ बनाया जा सकता है जैसे खंड-द्वारा वर्गमूल निकालने के बाद वर्गमूल की लम्बी और सरल रीति। यथासम्भव प्रस्तावना-द्वारा पूर्वपठित अध्यायों का सम्बन्ध नवीन पाठ से अवश्य कर देना चाहिए।

नवीन पाठ प्रस्तुत करने की विधि इस लेख का बहुत-सा भाग ले लेगी। अतः उसका यहाँ पर विशद उल्लेख व्यर्थ है क्योंकि यह विधि प्रत्येक पृथक् पाठ के साथ पृथक् होगी।

हाँ, नवीन पाठ की पुष्टि का सदैव समुचित ध्यान रखना चाहिए। और यह पुष्टि उसी घंटे में सवालों पर अभ्यास-द्वारा होनी चाहिए। कितना

ही अच्छा व्याख्यान हो, व्याख्या तथा विवेचना कितना ही सुन्दर हो बिना ठोस अभ्यास की कसौटी पर कसे त्रुटियों का ज्ञान नहीं हो सकता और न सफलता का ही अनुमान हो सकता है। विशेषकर यह कठिनता तब होती है जब दूसरे दिन उसी विषय पर दूसरा पाठ दिया जाता है। उस समय यदि पूर्वपाठ उसी ढंग से दुहराया जा रहा है तो रोचकता आ ही नहीं सकती। इसका उपाय केवल यही है कि थोड़े से प्रश्न पहले करने को दे दिये जायँ। उन प्रश्नों में त्रुटियाँ होंगी ही। सम्भव है कोई विशेष अड़चन पड़ जाय। इस दशा में समझाने पर प्रत्येक बालक ध्यान से सुनेगा और विशेष रूप से उस स्थल पर ध्यान देगा जहाँ उसने त्रुटि की है।

इन प्रश्नों के चुनने और नवीन पाठ के प्रस्तुत करने में पूर्व तैयारी और पाठों के क्रम-बन्धन की बड़ी ही आवश्यकता है। क्रम चाहे भङ्ग करने के लिए ही क्यों न बनाया जाय किन्तु उसे बनाना अवश्य चाहिए। कहीं पर आकस्मिक कठिनता आ पड़ेगी, कहीं किसी अच्छे विचार की व्याख्या में समय अधिक लग जायगा। सम्भव है कि अन्तर्गत कठिनाइयों का अनुमान यथार्थ न हुआ हो अथवा बालकों की योग्यता का ज्ञान ठीक न हो सका हो। किन्तु उस क्रम के अनुसार चलने के प्रयत्न में ही कठिनाइयों और उनके दूर करने के उपायों का पता लग सकेगा। विशेष रूप से नवीन और अनुभवहीन अध्यापक के लिए तो यह अनिवार्य होना चाहिए। अनुभवी अध्यापकों की कक्षा में भी ध्यान दिया जाय तो बहुत अधिक समय नष्ट होता है। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो अध्यापक को घंटा बजते ही काम शुरू कर देना चाहिए। जीवन में भी इससे पर्याप्त लाभ होगा।

गणित के इस अध्याय को स्थायी बनाने के लिए यह आवश्यक है कि निरन्तर अभ्यास अर्थात् 'ड्रिल' कराई जाय। इस अभ्यास से नवीन तत्त्व स्वभाव के समान हो जाता है और उस पर दिये हुए प्रश्न कम समय और कम परिश्रम से निकलते चले आते हैं। उस तत्त्व का दूसरे अध्यायों में आरोपण भी बड़ी शीघ्रता और सरलता से हो सकता है। जब तक ऐसा न हो जाय तब तक उस तत्त्व की शिक्षा कम से कम गणित में सफल नहीं कही जा सकती क्योंकि गणित शृङ्खलाबद्ध उत्तरोत्तर उन्नत नियमों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। सामाहिक या पाक्षिक पुनरावृत्ति विशद रूप से आवश्यक है। नित्यप्रति भी कुछ न कुछ अभ्यास अवश्य हो जाना चाहिए। जैसे जैसे गणित का कोष बढ़ता जाता है वैसे ही अधिक समय पूर्वपठित पाठों के भूलने की सम्भावना बढ़ती जाती है। यदि

नवीन पाठ की कठिनाइयाँ पृथक् कर दी जायँ और प्रत्येक पर पर्याप्त अभ्यास दे दिया जाय तो कुल अभ्यास की मात्रा में बहुत कुछ कमी हो सकती। आज-कल की गणित-शिक्षा में इसका स्थान बहुत गौण कर दिया गया है। इसी लिए उत्तमोत्तम विधियों से पढ़ाये जाने पर भी बालक एकदम शून्य रहते और तनिक भी बड़ा प्रश्न देखकर बग़लें झाँकने लगते हैं। कम से कम कुछ मूल नियम तो प्राचीन ऋषियों की भाँति स्मरण से पूर्व ही उपस्थित हो जाने चाहिए। अन्यथा अन्त मे टाँय टाँय फिस ही होगी।

इस पर्याप्त अभ्यास के सफल बनाने के लिए यह अत्यावश्यक है कि अध्यापक प्रत्येक बालक के लिखित कार्य की जाँच करे। अच्छा तो यही है कि बालक के त्रुटि करते ही अध्यापक उसको बता दे कि त्रुटि हो गई है। कौन-सी त्रुटि हो गई है इसका बताना अथवा न बताना अध्यापक तथा त्रुटि के ऊपर निर्भर है। यदि बिना बताये नहीं काम चलता तो अध्यापक को यह देखना होगा कि त्रुटि वैयक्तिक है या सामूहिक। सामूहिक त्रुटि को श्यामपट पर समझा देने ही से समय की बचत होगी। किन्तु वैयक्तिक त्रुटि के लिए पूरी कक्षा का समय नष्ट करना उचित न होगा। बताते समय यह सदैव ध्यान रखना चाहिए कि अधिकतर विचार बालक को ही करने पड़ें। कापियों पर चिह्न लगाते समय सामूहिक या वैयक्तिक अध्यापक से पूछने योग्य त्रुटियों के चिह्न पृथक् कर लेने चाहिए जैसे सामूहिक के लिए (पू) और वैयक्तिक के लिए केवल 'पू'।

इसी के साथ यह प्रश्न उठता है कि कापियों पर नम्बर भी देना चाहिए या नहीं। बालक प्रायः इन नम्बरों को काम का पुरस्कार और अपनी उन्नति की नाप समझते हैं। विशेषकर शिशु तो इनको स्थूल पदार्थ की भाँति पा जाने की लालसा रखते हैं। बड़ी कक्षाओं के बालक को धीरे धीरे इस तल के परे कर देना चाहिए। उसके लिए काम ही पुरस्कार है किसी अन्य स्थूल अथवा दीप्तिमान् पदार्थरूपी कोड़े का काम ही न रह जाना चाहिए। क्योंकि प्रथम तो अध्यापक के स्वयं मनुष्य होने के कारण नम्बर बिलकुल सही नहीं हो सकते यद्यपि उसको यह जान कर भी भरसक प्रयत्न करना चाहिए। द्वितीय, स्कूल की परीक्षा में किसी तरह सवाल कर देना जीवन का लक्ष्य हो जायगा। यथार्थ में यह शिक्षा का एक अति तुच्छ अंग है। बिहारी का दोहार्द्ध—"दिये लोभ-चसमा चखनि, लघु पुनि बड़े लखात" चरितार्थ हो जायगा। परन्तु पाक्षिक या साप्ताहिक परीक्षा बड़ों के ऊपर भी अध्यापक के शब्दों से अधिक प्रभावशाली है। नम्बरों के अनुसार

बिठालने से अन्यमनस्कों की भी अहमिति को धक्का लगता है। इसलिए उपर्युक्त अन्तिम लक्ष्य को ध्यान में रख कर कभी कभी परीक्षा लेना उचित है। 'नव प्रश्न' की प्रणाली में नम्बर देना कुछ सहज है। कई अध्यापक बालकों को कक्षा में सवाल करते समय घूम घूम कर नम्बर दे देते हैं किन्तु इसमें काकतालीय न्याय की मात्रा अधिक है। किन्तु परीक्षा चाहे जिस प्रकार ली जाय अध्यापक का ध्यान नम्बरों पर नहीं बालकों की त्रुटियों पर होना चाहिए। ये परीक्षायें पुरस्कार-वितरण के अवसर नहीं हैं। इनका तात्पर्य यह है कि अध्यापक और बालक दोनों अपनी अपनी त्रुटियाँ जान जायँ और यथासाध्य उनको जल्दी से जल्दी दूर करने की चेष्टा करें। अध्यापक के लिए, विशेषकर नवयुवकों के, तो इस दृष्टि-कोण से परीक्षायें बहुत ही लाभप्रद हैं।

कुछ तो इन्स्पेक्टर के भय से और कुछ बालकों में स्वच्छता का स्वभाव डालने के लिए स्कूलों में गणित के लिए दो कापियाँ होती हैं। एक 'रद्दी कापी' जिसमें पिछले प्रश्न लगा लिये जाते हैं और जब ठीक हो जाते हैं तो दूसरी 'स्वच्छ कापी' पर उतार लिये जाते हैं। कहीं कहीं 'स्वच्छ कापी' का बाँयाँ पेज ही 'रद्दी कापी' के काम आता है अर्थात् दोनों कापियाँ एक ही में सिली होती हैं। कहीं कहीं यह 'रद्दी कापी' बिना सिली हुई अर्थात् फुटकर पत्रों के रूप में दृष्टिगोचर होती है। किन्तु इन सभी रीतियों में कई त्रुटियाँ हैं—(१) काग़ज़ की बरबादी होती है, (२) गंदगी और उल्टे सीधे प्रश्न करने की बान पड़ जाती है, (३) प्रतिलिपि करने में भी बहुत-सी अशुद्धियाँ रहती हैं जिनके ऊपर उत्तर ठीक होने के कारण ध्यान ही नहीं दिया जाता, (४) समय नष्ट होता है, (५) प्रतिलिपि करने में क्रिया के आवश्यक अंग छूट जाने पर वह खंडित और अशुद्ध हो जाती है, (६) अध्यापक बालक की त्रुटियों को नहीं देख या दूर कर सकता क्योंकि 'रद्दी कापी' 'ख़ुदा या ख़ुद' के अतिरिक्त किसी के लिए भी नहीं है।

कदाचित् इन सब दोषों के अनुमान से ही कुछ अध्यापक हाशिया के अन्दर ही गुणन आदि करवाने लगे हैं किन्तु इसमें भी दिक्सूचक यंत्र की भिन्न-भिन्न दिशाओं में खींची हुई रेखाओं की आभा मिलती है। हमने सहारनपुर में स्वयं एक प्रयोग किया था जो अपनी पूर्ण सफलता के कारण ध्यान देने योग्य है। कापी पर बालकों को दोनों ओर लिखने की आज्ञा थी। उन कापियों के पेज समानान्तर रेखाओं-द्वारा दो-दो इंच के वर्गों में विभक्त थे। उनमें से एक या अधिक वर्गों का उपयोग कर लेने के बाद अँगरेज़ी स्कूल की कक्षा ३ के अर्थात् प्राइमरी स्कूल की कक्षा १ की लगभग अवस्थावाले बालक पटरी से

उन्हीं चिह्नों के ऊपर से सीधी स्वच्छ रेखा खीच देते थे। गुणन, योग आदि भी उन्हीं वर्गों के अन्दर ही स्वच्छता से होते थे। न रद्दी कापी थी, न बायाँ पेज, न हाशिया; और स्वच्छता इन सब विधियों से कहीं अधिक थी।

गणित में श्यामपट अनिवार्य है। इसलिए प्रत्येक कक्षा में कम से कम ६′×३′ का श्यामपट अवश्य होना चाहिए। श्यामपट का कुछ भाग वर्गांकित भी होना चाहिए जिसकी सबसे सरल विधि यह है कि बढ़ई को बुलाकर २″ की दूरी पर किसी तीक्ष्ण धार से रेखायें खुदवा ली जायँ। खड़िया भर जाने पर वे स्पष्ट हो जायँगी। दो इंच से कम के वर्ग अस्पष्ट हो जाते हैं। अध्यापक का श्यामपट-लेख सुन्दर और बड़ा होना चाहिए। छोटे लेख से विशेष कर बड़ी कक्षा में अवधान में बड़ी बाधा पड़ती है।

वरनाक्यूलर स्कूलों में गणित के दो मुख्य भाग हैं—अङ्कगणित जिसके अन्तर्गत बीजगणित के चारों साधारण नियम और समीकरण गौणरूप से और अङ्कगणित के ही अधिक सुचारु रूप से समझने के लिए सम्मिलित हैं, और रेखागणित।

अङ्कगणित को प्रायः लोग भ्रमवश प्रश्नों का समूह और उनके हल करने की विधि समझते हैं। उनके लिए प्रत्येक जाति का प्रश्न एक भिन्न प्रतिद्वन्द्वी है जिसको परास्त करने के लिए एक नई विधि का प्रयोग करना उचित है। प्रश्नों का हल कर लेना ही चरम ध्येय है। किन्तु यदि ध्यान से देखा जाय तो अङ्कगणित इन नियमों का संचय न होकर केवल कतिपय मूल तत्त्वों से ही बना है। बिलकुल नवीन तत्त्व उँगलियों पर गिने जा सकते हैं जैसे योग, भिन्न, अनुपात आदि। शेष सब अङ्कगणित के अध्याय इन्हीं के अन्तर्गत आ जायँगे और इन्हीं मूल तत्त्वों के आरोपण-मात्र हैं। उदाहरण के लिए प्रतिशत भिन्न का विशेष रूप है। ब्याज अनुपात का एक नया आरोपण है। घटाना जोड़ने का विलोम है और गुणन भी वह जोड़ है जिसके सब अङ्क बराबर हैं। इसी लिए अङ्कगणित में किसी भी नवीन स्थिति में इन्हीं तत्त्वों के आरोपण करने की बुद्धि उत्पन्न करना ही अध्यापक का प्रधान कर्तव्य है। किसी समस्या में क्या दिया हुआ है, क्या निकालना है तथा इस लक्ष्य के लिए किस तत्त्व का आश्रय लेना है यही अङ्कगणित की शिक्षा के मूलमन्त्र है। जीवन के लिए उपयोगी होना और उसकी सब स्थितियों में काम दे जाना ही इसके शिक्षण का लक्ष्य है।

इस लक्ष्य की पूर्ति के लिए यह आवश्यक है कि अङ्कगणित के पाठ्य-क्रम में भी उन्हीं बातों का और उसी सीमा तक समावेश किया जाय जहाँ तक वे

वास्तविक जीवन के लिए उपयोगी हैं। क्योंकि किसी भी विषय के पाठ्य-क्रम के ऊपर ही उसकी शिक्षा बहुत कुछ निर्भर है। बालकों की मानसिक कसरत और अध्यापक के उत्तरोत्तर कठिन और जटिल तथा दुरूह प्रश्नों के अन्वेषण के लिए अङ्कगणित की सृष्टि नहीं हुई है। लम्बे लम्बे जोड़ बैंकों और रेल के टिकटघरों के अतिरिक्त कहीं भी काम नहीं आते और जो लोग इन स्थानों में पहुँच जाते हैं उन्हें यह काम थोड़े से ही अभ्यास में आ जाता है। लँगड़ी भिन्न और तिमाही चक्रवृद्धि ब्याज भी इसी प्रवृत्ति के नमूने हैं। इधर कुछ दिनों से अङ्कगणित के पाठ्य-क्रम की वास्तविक उपयोगिता के बढ़ाने की चेष्टा की जा रही है। उदाहरण के लिए साधारण बही-खाता सम्मिलित कर दिया गया है किन्तु इस शिक्षा का महाजनों के यहाँ कुछ भी मूल्य नहीं है। बालकों के सामने वास्तविक खाते, हुण्डी, पुर्ज़े आते ही नहीं। ऐसे काल्पनिक जगत् में शिक्षा का प्रभाव अस्थायी हो तो क्या आश्चर्य? इससे हमारा यह अर्थ कदापि नहीं है कि बालकों को केवल तत्वों की ही अभ्यासहीन शिक्षा दी जाय और वे तनिक भी बड़े अंकों से भूत की भाँति भागें किन्तु अभ्यास अथवा नवीन अध्याय पाठ्य-क्रम में ही इस प्रकार से निश्चित रूप से रहें कि अध्यापकों को लक्ष्य के बारे में भ्रम न हो।

संसार में और विशेषकर व्यापारिक क्षेत्र में जहाँ अङ्कगणित का मुख्य और नित्य प्रयोग है इस बात की विशेष आवश्यकता पड़ती है कि गणना शीघ्र और शुद्ध हो। इसके लिए कक्षा में मौखिक अङ्कगणित एक बहुत ही अच्छा साधन है। मौखिक प्रश्नों में किसी प्रकार का झंझट न होने के कारण थोड़े ही समय में अधिक मात्रा में अभ्यास कराया जा सकता है। मौखिक होने के कारण व्यर्थ की गणना छोटे छोटे अङ्क देकर बचाई जाती है और बालकों का ध्यान शेष सब कठिनाइयों से पृथक् होकर केवल नई विधि पर ही रहता है और इस तरह कक्षागत रीति से अध्यापक उचित प्रश्नों द्वारा अनेक बालकों की सहायता से अभ्यास करा सकता है। बालकों को अपनी अशुद्धियाँ भी तुरन्त मालूम हो जाती हैं और उनके कारण भी।

इसके अतिरिक्त मौखिक अङ्कगणित के और भी कई गुण हैं। प्रथम तो इसमें अवधान और तीव्र विचार की आवश्यकता पड़ती है। लिखित क्रिया में प्रायः बालक का मस्तिष्क ऊँघा करता है और वह अनमना-सा अपनी लेखनी को चलाया करता है और अवसर पाकर इधर-उधर देखा भी करता है। मौखिक अङ्कगणित यदि तेज़ी से पाठ के आरम्भ में कराया जाय तो बालकों की शक्तियाँ

जाग्रत हो उठेगी और वे लिखित अङ्कगणित में अच्छा फल दिखा सकेंगे। दूसरे यदि कक्षा में नित्यप्रति ५ मिनट के लिए चारों साधारण नियमों और कभी कभी दशमलव, भिन्न, प्रतिशत, लाभ-हानि के मूल नियमों की तेज़ी से पुनरावृत्ति करा दी जाय तो अङ्कगणित की अधिकतर अशुद्धियों का लोप हो जायगा और बालकों में सर्वतोमुखी उन्नति स्पष्ट दिखाई पड़ेगी। इसलिए यह आवश्यक है कि नित्यप्रति अङ्कगणित के घंटे में कम से कम ५ मिनट और अधिक से अधिक ४० मिनट के घंटे में १० मिनट मौखिक अङ्कगणित के लिए अवश्य सुरक्षित रहने चाहिए। सम्भव है कभी कभी नये अध्याय की योजना और प्रस्तावना में इससे भी अधिक समय लग जाय किन्तु इसे समय की बर्बादी न समझना चाहिए। हाँ, इतना अवश्य करना चाहिए कि पूरा घंटा मौखिक अङ्कगणित में व्यतीत होकर नवीन पाठ भाप बनकर वायु में उड़ न जाय। मौखिक अङ्कगणित केवल यहाँ पर लिखित अङ्कगणित की प्रस्तावना और पथ-प्रदर्शक है। इसके सहारे कठिनाइयों को बालक के सामने सरल से सरल रूप में रक्खा जा सकता है, भिन्न भिन्न कठिनाइयाँ पृथक् की जा सकती हैं और अध्यापक को सदा अवसर मिलता रहता है कि वह बालकों का समुचित निरीक्षण करता रहे।

इस मौखिक प्रस्तावना का मुख्य पाठ अर्थात् लिखित अङ्कगणित किन मूल-तत्त्वों पर आश्रित होना चाहिए? यहाँ पर पहले ही उक्त तैयारी और पाठों के पहले से निश्चित विस्तार के विषय में फिर बल देना व्यर्थ न होगा क्योंकि बिना इसके पाठ का सफल होना असम्भव है। यहाँ पर हम छात्राध्यापकों के लिए विस्तार-भय से केवल कुछ नियमों का उल्लेखमात्र करेंगे जिनके अनुसार अपने पाठ की पूर्व तैयारी करने और कक्षा में काम करने से वे निरन्तर प्रयत्न करने से विचारशील और सफल बन सकेंगे।

प्रथम तो समय बहुत नष्ट होता है और विशेषकर अङ्कगणित की शिक्षा में प्रत्येक बालक से, व्यक्तिगत रूप से काम कराना और प्रत्येक की पूरी शक्ति का व्यय कराना अत्यावश्यक है। इसके लिए विशेषकर बालकक्षा में समुचित कक्षा-प्रबन्ध होना आवश्यक है नहीं तो सिवाय गोलियों की खड़खड़ाहट और उनको हाथ बढ़ाकर, आँख बचाकर पकड़ने या इधर उधर करने की चेष्टा बार बार मना करने पर भी न जायगी। यही मानसिक टालूपन और समय नष्ट करने का स्वभाव अध्यापक और बालकों का सबसे बड़ा शत्रु है। घंटा बजते ही, जैसा कि कहा जा चुका है, काम आरम्भ हो जाना चाहिए। बड़े लम्बे लम्बे

सवाल पुस्तक के बाहर से न बोले जायँ। यथासम्भव पाठ्य-पुस्तक का ही व्यवहार किया जाय। लम्बे चौड़े अङ्कों के गुणन में समय नष्ट न किया जाय। विशेषकर उस समय जब कि किसी नई विधि का समझना ही ध्येय है। प्रत्येक पाठ का लक्ष्य निश्चित और नियत होना चाहिए नहीं तो स्वच्छन्द वाटिका-विहरण से कुछ भी लाभ न होगा। बालक को भी जो काम करने को दिया जाय संशयरहित हो। योग्य बालकों को उनकी योग्यता के अनुसार शेष कक्षा से कुछ अधिक काम देना चाहिए। गुरों और लघु-क्रियाओं का जहाँ कहीं अवसर हो अवश्य व्यवहार करना चाहिए और कभी कभी अध्यापक को इनके अभ्यास के लिए प्रश्नों को थोड़ा-बहुत बदल भी देना चाहिए।

इस प्रकार पाठ के लक्ष्य को पूर्व तैयारी से निश्चित करके, अध्यापक और बालक दोनों निरन्तर उस लक्ष्य का ध्यान रखते हुए अग्रसर होंगे। तब देखना चाहिए कि नवीन पाठ बालक की किसी प्रबल इच्छा या आवश्यकता के अनुसार तो है। बालक के वास्तविक जीवन और रुचि से उसका सम्बन्ध होना चाहिए। नवीन पाठ बालक के आसन्न-पूर्व पठित ज्ञान पर आश्रित और उसका विस्तार ही होना चाहिए। जड़ उसी पूर्व पाठ में होना चाहिए अथवा नवीन पाठ से मिलते-जुलते अन्य ज्ञान में। पाठ का क्रम नियत और तर्कशास्त्र के नियमों के अनुसार शुद्ध होना चाहिए। पग पग पर बालकों के अनुभव का सहारा लेना चाहिए। देखना चाहिए कि हर घड़ी बालक प्रयत्न करता है और उसके प्रयत्न को अध्यापक उचित दिशा में फेरता रहता है। पाठ के यान्त्रिक भाग में मौखिक और लिखित अभ्यास दोनों पर्याप्त मात्रा में होने चाहिए और इन यान्त्रिक नियमों का सामाजिक जीवन की बहुत सी समस्याओं पर अनेक रूप से और भली भाँति आरोपण होना चाहिए। इतना ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक बालक को एक ही शिक्षा, एक ही अभ्यास, एक ही आरोपण न देकर उनको भिन्न भिन्न योग्यताओं के अनुसार इनमें भी यथोचित परिवर्तन करके जहाँ तक सम्भव हो वैयक्तिक शिक्षा देने का प्रयत्न करना चाहिए। उसी पाठ के अन्तर्गत किसी प्रकार की माप भी होनी चाहिए जिससे अध्यापक अपनी सफलता या अन्यथा जान सके।

ऐसे पाठ के लिए पहले से संचित सामग्री किस प्रकार की होनी चाहिए? उक्त सामग्री के दो भाग हो सकते हैं—प्रश्न और उदाहरण। चाहे वे भाषा-द्वारा मौखिक या लिखित रूप में दिये जायँ अथवा चित्रों या आकृतियों-द्वारा। प्रश्नों के लिए इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि उनको जीवन के विस्तृत

अनुभवों से जमा करके, प्रत्येक विधि के लिए पृथक् करके और ध्यानपूर्वक कठिनता के अनुसार क्रमबद्ध कर लेना चाहिए। उदाहरणों के लिए भी व्यापकता नितान्त आवश्यक है। यह देखकर आश्चर्य होगा कि कितनी वस्तुएँ या आकृतियाँ केवल एक ही पाठ के लिए आ सकती हैं। इन सबका विशद वर्णन योग के अंतर्गत आगे है। व्यापकता के साथ ही साथ वास्तविकता का भी ध्यान रखना चाहिए। यदि हो सके तो कक्षा में कोई क्रियात्मक समस्या रक्खी जाय जो अत्युत्तम होगा। उदाहरण के लिए २७ बालकों की कक्षा में यह प्रश्न उठा कि ३$\frac{१}{२}$ फ़ीट रंगीन फ़ीते में से कितनी-कितनी लम्बी पट्टियाँ काटी जायँ कि सबको बाँयें कन्धे पर लगाने के लिए मिल भी जायँ और अधिक नष्ट न हों या पट्टी छोटी न पड़ जाय। दो इञ्च की लम्बाई बालकों ने रद कर दी। प्रश्न यह था कि लम्बाई १$\frac{३}{४}$" रखी जा सकती है या नहीं? किसी ने राय दी कि काटकर देख लिया जाय किन्तु दूसरा तुरन्त बोल उठा कि यदि कम पड़ जाय तो? इस पर यह निश्चय हुआ कि गणित करके देख लिया जाय और यही उनके पाठ की आवश्यकता थी।

उदाहरणों और प्रश्नों के लिए अङ्कगणित में यह बड़ी आवश्यकता है कि वे शुद्ध और शीघ्रता से लगाये जा सकें। इन दोनों को साथ उत्पन्न कर देना ही अङ्कगणित की शिक्षा का परम ध्येय है। अभ्यास, और निरन्तर अभ्यास ही इसके लिए पर्याप्त नहीं है।

शुद्धि की वृद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि एक तो उनको चारों साधारण नियमों और कुछ अन्य तत्त्वों जैसे भिन्न, प्रतिशत, अनुपात आदि में पक्का कर दिया जाय। इसके लिए प्रतिदिन कम से कम ५ मिनट नित्य जोड़ने, घटाने, गुणा करने और भाग देने तथा बार-बारी से शेष मूल-तत्त्वों का अभ्यास कराया जाय। यह देखा जाता है कि ऊँची से ऊँची कक्षा में पहुँच कर भी बालक जोड़ से घबड़ाते है और बिना काग़ज़-पेंसिल के ६५ से २६ घटा या ४७ को ८ से गुणा भी नहीं कर सकते। ऐसी स्थिति के लिए नित्य का अभ्यास बहुत ही लाभदायक है। इस अभ्यास के लिए कुछ साधनों में से निम्नलिखित हैं :—

(१) किसी नियत अङ्क से आरम्भ करके २, ३ या किसी अन्य नियत अङ्क के अन्तर से गिनती गिनवाइए जैसे ५, ७, ९... अथवा १८, २२, २६, ३०... आदि।

(२) उलटी गिनती पहले क्रम से और फिर इसी प्रकार किसी नियत अङ्क के अन्तर से गिनवाइए।

(३) दफ्ती के टुकड़ों पर इस प्रकार का अङ्क-समूह लिख दीजिए।

५ ७ ८ ५ ६ ४ ३ २ ९
७ १ ५ ६ ० ७ ० ९ ६
६ ९ ० ८ ९ ५ ६ ० ३
९ ६ ५ ० ९ ० ७ ८ ०
४ ५ ६ ७ ३ ६ ८ ९ ७
६ ० ८ ० ५ ७ ० ० ८

फिर पहले एक ही पंक्ति (कोई भी) शेष पंक्तियों को छिपाकर जुड़ाइए। अन्तिम पंक्ति को जोड़ते समय बालकों की विचार-धारा इस प्रकार होनी चाहिए ९, १५, १८, २५, ३३ न कि ९ और ६, १५, १५ और ३, १८...आदि। इसके बाद किन्हीं दो पंक्तियों के शेष को छिपाकर जुड़ाये जैसे प्रथम दो पंक्तियों के जोड़ने में इस प्रकार मानसिक क्रिया होगी ५७, १२७, १२८, १८८, १९७, २८७, २९३...आदि। इसी प्रकार ३ अङ्कों की संख्याओं का जोड़ भी सरलता से सिखाया जा सकता है। प्रसिद्ध गणक और इञ्जीनियर बिडर ने बिना किसी अध्यापक के ६ अङ्क की एक संख्या को ६ अङ्क की दूसरी संख्या से मौखिक गुणा करना सीख लिया था।

(४) अनेक रोचक, भिन्न भिन्न आकृतियों का प्रयोग करना चाहिए ताकि बालक ऊब न जायँ। जैसे योग में निम्नांकित का प्रयोग सरलता से किया जा सकता है —

त्रिभुज, घड़ी, रेल की पटरी के बेंड़े डंडे, नसेनी, दौड़, खेल आदि।

(५) गुणा के अभ्यास के लिए पहले वैसे ही एक अङ्क से अभ्यास होना चाहिए। फिर दो अङ्क के गुण्य और गुणक से अभ्यास करना चाहिए, जिसकी विचार-धारा इस प्रकार होगी।

```
      ५६
  ×   ४७
  ------
    २६३२
```

६ × ७ = ४२ (२ रखे ४ हासिल)

४ × ६ + ५ × ७ = ५९ + ४ = ६३
(३ रखे ६ हासिल)

५ × ४ + ६ = २६
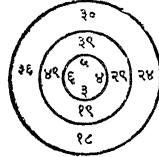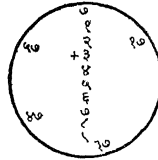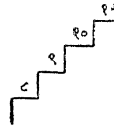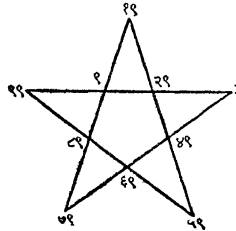
दूसरे, शुद्धि के लिए यह अनिवार्य है कि अङ्क स्वच्छ और सहज पाठ्य हों क्योंकि अङ्कों की लापरवाही और उनके इधर-उधर रख देने से अशुद्धि आ जाती है। इसलिए अङ्क जल्दी बनाने के साथ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि वे सुन्दर हों। बहुधा अङ्क उतारने में अशुद्धि हो जाती है इसी लिए अङ्क

उतारने में ध्यान रखना चाहिए कि कोई अङ्क नया न आ जाय, कोई छूट न जाय अथवा अङ्कों का परस्पर स्थान-परिवर्तन न हो जाय। अन्वेषकों ने पता लगाया है कि इनमें पहली अशुद्धि सबसे अधिक होती है। क्रिया समाप्त होने के बाद फल की अच्छी तरह जाँच कर लेनी चाहिए। इससे भी शुद्धक्रिया करने का अभ्यास हो जाता है। शुद्धि के दो अन्तिम नियम समस्या का यथार्थ विश्लेषण और क्रमबन्धन तथा जितने भी कथन किये जायँ उनकी भाषा का किंचित्मात्र श्लेष से भी रहित होना है। कथन की यथार्थता का विचार की यथार्थता से घनिष्ठ सम्बन्ध है यहाँ तक कि एक के बिना दूसरे का होना असम्भव कहा जा सकता है।

शीघ्रता उत्पन्न करने के लिए सबसे आवश्यक उपर्युक्त विधियों से शुद्धि का उत्पन्न करना है क्योंकि बिना शुद्धि के कितनी भी शीघ्रता हो सब व्यर्थ है। लोग कहते ही हैं कि अशुद्धि करने में समय कम लगता है। अतः शीघ्रता का सबसे प्रधान सहायक शुद्धि है। एक बार शुद्धि का अभ्यास पड़ जाने से फिर शीघ्रता का अभ्यास निश्चिन्तता से हो सकता है इसके पूर्व कदापि नहीं।

तथापि शीघ्रता बढ़ाने के लिए कुछ अन्य साधनों का वर्णन किया जाता है क्योंकि इसके बिना प्रश्नों का अनन्तकाल के बाद कर लेना ही किस काम का ? इसके लिए अङ्कगणित की मानसिक आदतों का बालकों में निर्माण हो जाना चाहिए। स्वभाव पड़ जाने से ही किसी भी विशेष काम में परिश्रम और थकावट कम होती है और इसी लिए मस्तिष्क को और अधिक कठिन और उच्च क्रियाओं को हस्तामलक करने के लिए शक्ति और अवकाश बच रहता है। कभी कभी समय नियत करके काम देना चाहिए और समय इतना नियत करना चाहिए कि कक्षा का योग्य से योग्य बालक भी उस समय में बड़ी ही कठिनता से काम पूरा कर सके या न कर सके। इससे बालकों में निराशा कदापि नहीं उत्पन्न होती वरन् उनमें अधिकाधिक उन्नति करने की लालसा बढ़ती है। गुरों और लघुक्रियाओं का यथासम्भव व्यवहार करना चाहिए और यह व्यवहार यन्त्रवत् और स्वभाव से होना चाहिए न कि अध्यापक के आदेश से और व्यवहार भी तभी होना चाहिए जब कि लम्बी क्रिया भली भाँति समझ में आ चुकी है। वैकल्पिक विवेचना को जितनी अनिवार्य हो उतनी ही करके शेष छोड़ देना चाहिए कि बालक स्वयं प्रश्न कर विश्लेषण और व्याख्या कर सकें। नई विधि को स्मरण करने के लिए दिये हुए किसी साधन या टेक को उस विधि

के याद हो जाते ही छोड़ देना चाहिए। जहाँ तक हो सके कम से कम अंकों का प्रयोग करना चाहिए। लम्बे-चौड़े नियमानुसार कथन इस शीघ्रता के बाधक हैं। जैसे इस प्रश्न के लिए कि 'लखनऊ के २,२०,००० नागरिकों में से १½ प्रतिशत जैन हैं और उनमें से ४५ प्रतिशत शिक्षित हैं। तो शिक्षित जैनों की संख्या क्या है' इतनी ही क्रिया पर्याप्त है।

$\frac{३}{\cancel{२००}} \times \frac{४५}{\cancel{१००}} \times \overset{११}{\cancel{२२००००}} = १४८५$ शिक्षित जैन। अन्त में, बालकों को योग्यतानुसार काम देना चाहिए ताकि सब अपनी पूरी शक्ति लगाने के लिए विवश हो जायँ। नहीं तो जहाँ योग्य बालकों ने देखा कि अमुक काम दिये हुए समय से कम में हो सकता है वहीं पर वह ढीलापन करने लगेंगे और यह ढीलेपन का स्वभाव धीरे धीरे उन्हें किसी काम का न रखेगा। कभी कभी क्षण भर के लिए भिन्न भिन्न प्रकार के अभ्यास के कार्ड बालकों के सामने चमकाकर उत्तर माँगना चाहिए। कुछ ऐसे कार्डों के प्रयोग के लिए नमूने ये हैं :—

इस उपर्युक्त शिक्षाविधि को स्पष्ट करने के लिए पहाड़े बनाने और पढ़ाने की विधि का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है।

(१) पहाड़ों को कठिनता के अनुसार क्रमबद्ध कर देना चाहिए। किसी भी पहाड़े की पुस्तक में यह क्रम नहीं मिलेगा। क्रियात्मक अनुभव के यह विपरीत है कि बड़े अङ्कों का पहाड़ा कठिनतर हो। कठिनता के अनुसार १० तक के पहाड़े तीन भागों में विभक्त किये जा सकते हैं :—

(क) अति सरल—२,४,५,१०

(ख) सरल—३,६,६

(ग) कठिन—७,८

इन पहाड़ों को पढ़ाते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि ५×८=८×५। इस गुर की सत्यता बालकों की समझ में आप से आप कभी नहीं आती। किन्तु इस छोटे से गुर से कितना परिश्रम बच जाता है। इसका अनुमान करना

प्रायः कठिन होता है। इसलिए निम्नलिखित तालिका उपस्थित की जाती है :—

१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०
२	४	...	...	...	...	...	...	...	...
३	६	९	...	...	...	...	...	...	...
४	८	१२	१६	...	...	...	...	...	...
५	१०	१५	२०	२५	...	...	...	...	...
६	१२	१८	२४	३०	३६	...	...	...	...
७	१४	२१	२८	३५	४२	४९	...	...	...
८	१६	२४	३२	४०	४८	५६	६४	...	...
९	१८	२७	३६	४५	५४	६३	७२	८१	...
१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०	८०	९०	१००

जो गुणनफल पहले पढ़ाये जा चुके हैं उनको छोड़ दिया गया है। इस प्रकार कुल ५५ गुणनफल बचे जिनमें १९ अर्थात् पहला कालम और अंतिम पंक्ति या तो केवल गिनती या गिनती के आगे एक बिंदु रखने से बने हैं। अर्थात् यदि इस विधि से पढ़ाया जाय तो बजाय १०० गुणनफलों के रटने के केवल ३६ गुणनफलों से ही काम चल जायगा! उसमें भी यदि ५ के पहाड़े के ६ अतिसरल गुणनफल निकाल दिये जायँ तो केवल अध्यापक को ३० ही गुणनफल पढ़ाने से बालकों को १० तक पहाड़े का पहाड़ा याद हो जायगा।

(२) बालकों को पहाड़ा स्वयं किसी न किसी विधि से बनाना चाहिए। इसके लिए अनेक साधनों का आश्रय लिया जा सकता है। जहाँ तक नवीन पहाड़ा पूर्व-पठित पहाड़ों से निकल सके उसके बाद आयत रूप में गोलियों की पंक्तियाँ रखकर गिनवा सकते हैं अथवा उतनी बार वही अंक रखकर जुड़ा सकते हैं। कल्पना किया ६ का पहाड़ा है तो ६ इंच की पटरी या उतनी लम्बी डोरी को इंच बने हुए फ़ीते पर कई बार रख सकते हैं और इस प्रकार बालकों का पहाड़ा उन्हीं की आँखों के सामने निर्मित होता चला जाता है।

(३) पहाड़ों की शुद्धि के लिए कोई टेक बता दीजिए जिसको देखकर बालक समझ सकें कि उनका पहाड़ा शुद्ध है अथवा नहीं। जैसे ५ के पहाड़े में अन्त में सदा ५ या ० आता है और १० के पहाड़े में सदा शून्य ही। ९ के पहाड़े में अंकों का योग सदा ९ के ही बराबर रहता है आदि।

(४) पहाड़े के प्रत्येक गुणनफल का विविध आकार देकर अभ्यास कराइए—जैसे, ५ × ६ = ?, ५ × ? = ३०, ? × ५ = ३०, ३५ = ५ × ?, ४० = ? × ८, ? = ७ × ६, कौंधा – कार्ड (अर्थात् क्षणभर चमकनेवाले कार्ड) और अन्य पूर्वोक्त साधनों से।

(५) बालकों को किसी भी विस्मृत गुणनफल के ढूँढ़ निकालने की रीति बता दीजिए (मान लीजिए ७ × ६)। अब इसके जानने की तीन विधियाँ हैं। (क) ७ या ६ के किसी भी ज्ञात अपवर्त्य से ७ या ६ अंक छोड़कर गिनना जब तक कि अभीष्ट ७ × ६ या ६ × ७ न ज्ञात हो जाय। (ख) ७ या ६ के निकटवर्ती पूर्व गुणनफल में ७ या ६ जोड़ देना जैसे ७ × ८ + ७ = ६३ = ६ × ६ + ६। (ग) ७ या ९ के निकटवर्ती उत्तर गुणनफल में से ७ या ६ घटा देना जैसे ७ × १० – ७ = ६३ = ६ × ८ – ६।

(६) पहाड़ों को और ऊँचे ले जाइए जैसे ८ × १० को ८ × १ से बिन्दु रखकर निकाल लेते हैं उसी प्रकार ७ × २०, ३० × ८, २०० × ६ आदि भी निकलवा लेना चाहिए। इससे पहाड़ों की नींव और भी पुष्ट हो जाती है।

(७) संख्याओं के बारे में अनुपात ज्ञान भी दिया जाय जैसे ३ पैसे की ४ नारंगियाँ आती हैं तो ६ पैसे की कितनी आयेंगी। यहाँ पर ६,३ का तिगुना है इसलिए नारंगी भी ४ की तिगुनी अर्थात् १२ आयेंगी। यही अनुपात अंक ज्ञान के विस्तृत और गम्भीर करने का एकमात्र गूढ़ रहस्य और मूलमन्त्र है। अंकों के अंदर यही अनुपात की भावना गुप्तरूप से सर्वत्र व्यापक है और इसी का ज्ञान अंकों का वास्तविक ज्ञान कहा जा सकता है।

ऊपर पहाड़े के अभ्यास के अन्दर जो ६ × ? = ३६ आदि रूप आये हैं, इसी ? के स्थान में य लिख देने से बीजगणित का नितान्त शुद्ध समीकरण ६ य = ३६ बन जायगा जिसका उत्तर य = ६ है। अर्थात् हम नाम न लेकर भी अप्रकट रूप से सहस्रों स्थानों में बीजगणित के सिद्धांतों का प्रयोग करते हैं। इसी प्रयोग को धर्मयुत बनाने और इसका अधिक सुविधा से प्रयोग करने के लिए पाठ्यक्रम में 'अक्षरों का प्रयोग' नामक अध्याय जोड़ दिया गया है। इससे स्पष्ट है कि पाठ्यक्रम में इस विधि की सुविधाओं और शक्ति की ओर ध्यान गया है जिनमें से मुख्य ये हैं। (१) व्यापकता—लगभग अंकगणित के अधिकांश प्रश्न इस विधि से सरलता से हल हो सकते हैं। (२) विवेचना और प्रश्नों की समस्या ग्रहण करने में सहायता मिलती है—अज्ञात को ज्ञात मानकर प्रश्न की दी हुई बातों के अनुसार चलना पड़ता है। (३) व्यापारिक सूत्रों के समझने की शक्ति आ जाती

है। (४) गणना में प्रौढ़ता और शीघ्रता आ जाती है। (५) अङ्कगणित का पाठ्यक्रम बहुत अंश तक रोचक हो जाता है। (६) गणित के तर्क में शिक्षा होती है। किन्तु इसके एक पृथक् अंग न बनाने का यह स्पष्ट अर्थ है कि इसको गौण रूप से ही और अङ्कगणित के हित के लिए ही पढ़ाना चाहिए। इसकी भावनाएँ बिलकुल नवीन नहीं हैं। केवल अङ्कगणित के नियमों के अधिक व्यापक, परिष्कृत और संक्षिप्त रूप हैं। इनको सदा अङ्कगणित के नियमों की ही भाँति पढ़ाना चाहिए। इस प्रकार वे मूल नियम भी और अच्छी तरह समझ में आ जायँगे। विशेष करके समीकरण तो बहुत ही साधारण रूप से पढ़ा कर उनके अङ्कगणित के प्रश्नों पर आरोपण की ओर ध्यान देना चाहिए। प्रश्न में क्या दत्त है, क्या पूछा जा रहा है इनका आरम्भ में समय अधिक लगने पर भी अलग-अलग कथन करवा लेना चाहिए। फिर देखना यह रहता है कि इन दोनों का सम्बन्ध किस प्रकार और प्रश्न के किस भाग से सहायता लेकर किया जाय। यही क्रिया अङ्कगणित में भी अप्रकट रूप से होती है क्योंकि बिना दत्त और ज्ञेय जाने हल करना आरम्भ भी नहीं किया जा सकता।

इतने के लिए यह कदापि आवश्यक नहीं है कि अक्षरों को लेकर बाज़ीगर का तमाशा या नट-मर्कट का स्वाँग किया जाय। समीकरण के तीन रूप ही समुचित रूप से बता देना पर्याप्त होगा।

(१) य + ७ = १५, इसका उत्तर एक साधारण तुला की आकृति से आ जायगा। एक ओर अज्ञात वज़न है और ७ सेर है और दूसरी ओर १५ सेर। यदि तुला को बराबर रखना है तो एक ओर से ७ सेर हटाने पर दूसरी ओर भी ७ सेर हटाना होगा। अतः य = ८।

(२) ३ य = १२। इसमें भी तुला की आकृति की सहायता से इस प्रकार विवेचना की जा सकती है कि एक ओर बराबर तौल के तीन अज्ञात वज़न हैं और दूसरी ओर १२ सेर अर्थात् चार-चार सेर के तीन ढेर; अर्थात् य = ४।

(३) २ य + $\frac{३}{४}$ य = १६$\frac{१}{२}$ इसमें उपर्युक्त समीकरण की विपरीति क्रिया अर्थात् गुणन से काम लिया जा सकता है क्योंकि तुला की प्रत्येक ओर का वज़न उसी अनुपात से बढ़ाने से कोई अन्तर नहीं पड़ता। और भिन्न साफ़ करने के लिए दोनों पक्षों को ४, २ के ल० स० प० अर्थात् ४ से गुणा करना पर्याप्त है अर्थात् ८ य + ३ य = ६६। शेष क्रिया पिछले समीकरण की भाँति है।

इसके आगे दुरूह और जटिल समीकरण या लम्बे-लम्बे संसृष्ट फलों के गुणन अथवा भाग की क्रियायें जिसमें अधिकतर समय वृथा नष्ट हुआ करता है; पाठ्यक्रम के अन्तर्हित विचारों के सर्वथा प्रतिकूल और शिक्षा-शास्त्र की दृष्टि से भी दूषित है।

जिस तरह मनुष्य का अङ्कों के ज्ञान बिना सांसारिक वस्तुओं का ज्ञान परिमित और अधूरा रह जाता है यहाँ तक कि संसार की किसी भी जाति की उन्नति की माप उसके अङ्क-ज्ञान-द्वारा भली भाँति हो सकती है। उसी प्रकार संसार के दूसरे मूलतत्त्व स्थान के ज्ञान की दशा है। यह कल्पना कठिन नहीं है कि बिना स्थान अथवा उसकी माप के ज्ञान के मानवीय सभ्यता कितनी पीछे होती। ऐसे तो कहा जा सकता है कि बिना पाठशाला में अध्यापक के पढ़ाये भी सभी मनुष्य कम या अधिक परिष्कृत रूप से रेखागणित का व्यवहार जीवन में करते हैं। किन्तु रबड़ की भाँति उनके विचार कितने लचकीले होते हैं इसका प्रसिद्ध उदाहरण बुन्देलखंडी 'धाप' है जिसे वहाँ के निवासी आधे से दस मील तक की किसी भी दूरी के लिए प्रयोग किया करते हैं। बहुधा शिक्षित लोग भी स्थान के विषय में भद्दी भूलें किया करते हैं क्योंकि स्थान की धारणा अंकों के पश्चात् उत्पन्न होती, उसी पर पूर्ण रूप से निर्भर रहती और इसी लिए मानवीय मस्तिष्क के लिए अधिक कठिन होती है। विशेष करके ऊँचाई या गहराई की धारणायें तो अधिकतर हास्यास्पद ही होती हैं। क्षीणकाय नदी के कुण्ड को लोग अथाह मानते हैं। भवन तनिक भी ऊँचा हुआ तो गगनचुम्बी हो गया। समुद्र लाखों मील गहरा है। ऐसी कपोलकल्पित कथाओं को लोग नित्य पूर्ण विश्वास और बल से कहते आये हैं। इन्हीं अन्धविश्वासों को छिन्न-भिन्न करने के लिए रेखागणित को पाठ्य-क्रम में स्थान दिया है और यदि रेखागणित की शिक्षा इतना नहीं करती तो एकदम व्यर्थ है। अङ्कगणित और रेखागणित मिल-कर ही मनुष्य-जाति के दो कोषों—अर्थात् अङ्क और स्थान-ज्ञान का सूत्रपात करती हैं और इनके गूढ़ रहस्यों का उद्घाटन करती हैं।

जब से यह लक्ष्य आचार्यों के सम्मुख आया है तभी से रेखागणित की शिक्षा-विधि में परिवर्तन हो गये हैं। पहले सूत्रबद्ध रेखागणित पाणिनि के सूत्रों की तरह उपपत्तिसहित रटा दिया जाता था। उसके साध्यों के ऊपर दिये हुए अभ्यास भी नये साध्यों की भाँति रट लिये जाते थे। और कुछ थोड़े-से इने-गिने नियमों की रचना कर ली जाती थी। ओकलेदस ने जो खिचड़ी ई० पू० ४०० के लगभग पकाई थी वह आज भी ज्यों की त्यों बालक के गले के नीचे

उतार दी जाती थी। उपपत्ति में जो अक्षर आते थे वही ज्यों के त्यों रट लिये जाते थे और जो बालक अन्य अक्षरों से युक्त उस साध्य की उपपत्ति कर लेता था उसे असाधारण और मेधावी मान लेते थे। किन्तु जब स्वान्वेषी विधि का प्रचार हुआ तो आचार्यों के मन में यह खटका कि क्या बालक के लिए भी यही सबसे अच्छी विधि है। ओकलेदस की स्वयंसिद्धियों और स्वीकृतों की संख्या और क्रम में अन्वेषण हुए और परिवर्तन किये गये। विशेषरूप से साध्यों के क्रम में भी इसी स्वयंसिद्धि और स्वीकृत के परिवर्त्तन के अनुसार बहुत कुछ परिवर्तन करने पड़े। ओकलेदस का तर्क और क्रम आपत्तिजनक सिद्ध हुआ और उसमें संशोधन हुआ। बहुत-से साध्य अभ्यासों की श्रेणी में ढकेल दिये गये और अनेकों की महत्ता का लोप हो गया। बालकों के लिए सरल से सरल क्रम का अन्वेषण किया गया। और फिर यह ध्यान रखा गया कि जैसे अङ्कगणित के नियमों का महत्त्व इसी में है कि प्रश्न हल किये जा सकें उसी प्रकार साध्य को केवल मूल अभ्यास का रूप दिया जाने लगा और अभ्यास ही और वह भी जीवनोपयोगी, प्रधान हो गये। इन अभ्यासों के लिए उपपत्ति का पुनरुत्पादन ही पर्याप्त नहीं समझा गया किन्तु उन मूलनियमों और तत्त्वों का हृदयांकित करना श्रेयस्कर समझा गया जिनका प्रयोग इन अभ्यासों में होता है। अर्थात् कारीगर की तरह उस विशाल इमारत के चूना, गारा, ईंट का निरीक्षण किया जाने लगा। क्योंकि तैयार और परिष्कृत वस्तु को देखकर उसकी निर्माण-विधि अथवा प्रयुक्त औज़ारों का पता लग ही नहीं सकता और न बालक में स्वतन्त्रता, आत्मनिर्भरता और शक्ति का विकास ही होता है।

इस प्रकार रेखागणित की शिक्षा देने के लिए बालकों की मानसिक शक्तियों के विकास के अनुसार तीन सोपान बनाये जा सकते है। **प्रथम प्रायोगिक सोपान**—इसमें बालकों को विविध प्रकार का रेखागणितीय ज्ञान देना ही अभीष्ट है। इसमें आवश्यक है कि बहुत-सी माप कक्षा के बाहर और भीतर की जाय। काग़ज़ की एकतलीय आकृतियाँ बनाना, पिण्डों (जैसे घन, आयत-घन, सूची, शंकु) आदि के ढाँचे बनाना और उनसे पिण्ड तैयार करना किया जा सकता है। दूरी की माप, जरीब, क़दम, फ़ीता से की जा सकती है। ऊँचाई का अनुमान ४५° के समकोणक अथवा छाया आदि की माप के द्वारा, मौखिक रीति से और उस स्थिति में भी जब सीधा नापना असम्भव है, किया जा सकता है। खेल के मैदान वालीबाल फ़ील्ड, क्रिकेट की पिच की लम्बाई और चौड़ाई ज्ञात की जा सकती है। कक्षा के अन्दर ही बहुत कुछ काम हो सकता है। कमरे, मेज़,

श्यामपट की उँचाई, पटरी के सीधे होने का प्रमाण, दत्त विन्दुओं से दूरी ज्ञात होने पर बिंदु का स्थान नियत करना, पर्याप्त परिमाणों के दिये जाने पर त्रिभुजों आदि का निर्माण करना और फिर यह देखना कि इनकी रचना के लिए कितने परिमाण पर्याप्त हैं यह सब केवल इस दिशा में संकेत-मात्र हैं। हिन्दी स्कूलों में दर्जा ५ में कुछ टोना होता अवश्य है किन्तु यह इतना कम और अव्यवस्थित होता है कि लाभ की सम्भावना भी नहीं रह जाती।

द्वितीय सोपान निगमन सोपान है जो आगेवाले तृतीय अर्थात् सूत्रीकरण सोपान के लिए तैयारी है। इसमें प्रधान-प्रधान साध्यों को व्यक्तिगत रूप से पहचान लिया जाता है। किन्तु अब भी शेष साध्यों के लिए किसी प्रकार की उपपत्ति की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती। वे अनुमान और अनुभव के अनुसार होने पर सत्य मान लिये जाते हैं। केवल इन्हीं कुछ मूल साध्यों के लिए दृढ़ उपपत्ति की आवश्यकता होती है। इस प्रकार से ये साध्य रेखागणित अट्टालिका के स्तम्भस्वरूप हो जाते हैं।

तृतीय सूत्रीकरण सोपान में सब साध्यों की दृढ़ उपपत्ति दी जाती है और उनकी वंशपरम्परा का अन्वेषण करके उनको अधिक विस्तृत और सामान्य साध्यों के चारों ओर रख देते हैं। प्रधान साध्यों में भी सम्बन्ध स्थापित करने की चेष्टा की जाती है और इस प्रकार से रेखागणित के थोड़े-से अति सामान्य सूत्र बन जाते हैं जिनसे सुव्यवस्था, क्रम, सम्बन्ध आदि का पूर्णरूप से ज्ञान हो जाता है। इस सोपान में विवेचना-द्वारा ही अधिकतर उपपत्ति दी जाती है ताकि समस्या के सब अङ्गों पर समुचित प्रकाश पड़ जाय और उसके सब सम्बन्ध प्रकट हो जायँ।

अब हमें देखना यह है कि हम स्वयंसिद्धियों अथवा स्वीकृतों का उपपत्ति में कहाँ तक व्यवहार उचित समझेंगे अर्थात् किन सत्यों को हमें उपपत्ति-द्वारा सिद्ध करना होगा और किन सत्यों पर हम बिना सिद्ध किये ही विश्वास कर सकते हैं। प्राचीन काल में स्वयंसिद्धि और स्वीकृत में बहुत बडा अन्तर माना जाता था। किन्तु अब दोनों को कल्पना के विविध रूप मानते हैं जिनमें सरल और प्रत्यक्ष होने के कारण उपपत्ति की आवश्यकता नहीं है। भेद केवल इतना ही है कि यदि कोई सत्य एक ही विज्ञान में आरोपित हो तो उसे स्वीकृत कहते हैं। जैसे 'किसी भी एक विन्दु से किसी भी दूसरे विन्दु तक सरल रेखा खींचना सम्भव है'। यह सत्य केवल रेखागणित के लिए ही है अतः यह 'स्वीकृत' है। इसके विपरीति हम यदि इस सत्य को लें कि 'एक ही वस्तु में बराबर वस्तुएँ

आपस में बराबर हैं' । इसका आरोपण भौतिक विज्ञान, अङ्कगणित, ज्योतिष सबमें हो सकता है अतः यह **स्वयंसिद्धि** है । ओकलेदस ने ५ स्वयंसिद्धियाँ और ५ स्वीकृत माने थे । इनमें आधुनिक गणितज्ञों ने बहुत परिवर्तन और संशोधन किये हैं । विशेषकर ओकलेदस की 'समानान्तर स्वीकृत' में अर्थात् 'यदि दो सरल रेखाओं को काटती हुई एक सरल रेखा एक ही ओर दो अन्तःकोण ऐसे बनावे कि उनका योग दो समकोण से कम हो तो वह दोनों रेखायें उसी ओर बढ़ाने पर मिल जायँगी' । इसको वह स्वयं दोषरहित नहीं समझता था । पैस्कल ने केवल इनके लिए यही नियम बनाये हैं कि इन स्वीकृतों और स्वयंसिद्धियों को प्रत्यक्ष, स्वतन्त्र और परस्पर विरोधहीन होना चाहिए । ऐसा जानकर रेखागणित के अध्यापक को इस विषय में व्यर्थाडम्बर में न पड़ना चाहिए और जितने भी आवश्यक हों उतने मानकर, यदि वे उक्त नियमों के अनुकूल हों, अपना काम चला लेना चाहिए ।

जिस प्रकार स्वयंसिद्धि विज्ञान का आधार है उसी प्रकार परिभाषा उस विज्ञान में प्रयुक्त शब्दों की व्याख्या है । चूँकि रेखागणित में प्रयुक्त शब्द विशेष हैं, उनके यथार्थ ज्ञान के बिना संसार का बहुत काम चल नहीं सकता और वे साधारण आकृतियों के आदर्श रूप हैं (जैसे बिन्दु केवल स्थिति का ज्ञान कराने पर भी दृष्टिगोचर हो सकता है) इसलिए यहाँ परिभाषाओं की भी धूम है । परिभाषा का पुनरुत्पादन करना रेखागणित की शिक्षा और उस विषय में प्रत्येक परीक्षा का अति आवश्यक अङ्ग माना जाता है । आरम्भ में तो यदि बालक उस धारणा से अभिज्ञ हैं तो उनको किसी प्रकार की भी परिभाषा देने की आवश्यकता नहीं है । और फिर परिभाषा के लिए आवश्यक है कि उस विज्ञान के सभी विद्यार्थियों की समझ में एक ही अर्थ आवे । इसी लिए अति सरल शब्दों की जिनसे सरल शब्द न मिल सकें परिभाषा न करनी चाहिए और ध्यान रखना चाहिए कि दुरूह और श्लेषयुक्त शब्दों का व्यवहार न होकर उन्हीं शब्दों का व्यवहार हो जो भली भाँति समझे जा चुके हैं अथवा जिनकी समुचित व्याख्या हो चुकी है । अधिकतर रेखागणित में 'जाति' और 'भेद'-द्वारा परिभाषा होती है जैसे 'त्रिभुज तीन सरल रेखाओं से सीमाबद्ध (भेद) एकतलीय बहुभुज क्षेत्र (जाति) को कहते हैं ।' बालकों को आरम्भ में कष्ट न देनेवाली पूर्वोक्त बात का स्मरण रखते हुए परिभाषा की शिक्षा इस प्रकार देनी चाहिए :—

(१) **अङ्क सम्बन्धी अभ्यास**—इसमें आकृति खींचने में विविध वस्तुओं की सहायता लेनी पड़ती है जैसे सरल रेखा खींचने में पेंसिल की यथा-

सम्भव पतली नोक, आल्पीन का खरोंचा, छाया का किनारा, दो समतलों के मिलने का स्थान, विन्दु का पथ, रेखाओं का परकाल और पटरी से नाप आदि।

(२) **रचना-अभ्यास**—जैसे दत्तरेखा के बराबर रेखा खींचना, सरल रेखा के दो अथवा अनेक समभाग करना, तीन विन्दुओं से होकर सरल रेखा खींचने में सफलता या असफलता और उसका कारण; अनेक विन्दुओं के एक ही सरल रेखा में होने का ज्ञान आदि।

(३) **प्रायौगिक अभ्यास**—३ सें० या २·७ इञ्च की सरल रेखा खींचना, इन दोनों (सें० और इञ्च) का परस्पर पैमाना जानना आदि।

(४) **बालकों द्वारा धारणा का शब्दीकरण**—यथासम्भव बालक ही अपनी भाषा में प्रमुख विचारों को लेकर उसको लिपिबद्ध करें।

(५) **अध्यापक-द्वारा अशुद्धि का स्पष्टीकरण**—संशोधन शब्दों का जोड़ना व घटाना कारण-सहित और बालकों के पूर्ण सहयोग से।

(६) परीक्षा की बालक उस परिभाषा को समझ गये हैं अथवा नहीं। यह आवश्यक नहीं है कि यह पुस्तकीय परिभाषा की यथार्थ प्रतिलिपि हो। और न उसको पूरा रटना ही आवश्यक है। केवल इतना आवश्यक है कि बालक उस परिभाषा के आवश्यक अङ्गों को समझ लें और इसके प्रमाण-स्वरूप उदाहरण दे सकें। क्योंकि शुद्ध उदाहरण दे देना पर्याप्त प्रमाण है।

परिभाषाओं से बालक को भली भाँति परिचित कर देने के बाद सबसे कठिन कार्य यह है कि किसी भी नवीन साध्य को कक्षा में किस प्रकार पढ़ाया जाय। इस शिक्षा-विधि को समझाने के लिए यह उदाहरण लिया गया है कि 'किसी भी त्रिभुज के कोणों का योग दो समकोणों के बराबर होता है।'

(१) पहले तो इस साध्य की सत्यता का आभास बालकों को कोणों के खींचने और नापते समय ही करा देना उचित है। उसी समय सबसे कहने पर कि सब कोई 'एक-एक त्रिभुज (तीन भुजाओं की आकृति) खींच लो और सबकी भिन्न भिन्न भुजाओं और कोणों वाली आकृतियों के कोण-योग के एक आने पर यह कहा जा सकता है कि इस विचित्रता का अध्ययन फिर कभी होगा। अथवा यदि पहले यह न हो गया हो—अच्छी शिक्षा में तो इसका हो जाना अनिवार्य-सा है—तो उसी समय इस रचना और माप को करा देना चाहिए।

(२) **इस सत्य की पुष्टि**—काग़ज़ के त्रिभुज बनाकर और उनके कोण काटकर एक ही विन्दु पर मिला कर रखना और देखना कि इन कोणों की

दोनों ओर की अन्तिम रेखायें एक ही सीध में हैं और पटरी रखकर प्रमाणित करना कि ऋृजुकोण बन गया है।
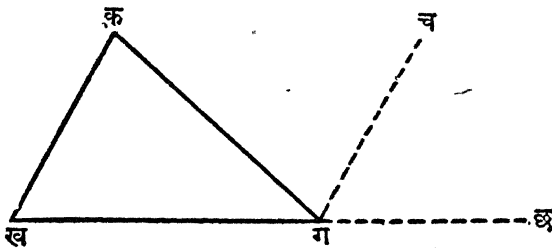
एक समूचे त्रिभुज पर ग विन्दु पर क्रम से ∠क और ∠ख को क्रम से रखना और फिर ∠च ग क = ∠ग क ख से ग च || ख क निकलवाना। फिर इस नये सत्य अर्थात् ग च || ख क के आधार पर यह स्पष्ट करना कि यदि केवल ख ग, छ विन्दु तक बढ़ा दी जाय तो इसका अर्थ वही होगा जो ∠ क ख ग को सशरीर उठा कर ग विन्दु पर ∠च ग छ के रूप में रख देने से होता। अर्थात् यह स्पष्ट कर देना कि तीनों कोण एक साथ रख देने पर ख ग छ सरल रेखा हो जाती है अर्थात् कोणयोग दो समकोण हो जाता है।

इसी प्रणाली को विवेचना-प्रणाली के प्रसिद्ध नाम से पुकारते हैं। इसमें बालक के सम्मुख समस्या के सरल टुकड़े कर दिये जाते हैं और फिर बालक यथासम्भव अल्प सहायता से स्वयं अन्वेषक बन कर अपनी उत्पत्ति का मार्ग ढूँढ़ निकालता है। उसको उतना भटकना नहीं पड़ता या उतना समय नहीं लगता जितना कि मूल अन्वेषक को, कभी-कभी कई वर्ष लगे होंगे। किन्तु फिर भी वह सिद्धान्तों और उनके प्रयोग से रेखागणित के आन्तरिक कार्यक्रम और भेदों को समझ चुका होगा और नई समस्याओं को उसी प्रकार सुलझाने की क्षमता प्राप्त कर चुका होगा। जिसने भवन बनते नहीं देखा वह उसकी सुन्दरता का रहस्य क्या जाने। दूसरा भवन-निर्माण करना अर्थात् स्वयं अन्वेषक बनना और अपने को अमर करना तो कदाचित् उसके स्वप्न से भी बाहर है।

(४) विवेचना-द्वारा प्राप्त बिखरे हुए सूत्रों को योजना से एकत्रित करना और उनको लघु, दोषरहित और दर्शनीय सुन्दर रूप में रखना। अर्थात् अब बालक रचना को स्वयं ढूँढ़ निकालता है। इस साध्य में रेखायें ग छ और ग च

कैसे उत्पन्न की जायँ (ख ग को बढ़ाने और ग च ॥ ख क खींचने से)। कारण पहले ही से स्पष्ट हैं। इसके बाद उपपत्ति मौखिक रीति से बताना, उसकी कई बालकों-द्वारा पुनरावृत्ति कराना और अन्त में लिपिबद्ध कराना ही शेष है।

(५) साध्य को उपयोगी बनाने के लिए और मस्तिष्क में दृढ़ करने के लिए आवश्यक है कि उसका आरोपण भी अभ्यासों में किया जाय। पहले यह अभ्यास अङ्क-प्रधान होंगे जैसे—'दो कोण ३५°, ७५° हैं तो तीसरा क्या होगा?', 'समत्रिबाहु त्रिभुज के प्रत्येक कोण का मान बताओ' आदि। इसके बाद सैद्धान्तिक अभ्यास दिये जा सकते हैं, जैसे—'चतुर्भुज को एक ही आधार पर दो त्रिभुज मानकर, उसका कोण-योग बताओ' अथवा 'यदि किसी त्रिभुज का एक कोण शेष दोनों कोणों के योग के बराबर है तो सिद्ध करो कि वह समकोण त्रिभुज है' आदि। इससे बालक नवीन साध्य से भली भाँति परिचित और भविष्य में उसके उपयोग में सिद्धहस्त हो जायँगे।

इन अभ्यासों का रेखागणित में क्या स्थान है? यदि अंकगणित में कुछ नियम बता देने के बाद उन नियमों का पुनरुत्पादन ही पर्याप्त नहीं समझा जाता बल्कि स्वतन्त्र रूप से प्रश्नों का हल करना सफलता का प्रमाण माना जाता है क्या उसी प्रकार रेखागणित में यह सम्भव नहीं है? क्या साध्यों को केवल आदर्श अभ्यास माना जाय और बालकों का स्वतन्त्र रूप से अभ्यासों को हल करना और रचना खींच लेना ही मुख्य कार्य माना जाय? अभी तो अँगरेज़ी स्कूलों में ही इस मत का केवल श्रीगणेश हुआ है। फ़ाइनल परीक्षा के पर्चे भी अभी तक साध्यो को ही प्रधान मान रहे हैं यद्यपि अब उनमें भी कुछ जाग्रति अवश्य हुई है। पुरानी विधि के पढ़े हुए अध्यापकों को भी इतना सर्वतोमुखी परिवर्त्तन कष्टसाध्य होता है। इसी लिए इस सुधार की गति मन्द है। इसके लिए आवश्यक है कि अध्यापक स्वयं झटपट अभ्यास हल कर सके और समय-कुसमय अपनी कक्षा के अनुसार नये अभ्यास गढ़ भी सके। इस प्रकार अङ्कगणित के समान इन मौलिक अभ्यासों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—(१) सरल और मौखिक—आरम्भ में साध्य को समझने के लिए, (२) कक्षागत रीति से बालकों की सहायता से श्यामपट पर किये हुए और (३) वैयक्तिक लिखित कार्य। अभ्यासों के समझाने के लिए रंगीन खड़िया, बराबर कोणों और रेखाओं, और समानान्तर रेखाओं के लिए चिह्नों का समुचित प्रयोग होना चाहिए। समकोण के लिए यह चिह्न बहुत उपयोगी है। निर्मेय (वस्तूप-

पाद्य) में दत्त को पतली, रचना को विन्दुयुक्त और अभीष्ट को मोटी रेखाओं-द्वारा खीचने ये समझने में सुविधा होती है।

अभ्यासों के द्वारा रेखागणित की शिक्षा उत्तम रीति से होने के कारण ये हैं :—(१) मौलिक विचार सम्भव हैं, (२) साध्यों को आदर्श अभ्यास मानकर और अभ्यासों की सहायता से उनको भली भाँति समझा और उनकी यथार्थ महत्ता को जाना जा सकता है, (३) बालकों के लिए वे रोचक होते हैं यदि बालकों की शिक्षा ठीक है और उनको साध्य ही गले के नीचे उतारना कठिन नहीं हो गया है, (४) शिक्षाविधि और कठिनता के अनुसार उनका क्रमबन्धन किया जा सकता है, (५) उनके द्वारा एक साध्य से दूसरे साध्य का सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है।

इस अन्तिम कारण के समर्थन में हम एक उदाहरण देते हैं। एक में समद्विबाहु त्रिभुज की सहायता से तीन भुजाओंवाली त्रिभुजों की अनुरूपता दिखाई जा सकती है। आकृति स्पष्ट होने के कारण स्थानाभाव से व्याख्या नहीं की गई है :—
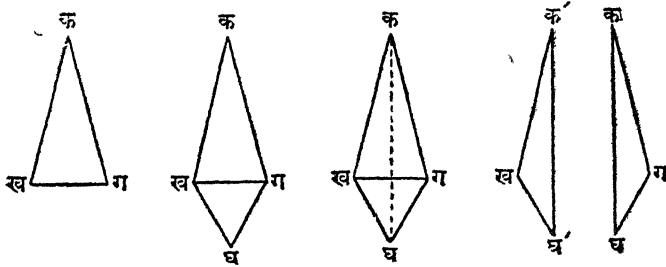
छात्राध्यापकों के ज्ञान के लिए विशेष बातों को सिद्ध करने में जिन आधारों की सहायता ली जाती है, उनका संक्षिप्त विवरण नीचे दिया जाता है :—

(१) कोणों और रेखाओं की समता त्रिभुजों की अनुरूपता ही से अधिकतर सिद्ध की जाती है।

(२) यदि कोण या रेखायें अनुरूप त्रिभुजों के भाग नहीं हैं तो अतिरिक्त रेखायें खींच कर उनको बना लेते हैं।

(३) यदि अभीष्ट त्रिभुजों की अनुरूपता सिद्ध नहीं हो सकती तो किसी

अन्य युग्म की अनुरूपता सिद्ध करके इस युग्म के लिए समभाग एकत्रित कर लेते हैं।

(४) आसन्न कोणों की समता से ही प्रायः समकोण सिद्ध किये जाते है।

(५) समानान्तर रेखायें प्रायः बराबर एकान्तर कोणों के द्वारा सिद्ध की जाती हैं।

(६) कभी कभी समद्विबाहु त्रिभुज-द्वारा कोण बराबर सिद्ध किये जाते हैं।

(७) यदि क ख = २ ग घ या ∠च = २ ∠छ सिद्ध करना हो तो छोटी रेखा या कोण को दूना अथवा बड़े के समद्विभाग कर लेते हैं।

(८) क + ख = ग सिद्ध करने के लिए क और ख के योग की रचना करके उसे ग के बराबर सिद्ध करते हैं अथवा ग और ख के ऋण की रचना करके उसे क के बराबर सिद्ध करते हैं।

(९) एक कोण या रेखा को दूसरे से बड़ा सिद्ध करने के लिए केवल एक ही प्रमेय है।

अभ्यासों पर इस प्रकार बल देने से लिखित काम अवश्य बढ़ जायगा। इसके उचित निरीक्षण के लिए आवश्यक है कि साध्य तो इस प्रकार लिखे जायँ कि उनमें दत्त, इष्ट, रचना, उपपत्ति बिलकुल स्पष्ट और पृथक्-पृथक् हो और अक्षरशः किताब की प्रतिलिपि न होकर संक्षेप में और सारयुत हो। रेखागणित के चिह्नों का अधिक से अधिक प्रयोग किया जाय। अभ्यासों में दत्त, रचना, इष्ट आदि के लिए उपर्युक्त विधि के अनुसार भिन्न भिन्न मोटाई की रेखाओं के खींचने से संक्षिप्त उपपत्ति के अतिरिक्त और कुछ भी लिखना न रह जायगा। बराबर कोण, रेखाओं, समकोणों आदि के चिह्नों के लगाने से बालक को समझने और अध्यापक के निरीक्षण में बड़ी सरलता हो जायगी। तभी उचित निरीक्षण हो सकेगा। आरम्भ में भले ही कुछ दिनों तक दत्त और इष्ट में गड़बड़ न कर देने के लिए इनका पृथक् स्पष्टीकरण आवश्यक है किन्तु जितनी जल्दी हो सके इसका त्याग करके अङ्कगणित के प्रश्नों की भाँति इसमें भी साधारण क्रिया ही अनिवार्य रह जानी चाहिए।

इन अभ्यासों की शिक्षा को सफल बनाने के लिए और जीवनोपयोगी ज्ञान-वृद्धि करने के लिए यह नितान्त आवश्यक है कि रेखागणित में क्रियात्मक माप को प्रमुख स्थान दिया जाय। देखना यह है कि इस क्रियात्मक माप के कौन कौन-से रूप हो सकते हैं। कक्षा में लम्बाई की माप और अनुमान की तुलना

की तालिकायें बनाने से धीरे-धीरे भिन्न भिन्न लम्बाइयों की वास्तविक माप और अनुमान में बहुत कम अन्तर रह जाता है। बालकों में रोचकता बढ़ती है। कक्षा और संसार के बीच में सम्बन्ध स्थापित हो जाता है और यह और किसी भी विधि से समुचित रीति से हो ही नहीं सकता। कल्पना की वृद्धि तभी होती है और विशेषकर रचनात्मक कल्पना की जब कि पिंडों के माडल, चतुर्भुज के कटे हुए कोण, पाइथागोरस के सिद्धान्त की क्रियात्मक उपपत्तियाँ आँखों के आगे आ जाती हैं। साध्यों और अभ्यासों की सत्यता के विषय में अधिक दृढ़ और अटल विश्वास हो जाता है। कक्षा का सबसे बड़ा अपराध सहयोग और सामूहिक कार्य अपराध ही नहीं रह जाता। उलटे वह तो सफलता का मूलमन्त्र हो जाता है और आगामी जीवन में यह मूलमन्त्र कितना सुखप्रद है। अपने औज़ारों की क्षमता और सीमा ज्ञात हो जाती है और बहुत-से दशमलव स्थानों तक फल निकालने की मूर्खता भी। यही कार्यक्रम कक्षा के बाहर भी ले जाया जा सकता है। स्कूल और नीम के पेड़ की ऊँचाई खेल के मैदान की लम्बाई-चौड़ाई, कुएँ की गहराई, खम्भों की मोटाई आदि से जो वास्तविक ज्ञान हो सकता है वह अन्य विधि की पूरी शिक्षा से भी सम्भव नहीं है। इसके बाद इनकी कापी पर ख़ाके बनाने में आकार, पैमाना, कोण आदि का भली भाँति ज्ञान हो सकता है। यह जाना जा सकता है कि पैमाने में कोण ज्यों के त्यों बने रहते हैं केवल भुजायें ही कम होती हैं।

इस प्रकार उत्पन्न की हुई गवेषणा, सत्यप्रियता, सुन्दरता और सुडौलपन के स्वभाव और लगन की इतिश्री रेखागणित में नहीं कर देना चाहिए। किन्तु इस अर्जित की गई शक्ति का उपयोग स्कूल के सभी विषयों में हो सकता है। यही नहीं, रेखागणित के सिद्धान्त सर्वव्यापी और संसार के मूलरूप होने के कारण सब जगह लागू हो सकते हैं और हैं।

भूगोल में कक्षा दो में पैमाने का विस्तृत प्रयोग होता है और लम्बाई और उँचाई आदि का स्थूल ज्ञान और क्रियात्मक अनुमान करने की विधि बताई जाती है। आगे चलकर पृथ्वी के धुरी पर परिभ्रमण के कारण दिन और रात और सूर्य के चारों ओर परिक्रमण से ऋतु और कटिबन्ध बने है। वीर नाविकों की दिक्सूचक यन्त्र के आधार पर अज्ञात, अपार जल-राशि में यात्रायें ही पृथ्वी को गोल प्रमाणित कर सकी हैं। अक्षांश, देशांश और मानचित्र निर्माण करने की विधि रेखागणित पर ही निर्भर है। इतिहास में समय-रेखा, समय-चक्र और साम्राज्यों अथवा आन्दोलनों के उत्थान, पतन व गति का वर्गांकन

(ग्राफ) बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। ड्राइंग में बिना रेखागणित के मूलतत्त्वों के बिना जाने काम चलना ही असम्भव है। प्रकृतिविज्ञान में पुष्प ही रेखागणित की अगणित आकर्षक विविध प्रकार की सममिति पूर्ण आकृतियाँ हैं। इनसे अच्छे नमूने बनाना प्रकृति के सिवा किससे सम्भव है। दस्तकारी में तो गुनिया, रंदा आदि से रेखागणित का बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है। संगीत में ताल, समय, मात्रा ही सब कुछ हैं। अतः रेखागणित की उचित शिक्षा से लगभग सभी विषयों की शिक्षा में उन्नति हो सकती है और साथ ही साथ आगामी जीवन को सफल बनाने में बहुत बड़ी सहायता मिल सकती है।

इसी लिए अंकगणित और रेखागणित अर्थात्—अङ्क और स्थान के विज्ञानों—की महत्ता सदा से रही है और उत्तरोत्तर बढ़ती जा रही है।

सप्तम अध्याय

भूगोल

भूगोल पढ़ने से पहले यह आवश्यक है कि भूगोल का ठीक ठीक अर्थ जान लिया जाय। गत वर्षों में इसमें अनेक परिवर्तन हो गये हैं। तोते की तरह रट लेने के बजाय अब इसकी शिक्षा में अनुसंधान तथा प्रयोग-प्रणाली को अधिक स्थान दिया जाता है। पर्वत-श्रेणियाँ, नदियाँ, नगर, खाड़ी, समुद्र-तट और बन्दरगाह इत्यादि की परिभाषाओं की लम्बी सूचियों का महत्त्व अधिक नहीं रह गया है। भूगोल-शिक्षा का उद्देश्य अब भूमितल का निरीक्षण तथा अध्ययन हो गया है जिस पर मनुष्य बसता है और यह कार्य मनुष्य की विशिष्ट परिस्थितियों के अध्ययन-द्वारा होता है।

जीव-संसार के सारे कार्यों के आकर्षण तथा संघर्ष का केन्द्र केवल मनुष्य ही है और भूगोल-द्वारा उस युद्ध की व्याख्या होती है जिससे मनुष्य अपनी परिस्थितियों को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करता है। कभी वह अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपनी परिस्थितियों को सम्पूर्णतया पलट देने का प्रयत्न करता है और कभी उनमें कुछ थोड़ा-सा परिवर्तन करके ही संतोष कर लेता है। प्रत्येक मनुष्य किसी न किसी विशिष्ट प्राकृतिक परिस्थिति में रहकर जीवन व्यतीत करता है। उसकी जीवन-गति पर उसकी परिस्थिति ने कितना प्रभाव डाला है अथवा स्वयं उसने अपनी परिस्थिति को कहाँ तक प्रभावित किया है इसी का अध्ययन भूगोल-द्वारा किया जाता है।

बहुत-से स्थान ऐसे हैं जहाँ प्रकृति ने मानवीय इच्छाओं को ठुकरा दिया है तथा मनुष्य को एक विशेष प्रकार का जीवन व्यतीत करने पर बाध्य किया है। परिस्थिति की उस शक्ति का अध्ययन जिस पर मनुष्य बाज़ीगर और बाज़ीगरी दोनों अवस्थाओं में कार्य करता हुआ पाया जाता है अतीव रोचक तथा महत्त्वपूर्ण है। इसे पूर्णतया समझे बिना प्रकृति की विलक्षण लीला का ठीक ठीक अनुमान करना बहुत कठिन है।

थोड़ा विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि हमारा जीवन एक ऐसे संसार से सम्बन्धित है जो तीन प्रधान कटिबन्धों या मण्डलों से मिलकर बना है। अर्थात् स्थल, जल जिससे पृथ्वी के सब गड्ढे भरे हुए हैं और वायुमण्डल जिससे यह सब आवृत है। इन्हीं तीनों तत्त्वों से संसार की स्थिति है। सूर्य से जो उष्णता मिलती है वही समुद्र की धाराओं को तथा वायु को गति प्रदान करती है, समुद्र के जल को वायुरूप में परिवर्तित करती है और भूमितल पर समय समय पर होनेवाले सारे परिवर्तनों का कारण है। हमारे ग्रह में जीवन उत्पन्न करनेवाली तथा उसे बढ़ानेवाली उष्णता इसी प्रकाश-राशि से आती है।

दूसरे शब्दों में, मानव-जीवन पर परिस्थिति का प्रभाव तभी ठीक ठीक समझा जा सकता है जब हम जल, थल तथा वायुमण्डल के पारस्परिक प्रभावों को तथा सूर्य के साथ इनके सम्बन्ध को भली भाँति जान लें तथा उसकी व्याख्या कर सकें। इसी व्याख्या का दूसरा नाम प्राकृतिक भूगोल है।

प्राकृतिक भूगोल स्वयं उद्देश्य अथवा ध्येय नहीं बन सकता किन्तु वह दूसरे ध्येयों या उद्देश्यों की प्राप्ति का साधन है। इसी कारण इसका अध्ययन पृथक् विषय मानकर नहीं किया जाता। इसका अध्ययन केवल उसी सीमा तक परिमित रहता है जहाँ तक इसके द्वारा पृथ्वी के भिन्न भिन्न अंशों के मानव-जीवन के ऊपर पड़नेवाले प्रभाव की व्याख्या की जा सकती है। जैसे ही प्राकृतिक भूगोल ने प्रकृति की रंगभूमि तैयार कर दी वैसे ही उस पर मनुष्य का पदार्पण होता है और हम परिस्थिति के अनुसार उसका अध्ययन आरंभ कर देते हैं।

अब हमारे अध्ययन का विषय यह कि मनुष्य ने अपनी आवश्यकताओं के अनुसार अपनी परिस्थिति पर कहाँ तक विजय प्राप्त की, उसमें क्या क्या परिवर्तन कर सका, वह सफल हुआ या पराजित, क्या खाता है, क्या पहनता है, कहाँ रहता है, उसके औज़ार व हथियार क्या हैं, अग्नि और उष्णता कहाँ से प्राप्त करता है, जीवन के उद्यम क्या हैं, आराम के सामान क्या क्या हैं, यात्रा के साधन क्या हैं, क्रय-विक्रय तथा व्यापार कैसे करता है, शासन, शिक्षा, सभ्यता तथा नागरिकता और धर्म व रहन-सहन का ढङ्ग क्या है। इन्हीं बातों के कारणों की खोज तथा उनकी व्याख्या को आजकल मानव भूगोल के नाम से पुकारते हैं।

यह प्रकट ही है कि इस प्रकार के भूगोल का अध्ययन कितना महत्त्वपूर्ण होगा। किसे इस बात में रुचि न होगी कि संसार के भिन्न भिन्न भागों में कौन कौन से लोग बसे हैं, उनके उद्यम क्या हैं, उनकी परिस्थिति क्या है और कैसी

है, वे लोग किन अवस्थाओं तथा घटनाओं में अपना जीवन व्यतीत करते हैं। इन लोगों की जीवन-घटनाओं तथा अवस्थाओं का अध्ययन हमारे लिए लाभ-रहित नहीं है। इस प्रकार हम अपने कलाकौशल, कृषि, शिक्षा और सभ्यता, तथा यात्रा के साधनों में उन्नति कर सकते हैं। हम दूसरों के मस्तिष्क से उत्पन्न आविष्कारों तथा उनके अनुभवों से लाभ उठा सकते हैं, अपनी जीविका के साधनों में उन्नति कर सकते हैं तथा संसार में प्रतिदिन जो जो घटनायें तथा परिवर्तन होते रहते हैं उनका वास्तविक अनुमान लगा सकते हैं। साराश यह कि प्रयोग की दृष्टि से भूगोल का अध्ययन अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और लाभप्रद है।

हम इस बात की ओर संकेत कर चुके हैं कि भूगोल के अध्ययन का उद्देश्य यह जानना होता है कि मनुष्य ने अपनी परिस्थिति से कहाँ तक मेल अथवा विरोध किया। यह उस समय तक असम्भव है जब तक हम प्राकृतिक भूगोल के कुछ विशिष्ट अङ्गों तथा प्राकृतिक परिस्थिति के मुख्य विषयों की जानकारी न प्राप्त कर लें। हमको कम से कम अक्षांश, देशान्तर, रात-दिन का परिवर्तन, सौर परिवार, फ़सल व ऋतु, चट्टानों और उनकी बनावट, पृथ्वी को बनाने तथा तोड़नेवाले उपकरण, जल की गति तथा वायु इत्यादि के विषय में ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है। इन प्रारम्भिक बातों को जान लेने के बाद हमको विभिन्न विषयों के अध्ययन की ओर पग बढ़ाना चाहिए।
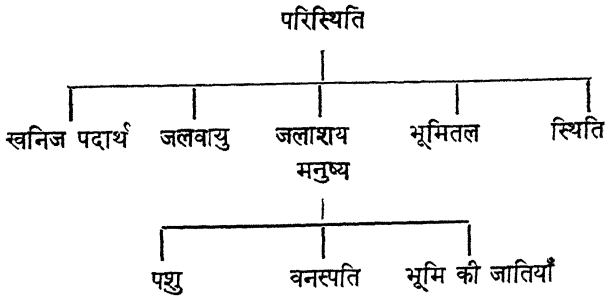
स्थिति—यह बहुत महत्त्वपूर्ण है। इससे पता लगता है कि हम जिस विभाग का अध्ययन कर रहे हैं वह किस अक्षांश में है। अक्षांश के अनुसार पृथ्वी निम्न भागों में बाँटी गई है। इसके द्वारा एक ही दृष्टि में जलवायु-सम्बन्धी बहुत-सी बातें सरलता से ज्ञात हो जायँगी।

भूमितल—यह बड़ा आवश्यक विषय है। इससे अध्ययन के क्षेत्र की बनावट समझ में आ जाती है अर्थात् वह मैदान है, पहाड़ है, प्लेटो है अथवा
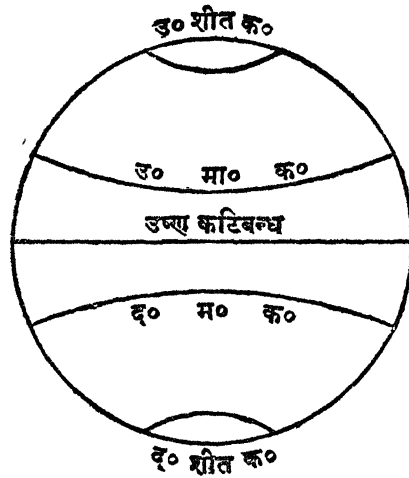
समुद्रतटवर्ती मैदान है या कुछ और है। मानव-जीवन पर मैदान और पहाड़ का भिन्न भिन्न प्रभाव पड़ता है। समुद्रतट का प्रभाव और ही होता है तथा मरुस्थल का और। पहाड़ी भूमि के ऊँचे नीचे भाग मनुष्य को कुछ विशेष कार्य करने पर बाध्य करते हैं। यात्रा के मार्ग नदियों की घाटियों से आगे नही बढ़ पाते। कृषि तो भूमि पर ही अवलम्बित होती है इसलिए पहाड़ी खेत सीढ़ियों के रूप में काटकर बनाये जाते है। मनुष्यों का सम्मिश्रण इतनी स्वतन्त्रता से नहीं हो पाता जितना कि मैदानों में। वहाँ प्रकृति पग पग पर रोड़े अटकाती है। पर्वत केवल इतना ही नही करते बल्कि वे वायु का मार्ग भी रोकते हैं।

यह बात बड़ी सरलता से सिद्ध हो सकती है कि संसार की सभी पर्वत-मालाओं के निवासी अपनी परिस्थिति से एक ही विधि से संघर्ष करते हैं अर्थात् उनका रहन-सहन कुछ सीमा तक एक ही होता है। पर्वतों और उच्च पठारों से इसी बात का प्रमाण मिलता है (जैसे कुमायूँ तथा तिब्बत के पठारों से) कि मानव-सम्मिश्रण में परिस्थिति सर्वदा मार्ग रोकती रहती है।

दूसरी ओर मैदान हैं जो मनुष्य की आविष्कारिणी शक्ति और विचारों के लिए विस्तृत क्षेत्र बन जाते हैं और विशेषकर वे मैदान जो नदियों की लाई

हुई मिट्टी से बने हैं। मैदानों के समतल होने के कारण यात्रा के साधनों में सरलता और आराम मिलता है। कृषि की सारी उन्नति तथा उसका विस्तार सदा मैदानों ही से सम्बन्धित रहा है। यहाँ मनुष्य को अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अपनी परिस्थितियों में इच्छित परिवर्तन करने की स्वतन्त्रता रहती है। कच्ची और पक्की सड़कें, नहर, रेल, तार, टेलीफोन, विशाल भवन, क्रीड़ास्थल, उपवन, कारख़ाने, बाज़ार इत्यादि सब मिलकर प्राकृतिक परिस्थिति को नागरिक परिस्थिति में बदल देते हैं।

जलाशय—समुद्र, झील और नदियाँ मनुष्य के लिए बड़े महत्त्व के हैं। समुद्र जल का भण्डार है जिससे मेघ-द्वारा सुदूर देशों तक पानी पहुँचता है। हिन्द महासागर मानसून-द्वारा हमारा जो उपकार करता है वह प्रकट ही है। यदि ये हवायें हिन्द महासागर से हमें जल लाकर न देतीं तो भारत कृषि-प्रधान देश न रह सकता। सामुद्रिक तथा स्थलीय हवायें जिनके द्वारा जलवायु में इतना परिवर्तन हो जाता है समुद्र ही के कारण चलती हैं। समुद्र के पास के देशों के निवासी प्रायः बड़े अच्छे नाविक होते हैं, जिनके विषय में किसी कवि के शब्द

"जिनका नौ-बल सिन्धुवक्ष पर अपने खेल दिखाता था,
किसी समय नर बाज़ीगर की लीला-भूमि कहाता था"

बिलकुल सत्य उतरते हैं। नदियों का कृषि से अटूट सम्बन्ध है। इनके द्वारा कृषि के लिए मिट्टी और जल तो आता ही है साथ ही साथ खेतों में नवीनता भी होती रहती है।

जलवायु—परिस्थिति का सबसे बड़ा अंश जलवायु होती है। इसका निर्णय स्थिति, भूमितल, जल की निकटता अथवा दूरी से होता है। वायुमण्डल की उष्णता तथा वर्षा वे वस्तुएँ हैं जिनके द्वारा मानव-कार्य बहुत अधिक प्रभावित होते हैं। कृषि-सम्बन्धी सब कार्य तो जलवायु पर ही निर्भर हैं। मनुष्य की योग्यता तथा कार्यकारिणी शक्ति का अनुमान उसके शारीरिक बल तथा स्वास्थ्य से किया जाता है और ये सीधे-सीधे जलवायु पर निर्भर हैं।

भूमि की जाति—किसी भी स्थान की कृषि का अध्ययन करने के लिए वहाँ की भूमि की जाति का जानना बड़ा आवश्यक है। भूमि के अंश या तो स्थावर होते हैं या जङ्गम। पानी और वायु परिवर्तन के विशेष साधन हैं। भूमि की उपजाऊ होने की मात्रा मिट्टी की बनावट पर निर्भर रहती है। इसमें सन्देह नहीं कि कृषि में जल का महत्त्व बहुत अधिक है किन्तु मनुष्य अपने अपूर्व मस्तिष्क की विलक्षण शक्ति-द्वारा दूर-दूर तक जल पहुँचा सकता है जैसा कि उसने

पश्चिमी पञ्जाब में किया है और इस प्रकार जल का अभाव दूर किया जा सकता है। तब भी इस योजना की सब सफलता भूमि के उपजाऊ होने पर निर्भर है। यह भी स्पष्ट है कि खाद इत्यादि की सहायता से भूमि अधिक उपजाऊ बनाई जा सकती है किन्तु यह सम्भव नही कि इन साधनों के द्वारा किसी विशाल मरुभूमि को कृषि के योग्य बनाकर जनपदों से परिपूर्ण किया जा सके।

खनिज पदार्थ—खनिज पदार्थो की उपस्थिति का अध्ययन इस दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि इससे देश के कलाकौशल का पता चलता है। इसी बात को सामने रखकर प्राचीन पर्वतमालाओं का अध्ययन भी आवश्यक है क्योंकि बहुत समय तक परिवर्तनकारी प्राकृतिक शक्तियों के लीलाक्षेत्र बने रहने के कारण यह वर्तमान पठार या पर्वत के रूप को पा सके है। इसलिए घिसते-घिसते ये उस सीमा तक पहुॅच चुके हैं कि उनके खनिज भंडारों तक मनुष्य की पहुॅच हो सके। भारतवर्ष के गंगा के मैदान के कृषिप्रधान होने का तथा इसी क्षेत्र में विस्तृत तथा विशाल रूप से कलाकौशल के न होने का कारण यह है कि प्रस्तुत मैदान में खनिज पदार्थो की अनुपस्थिति है तथा जल और उपजाऊ मिट्टी की बहुतायत है।

वनस्पति—वनस्पतियों का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि बहुत-से स्थलों में मनुष्य के उद्यमों का इन्ही से सम्बन्ध रहता है। वनस्पतियों की उत्पत्ति, स्थिति, भूमितल तथा उसके उपजाऊ होने पर निर्भर रहती है। विषुवत् रेखा के समीप मैदानी भाग उपजाऊ होते है। निरन्तर तथा अधिक वर्षा के कारण वहाँ घने जंगल उत्पन्न हो जाते हैं। उष्ण कटिबन्ध के उत्तरी तथा दक्षिणी भागों में ग्रीष्म ऋतु की वर्षा के कारण घास के बड़े बड़े मैदान पाये जाते है। विषवत् रेखा के जंगलों में मनुष्य रबड के वृक्षों में छेद करके रबड़ निकालते हैं तथा माध्यमिक कटिबन्धों के वनों में लट्ठो और धन्नियों के बनाने का काम होता है। घास के मैदानों में मनुष्य पशु पालते हैं और उनके लिए चारे की खोज में इधर-उधर घूम कर जीवन-निर्वाह करते है।

पशु—उपर्युक्त बातें पशुओं पर भी लागू होती हैं। पशु मनुष्य के लिए बहुत आवश्यक है क्योंकि उनके पालने से कुछ तो मनुष्य के भोजन के काम आते है और कुछ, जैसे शीत कटिबन्ध के हिरन, उसकी अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करते है। अस्तु, मनुष्य के उद्यमों को समझने के लिए पशुओं की उपस्थिति का अध्ययन भी बहुत आवश्यक है।

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि किसी क्षेत्र का पूर्ण अध्ययन

करने के लिए उसके ऊपर उपर्युक्त विषयों के अनुसार विचार करना चाहिए। परिस्थिति के अध्ययन के पश्चात् मनुष्य को रङ्गभूमि पर लाना च.हिए और परिवर्तनकारक कारणों का उचित ध्यान रखते हुए उसके जीवन का अध्ययन करना चाहिए। •

परिस्थिति को भले प्रकार समझने के लिए भूगोल-शास्त्रवेत्ताओं ने पृथ्वी को भिन्न भिन्न भागों में विभक्त कर दिया है। इस प्रकार विभक्त करने में स्थिति, भूमितल, समुद्र का सामीप्य तथा जलवायु का विचार किया गया है। संक्षेप में ऐसे भागों को 'बड़े प्राकृतिक या जलवायु के विभाग' कह सकते हैं। इन विभागों के अनुसार भूगोल का अध्ययन 'रीजनल भूगोल' अथवा 'क्षैत्रिक भूगोल' कहलाता है। मुख्य मुख्य प्राकृतिक विभाग निम्नलिखित हैं :—

(१) उष्णता की मात्रा के अनुसार अक्षांश तथा उँचाई के सहारे पृथ्वी के ये बड़े बड़े भाग किये गये हैं :—

क—अधिक उष्ण भाग
ख—कम उष्ण भाग
ग—कम शीतवाले भाग
घ—अधिक शीतल भाग

(२) स्थिति, भूमितल, समुद्र का सामीप्य तथा वर्षा के अनुसार उपर्युक्त विभागों के निम्नलिखित उपविभाग किये गये हैं :—

क—(१) विषुवत् रेखा के जलवायुवाले भाग
(२) ट्रापिकल या उष्ण कटिबन्धवाले भाग
(३) मानसूनी जलवायुवाले भाग
(४) मरुस्थल तथा ऊसर

ख—(१) भूमध्यसागर के जलवायुवाले भाग
(२) समुद्रतट के समीपवाले भाग (with oceanic climate)
(३) मरुस्थल तथा ऊसर

ग—(१) समुद्रतट के समीपवाले भाग (with oceanic climate)
(२) समुद्रतट से दूरवाले भाग (with continental climate)

घ—(१) मध्यम शीतल जलवायुवाले भाग
(२) हिमाच्छादित भाग

यहाँ इस बात को न भूल जाना चाहिए कि उपर्युक्त उपविभागों के और भी उपविभाग किये जा सकते हैं।

विषुवत् रेखा की जलवायु—इस प्रकार की जलवायु विषुवत् रेखा के ठीक उत्तर तथा दक्षिण ७ या ८ अंश तक पाई जाती है। इन अंशों के मध्य में उष्णता की मात्रा की न्यूनता वा आधिक्य स्थिति पर निर्भर रहती है। इस पट्टी में पर्वतमालाओं पर उष्णता की मात्रा थोड़ी, समान तथा स्थिर रहती है। उदाहरणार्थ दक्षिणी अमरीका में इक्वेडर नामक देश की उष्णता की मात्रा का माध्यम ५५ दर्जा फारेनहाइट है। जो स्थान समुद्र से प्रभावित होते रहते हैं जैसे सिंगापुर, वहाँ की उष्णता की मात्रा मन्द होती रहती है तथा जलवायु बहुत सुखद हो जाती है। हाँ, वन-प्रदेशों के भीतर जहाँ वायु को आने जाने के लिए स्वच्छन्द मार्ग नहीं मिलता बड़ी घुटन रहती है।

यह पट्टी प्रायः "शान्तक्षेत्र" (Doldrums) में स्थित है और इसी कारण यहाँ लगभग सारे वर्ष भर वर्षा होती रहती है। मध्याह्न से पूर्व सूर्य की उष्णता से वाष्प बहुत अधिक बनता रहता है और वायु-तरङ्गों के साथ ऊपर की ओर उठता रहता है। ऊपर पहुँच कर वाष्प शीतल होकर मेघ में परिवर्तित हो जाता है और तीसरे पहर वर्षा होने लगती है। बिजली भी कभी कभी गिर पड़ती है। ये यहाँ की प्रतिदिन की घटनायें हैं। इस प्रकार की वर्षा को अँगरेज़ी में 'कनसेकूशनल' वर्षा कहते हैं। इसके विपरीत भारतवर्ष की वर्षा 'रिलीफ़' के नाम से प्रसिद्ध है। दैनिक वर्षा के कारण तीसरे पहर उष्णता की मात्रा भी घट जाती है।

अस्तु यह पट्टी संसार के सबसे उष्ण भागों में नहीं गिनी जा सकती जैसा कि इसके विषय में अनुमान किया जा सकता है।

उष्ण जलवायुवाले भाग में तरी की बहुतायत होती है जिसका सबसे उत्तम उदाहरण अमेज़न नदी की घाटी है। इस घाटी में वर्षा की अधिकता के अतिरिक्त विषुवत् रेखा के उत्तर तथा दक्षिण की दीर्घ सहायक नदियों से भी ख़ूब जल मिलता है। इसके अतिरिक्त इस पट्टी को उत्तर तथा दक्षिण से आनेवाली हवाओं से भी बहुत लाभ होता है।

तरी का यह बाहुल्य सदा हरे रहनेवाले ऊँचे और मोटे वृक्षों की उत्पत्ति करता है जिनकी लकड़ी बहुत कठोर और टिकाऊ होती है। वृक्षों के घने होने के कारण भूमितल तक वायु तथा प्रकाश की पहुँच नहीं हो पाती। इसलिए जीवन की इन आवश्यक निधियों की प्राप्ति के लिए प्रत्येक वृक्ष ऊँचा होने का प्रयत्न करता है। वृक्षों की ऊपरी शाखायें एक दूसरे से इस प्रकार गुँथ जाती हैं कि छतरी-सी बन जाती है। भूमितल पर सूर्य का प्रकाश न पहुँच सकने के

कारण वहाँ कोई और वनस्पति नहीं उपज सकती। हवा और प्रकाश के लिए इन वृक्षों में जो प्रतियोगिता होती रहती है उसके फलस्वरूप बेलें प्रकट हो जाती हैं जो वृक्षों के सहारे ऊपर चढ़कर लटकने लगती है और परस्पर ऐसी गुँथ जाती हैं कि उनके भीतर प्रवेश करना असम्भव हो जाता है।

कांगो नदी की घाटी में जो वन हैं उनमें भिन्नता पाई जाती है। यहाँ वृक्षों के नीचे घनी बेलें और पौधे भी मिलते हैं। वृक्षों की उँचाई भी अपेक्षतः कम होती है तथा वन भी अधिक विस्तृत होते हैं।

घने वनों के पशु भी ऐसे होते हैं जो साधारणतया वृक्षों की चोटियों पर निवास कर सकते हों। वृक्षों के अधोभाग में सन्नाटा रहता है तथा जीवन की चहल-पहल ऊपरी ही भाग में रहती है।

वनों के भीतरी भाग में असभ्य अथवा उन्नति से रहित जातियाँ निवास करती हैं। वृक्षों की लकड़ी कठोर तथा दृढ़ होती है तथा इसका घनत्व भी अधिक होता है। इसलिए इन वनों को साफ़ करके रहने-सहने के योग्य बनाना कठिन है। इसके अतिरिक्त यहाँ की जलवायु हानिकारक होती है तथा मलेरिया बुखार का बहुत प्रकोप होता है। वनों के किनारे अवश्य साफ़ कर लिये जाते हैं और उन्हें निवास के योग्य बना लिया जाता है। इसका उदाहरण जावा और मलाया में भले प्रकार मिल सकता है।

अमेज़न नदी तथा कांगो नदी के बेसिनों के कुछ भाग बहुत कम बसे हैं। ये दोनों स्थान अभी बहुत समय तक मानव-समाज को बहुत लाभ न पहुँचाएँगे। केवल किनारे किनारे से थोड़ी उपज प्राप्त हो जाती है।

गरमतर जलवायु का सबसे उत्तम उदाहरण अमेज़न की घाटी में पाया जाता है इसी कारण इस प्रकार की जलवायु को अमेज़नी जलवायु भी कहते हैं। इसका अन्य नाम उष्णतर वन्य जलवायु अथवा "सवाना" भी है।

ट्रापिकल जलवायु—इस प्रकार की जलवायु विषुवत् रेखावाली जलवायु की पट्टी के उत्तर तथा दक्षिण में पाई जाती है। ज्यों ज्यों विषुवत् रेखा के उत्तर तथा दक्षिण बढ़ते हैं वृष्टि धीरे धीरे कम होती जाती है। उष्णता कुछ अधिक होने लगती है। इसका कारण यह है कि उष्णता घटाने में वृष्टि का प्रभाव बहुत कम पड़ता है। ट्रापिकल जलवायु मरुभूमि की जलवायु में बदल जाती है। इसलिए इस प्रकार की जलवायु को विषुवत् रेखा की उष्णतर वन्य जलवायु तथा संसार की उष्णतम मरुभूमि की जलवायु का माध्यम कहा जा सकता है।

विषुवत् रेखा की पट्टी से जितना दूर होते जाते हैं वर्षा कम और मौसमी होती जाती है। वनों की ओर और उनके समीप वर्षा का वार्षिक माध्यम ७० इंच है। मरुस्थलों के समीप वर्षा १० इंच से अधिक नहीं होती। इस पट्टी के अधिकांश भाग में व्यापारी हवायें चला करती हैं। वर्षा मौसमी होने के कारण घास प्रचुरता से होती है। इसी कारण इस पट्टी में घास के विस्तृत मैदान पाये जाते हैं।

विषुवत् रेखा से दूर हटने पर वृक्षों की संख्या कम होने लगती है और वे छोटे होते जाते हैं। इस पट्टी के पशु शीघ्रगामी और घास-पात खानेवाले होते हैं। यहाँ बसनेवाले मनुष्य घास के मैदानों से लाभ उठाते हैं। वे ढोर पालते हैं और चारे की खोज में आज यहाँ और कल वहाँ घूमा करते हैं।

इसी प्रकार की पट्टियाँ अमरीका में पम्पास और लनास तथा अफ़्रीका और आस्ट्रेलिया में सवानास के नाम से पुकारी जाती हैं। ऐसी जलवायु का पूर्ण उदाहरण अफ़्रीका में मिलता है। इसलिए इसे 'सूडानी' या 'सवाना' जलवायु भी कहते हैं।

मानसूनी जलवायु—इस प्रकार की जलवायु ट्रापिकल (गरम) पट्टियों में भी पाई जाती है किन्तु रूप भिन्न होता है। इससे पूर्व इस बात का वर्णन किया जा चुका है कि उष्ण और शुष्क जलवायु में व्यापारी हवाओं के उलट-फेर से वर्षा विशेषकर ग्रीष्म में होती है तथा जाड़ा कुछ गर्म और शुष्क होता है। मानसूनी पट्टी में भी यही होता है किन्तु यहाँ वर्षा का कारण स्थिर हवाओं का वह परिवर्तन है जो ग्रीष्म में होता है।

मानसूनी पट्टियाँ अप्रैल और मई में बहुत गर्म हो जाती हैं वायु ऊपर उठने लगती है और 'कम दबाव' (low pressure) की पट्टियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। अस्तु समुद्र की ओर से वाष्पपूर्ण हवायें खिंचने लगती हैं और इस प्रकार ग्रीष्म में 'रिलीफ़' वर्षा होने लगती है। भारतवर्ष में इसकी दो शाखायें हैं। एक तो अरब सागर से आती है और दूसरी बङ्गाल की खाड़ी से। इसलिए बम्बई, बङ्गाल, ब्रह्मा, बिहार, संयुक्त-प्रान्त और पंजाब के कुछ भागों में इसी मानसूनी वायु के कारण वर्षा हो जाती है।

ज्यों ज्यों हम पर्वतमालाओं से और विशेषकर हिमालय के समानान्तर दूर बढ़ते जाते हैं वर्षा घटती जाती है। जिन स्थानों में ८० इंच से अधिक वर्षा होती है वहाँ वन बहुत होते हैं। वनस्पतियों की न्यूनता अथवा आधिक्य वर्षा की न्यूनता वा आधिक्य पर निर्भर रहता है। कुछ भाग ऐसे हैं जिनको वर्ष भर

में ५ इंच से अधिक वर्षा नहीं मिलती। इसका एक कारण तो यह है कि यहाँ पर्वत या ऊँची भूमि नहीं मिलती, दूसरे यह कि वाष्पपूर्ण वायु यहाँ पहुँचने से पूर्व ही अपना बहुत-सा जल खो चुकती है। इसलिए इन स्थानों को अर्द्ध मरुस्थल की पट्टी के नाम से पुकारते हैं।

मानसूनी वर्षा इन स्थानों में होती है—भारतवर्ष, ब्रह्मा, दक्षिणी चीन, उत्तरी पश्चिमी आस्ट्रेलिया तथा पूर्वी अफ्रीका का कुछ तट। चीन के मध्य व उत्तर में और जापान में भी मानसूनी हवाओं से वर्षा होती है। यह स्थान मानसूनी पट्टी से इसलिए भिन्न है कि प्रथम तो यह गर्म और शुष्क पट्टी में स्थित नहीं है, दूसरे इस मानसूनी पट्टी की अपेक्षा यहाँ जाड़ों में अधिक शीत पड़ता है।

उष्ण मरुस्थल की जलवायु—उष्ण और शुष्क जलवायुवाली पट्टी के उत्तर तथा दक्षिण के स्थान 'व्यापारी हवाओं' के मार्ग में होते हैं और 'अधिक दबाव' (high pressure) के क्षेत्रों के नाम से पुकारे जाते हैं। यहाँ वायु बाहर की ओर फैलती रहती है। फल यह होता है कि उष्णता की मात्रा तमाम दिन बढ़ती रहती है। रात्रि इसकी अपेक्षा शीतल होती है। संसार के विशाल मरुस्थल, उदाहरणार्थ अफ्रीका का महान् मरुस्थल, अरब, राजपूताना, बिलोचिस्तान तथा उत्तरी अमरीका के मरुस्थल, दक्षिणी अमरीका का मरुस्थल, पेरू का मरुस्थल, दक्षिणी अफ्रीका का कलाहारी और पश्चिमी आस्ट्रेलिया का मरुस्थल इत्यादि सबके सब इसी पट्टी में स्थित हैं।

भूमध्य सागर की जलवायु—मरुस्थलों की पट्टी के उत्तर और दक्षिण में ऐसे स्थान पाये जाते हैं जो हवाओं के हेर-फेर से ग्रीष्म में 'व्यापारी हवाओं' के और जाड़े में 'शरद् पवन' के मार्गों में पड़ते हैं। 'व्यापारी हवायें' प्रायः शुष्क होती हैं इसलिए ग्रीष्म में वर्षा कुछ भी नहीं होती और उष्णता की मात्रा बढ़ती रहती है। अस्तु, इन स्थानों की जलवायु भी विशिष्ट होती है अर्थात् ग्रीष्म में उष्ण और शुष्क तथा जाड़े में मध्यम और तर। यहाँ की उपज भी ऋतुओं के अनुसार ही होती है। वनस्पति में छोटे छोटे सदा हरे रहनेवाले वृक्ष और झाड़ियाँ होती हैं। नारंगी, नींबू, अंगूर और जैतून लगाये जाते हैं। जलवायु की यह विशेषता भूमध्यसागर के समीप उत्तरी अमरीका में कैलिफ़ोर्निया में, दक्षिणी अमरीका में, मध्य चिली में, अफ्रीका में केपकालोनी के दक्षिण-पश्चिम में, आस्ट्रेलिया के दक्षिण-पूर्व तथा विक्टोरिया प्रान्त के एक भाग में पाई जाती है।

उष्ण मध्यम सामुद्रिक जलवायु—भूमध्यसागर की भाँति की जलवायु

प्रायः महाद्वीपों के पश्चिमी किनारों पर ही पाई जाती है। उन देशों में जो इसी अक्षांश में पूर्वी तट पर स्थित हैं वर्षा ग्रीष्म में होती है। ऐसे जलवायुवाले जो भिन्न भिन्न प्रान्त हैं वे प्राकृतिक कारणों द्वारा और विशेषकर देश के प्राकृतिक विभागों द्वारा प्रभावित होते हैं। अर्थात् इन्हें एक ही पट्टी में न गिनना चाहिए। किन्तु इसके साथ साथ इस बात का भी ध्यान रखना चाहिए कि रूम सागर की जलवायु से इनमें यह विशेषता है कि यहाँ ग्रीष्म में वर्षा होती है।

इस प्रकार की जलवायु निम्न स्थानों में पाई जाती है—फ़्लोरिडा, संयुक्त-प्रदेश अमरीका, दक्षिणी पूर्वी रियासतें, मध्य और उत्तरी चीन, आस्ट्रेलिया के दक्षिणी पूर्वी तट के भाग, दक्षिणी अफ़्रीका, दक्षिणी पूर्वी ब्रैज़िल और उरूगुवे।

मध्यम मरुस्थल की जलवायु—इस प्रकार की जलवायु उन पठारों पर पाई जाती है जो बहुत दूर पर स्थित होते हैं और बीच में पर्वतमालाओं के आ जाने से समुद्र के मन्दकारक प्रभाव से वञ्चित रह जाते हैं। जाड़ों में इन प्रान्तों की दशा अधिक दबाववाले ऐसे स्थानों की-सी होती है जहाँ से वायु चारों ओर बाहर की तरफ़ चलती रहती है। ग्रीष्म में इनकी दशा कम दबाव-वाले ऐसे स्थानों की-सी होती है जहाँ वायु बाहर की दिशाओं से आती रहती है। इन स्थानों में जो कुछ वर्षा होती है वह ग्रीष्म में हो जाती है। ऐसी जलवायु निम्न लिखित स्थानों में पाई जाती है :—

उत्तरी अमरीका में राकी पर्वतमाला द्वारा पृथक् किये हुए पठार, तिब्बत का पठार, दक्षिणी अमरीका के पठार, गोबी की मरुभूमि, फ़ारस के पठार, उत्तरी अमरीका की नमक झील के पास के पठार।

शीतल मध्य सामुद्रिक जलवायु—इस प्रकार की जलवायु भी महाद्वीपों के उन तटों पर सीमित है जो ऐसे अक्षांशों में स्थित हैं जो रूम सागरवाली जल-वायु के प्रान्तों के उत्तर या दक्षिण में हैं। इस पर 'शरद्पवन' या 'पश्चिमी' हवाओं (Westerlies) का प्रभाव सदा पड़ता रहता है। 'शरद्पवन' में 'व्यापारी हवाओं' की-सी स्थिरता तथा एक ही दिशा में चलने का गुण नहीं पाया जाता किन्तु इनमें साइक्लोन और ऐन्टी साइक्लोन की-सी विशेषतायें होती हैं। यही कारण है कि इन प्रान्तों की उष्णता की मात्रा में अधिक परिवर्तन बहुत कम होता है तथा वर्षा तमाम वर्ष भर लगभग समान मात्रा में होती है। समुद्र के निकट जाड़ों में उष्णता की मात्रा फ्रीज़िङ्ग प्वाइंट (पानी जम जानेवाली मात्रा का द्योतक बिन्दु) से ऊपर रहती है किन्तु जो स्थान समुद्र से दूर हैं उनकी

मात्रा इस बिन्दु से नीचे उतर आती है। यदि पश्चिम से पूर्व की ओर चलें तो वर्षा की मात्रा भी घटती जायगी। इस प्रकार की जलवायु ब्रिटिश कोलम्बिया और संयुक्त-प्रदेश अमरीका के उत्तर-पश्चिम में मिलती है। उत्तरी पश्चिमी योरोप में इसका अच्छा उदाहरण मिलता है। इसके अतिरिक्त इस जलवायु का प्रभाव दक्षिणी अमरीका के एक परिमित क्षेत्र में, दक्षिणी चिली में, आस्ट्रेलिया, तसमानिया और न्यूज़ीलेंड के दक्षिणी टापू में दृष्टिगोचर होता है।

मध्य पार्थिव जलवायु (Continental Climate)—इस प्रकार की जलवायु महाद्वीपों के भीतर प्रायः उन्हीं अक्षांशों में पाई जाती है जिनमें ऊपर वर्णित जलवायु का प्रभाव पाया जाता है। वर्षा बहुत कम तथा उष्णता और शीत बहुत अधिक होते हैं। कनाडा के प्रेयरीज़ (घास के मैदान) और एशिया के स्टेपीज़ (घास के मैदान) में ऐसी ही जलवायु पाई जाती है। ग्रीष्म में वर्षा होने के कारण घास प्रचुर मात्रा में होती है। और इसी कारण इन क्षेत्रों की जलवायु मध्यम होती है।

मध्यम शीतल जलवायु—उत्तरी गोलार्द्ध में एक लम्बा-चौड़ा भाग ऐसा मिलता है जिसकी उष्णता की मात्रा कम होती है और वर्षा के स्थान पर हिमपात होता है। इस पट्टी को कोनफ़र (Fir-cone) के वन घेरे हुए हैं। इनकी पत्तियाँ सुई की भाँति नुकीली और फल आकार में गावदुम होते हैं। जाड़ों में दिन छोटे और गर्मियों में बड़े होते हैं। इन लाभदायक वनों की एक चौड़ी पट्टी एशिया, योरोप और उत्तरी अमरीका में पाई जाती है। दक्षिणी गोलार्द्ध में भी ये वन, दक्षिणी अमरीका के धुर दक्षिणी भाग में और न्यूज़ीलेंड के पार्वत्य प्रदेशों में पाये जाते हैं। इन वनों की विशेषता यह है कि इनमें जो पशु होते हैं उनसे समूर और पोस्तीन प्राप्त होते हैं तथा वृक्षों से धन्नियाँ और पटरे।

शीतल मरुस्थल की जलवायु—ऊपर वर्णित जलवायुवाले स्थानों के उत्तर में आर्कटिक वृत्त के भीतर का क्षेत्र बिलकुल हिमाच्छादित रहता है। कुछ दिन तो सूर्य के दर्शन ही नहीं होते। ग्रीष्म के थोड़े से काल में हिम कुछ कुछ पिघल जाता है। इस पट्टी को टुंड्रा कहते हैं।

कार्य-प्रणाली—कार्य-प्रणाली बहुत सोच-विचार कर निर्धारित करनी चाहिए। उसके निर्माण में पीछे के पृष्ठों में वर्णित भूगोल के मुख्य उद्देश्यों का पूर्ण विचार रखना होगा। तीसरी और चौथी कक्षाओं में वह भूमि तैयार करनी

होगी जिस पर भूगोल का विद्यार्थी आगे चलकर भवन निर्माण करता है। इस बात का भरपूर ध्यान रखना चाहिए कि छोटे छोटे शिशु, जब तक आरंभ से ही इस बात का प्रयत्न न किया जायगा, परिस्थिति को पूर्णतया समझकर उसका महत्त्व नहीं जान सकते जिसमें कि वे अपना प्रतिदिन का जीवन व्यतीत करते हैं।

तीसरी व चौथी कक्षाओं में पाठ दैनिक अनुभव के सहारे पढ़ाने चाहिए और उनके विषय भी अनुभव के अनुसार ही हों। इस शिक्षा का रूप बिलकुल प्रायोगिक हो। प्राकृतिक भूगोल के सम्बन्ध में कुछ विशेष विषय चुन लेने चाहिए। जैसे दिशाएँ, सूर्य का उदय और अस्त होना, ऋतुओं के परिवर्तन की कुछ प्रारम्भिक बातें, ग्रीष्म तथा जाड़े में दिन और रात का घटना बढ़ना इत्यादि।

मानचित्र खींचने का आरंभ क्रम से होना चाहिए। पहले कक्षा का कमरा, फिर पाठशाला का भवन, खेल का मैदान और इसके पश्चात् जहाँ स्कूल स्थित हो उस स्थान को लेना अच्छा होता है। इसी नींव पर मानचित्र-लेखन का भविष्य निर्भर रहेगा। मानचित्र-लेखन को कुछ कृषि-सम्बन्धी विषयों के आगे आगे तथा औरों के साथ साथ चलना चाहिए। मानचित्र में निम्न-लिखित बातों को प्रकट करना चाहिए :—

(१) प्राकृतिक बनावट, (२) मिट्टी, (३) खेत, (४) विभिन्न फ़सलों में तरह तरह के अन्न, (५) सड़कें, (६) बाज़ार, (७) पशु इत्यादि इत्यादि। यह काम सरलता से करने के लिए बालकों को टोलियों में विभक्त करके उन स्थानों का पर्य्यटन कराया जाय जिससे वे उन स्थानों को स्वयं देख लें। साथ ही साथ कृषि सम्बन्धी कुछ प्रारम्भिक बातें भी हृदयङ्गम करा देनी चाहिए। ग्रामों से ज़िले और ज़िले से प्रान्त की ओर बढ़ा जाय। प्रान्त का भूगोल पीछे कहे हुए सिद्धान्तों के अनुसार पढ़ाना चाहिए।

शिशु-वर्ग तथा युवक किन परिस्थितियों और अवस्थाओं में जीवन व्यतीत करते हैं इसे कहानियों-द्वारा समझाना चाहिए। इन कहानियों-द्वारा भूगोल की बातें रोचक ढङ्ग से बताई जा सकती हैं। कहानी का प्रारंभ उन मनुष्यों या वस्तुओं से करना चाहिए जिनसे शिशु परिचित हों जैसे पठान, चीनी, तिब्बती, गोरखे और शनैः शनैः उन वस्तुओं और मनुष्यों को उपस्थित करना चाहिए जिन्हें बालक न जानते हों।

तीसरी और चौथी कक्षाओं के अध्यापकों का कार्य्य काफ़ी कठिन होता है किन्तु यदि वे भिन्न भिन्न पाठ्य पुस्तको में दिये हुए शिक्षा-विधि-सम्बन्धी आदेशों का अनुकरण करें तथा अपने कर्तव्यों को समझाने का पूरा प्रयत्न करें तो निस्संदेह उन्हें अधिक कठिनाई का सामना न करना पड़ेगा।

भूगोल-शिक्षा के साधन—भूगोल के अध्यापक का सबसे बड़ा अस्त्र मानचित्र है। आरम्भ ही से बालकों को मानचित्र से परिचित कराने का प्रयत्न किया जाना चाहिए। यह बात उनके मन में बैठा देनी चाहिए कि मानचित्र में वे जो कुछ देखते हैं वह असल वस्तु को प्रकट करती है। शिशुओं को मानचित्र से इतना परिचित और सम्बन्धित करा देना चाहिए कि वे उसका अध्ययन उसी रुचि से करें जैसे किसी पुस्तक का। यह बात जितनी कठिन है उतनी ही आवश्यक भी है। इसके महत्त्व का प्रमाण यह है कि ६० प्रतिशत भूगोल केवल मानचित्र-द्वारा पढ़ाया जा सकता है।

छात्रों से स्वयं नपवाकर तब मानचित्र बनवाने चाहिए। कार्यप्रणाली के अन्तर्गत इस सम्बन्ध में आवश्यक संकेत दे दिये गये हैं। जिस स्थान में स्कूल स्थित है उसका मानचित्र बनवा चुकने के बाद छात्रों को पटवारी का मानचित्र दिखाना चाहिए। इसके बाद क्रम से ज़िले, प्रान्त और भारतवर्ष का मानचित्र उपस्थित करना चाहिए। प्रत्येक बार और प्रत्येक मानचित्र में उन्हें अपने स्थान को देखना चाहिए। छात्र चाहे कोई भी भूगोल का विषय क्यों न पढ़ रहे हों किन्तु मानचित्र के अध्ययन में यह पद्धति बरतनी चाहिए। बालक जो मानचित्र तैयार करें उन्हें सँभालकर रखना चाहिए।

ग्लोब (पृथ्वी का गोला)—भूगोल की शिक्षा में ग्लोब का विशेष स्थान है। प्रत्येक मानचित्र को ग्लोब-द्वारा उपस्थित करना चाहिए। ग्लोब-द्वारा पृथ्वी की वास्तविक आकृति का ज्ञान हो जायगा। शिशुओं का मस्तिष्क किस सीमा तक पहुँच सकता है यह ऐसा विषय है जिसका पग पग पर विचार करना पड़ता है। इसलिए तीसरी और चौथी कक्षा के विद्यार्थियों को पृथ्वी की गोलाई समझाने का प्रयत्न न करना चाहिए, क्योंकि उनके मस्तिष्क में अभी इतनी शक्ति नहीं होती कि वे इस गूढ़ विषय को समझ सके। विधिवत् ज्यों ज्यों बालकों के अनुभव विस्तार को प्राप्त होते जाते हैं त्यों त्यों उन्हें इस प्रकार के कठिन विषयों का ज्ञान कराना चाहिए।

दीवार पर लटकानेवाला मानचित्र—इसका महत्त्व इसलिए अधिक है कि शिक्षक को जो कुछ भी बताना होता है वह इसके द्वारा संपूर्ण कक्षा को

एक साथ बताया जा सकता है। शिक्षक को यह भी चाहिए कि कभी कभी पाठ के बीच में बालकों से पाठ की वस्तु या स्थान के खोजने में सहायता ले। प्रत्येक शिक्षक को स्कूल में मानचित्रों की एक पूरी जोड़ी रखनी चाहिए।

एटलस—प्रान्त का भूगोल आरम्भ करते ही शिक्षक बालकों से एटलस रखने को कहें। इसके अतिरिक्त बालकों को यह भी समझाना चाहिए कि जो कुछ उनको दीवार के मानचित्र पर बताया जाय उसकी जाँच वे स्वयं अपने एटलस में देखकर कर लें।

ख़ाके—ये बहुत आवश्यक होते हैं। शिक्षक और विद्यार्थी केवल ख़ाकों का प्रयोग ही न करें किन्तु उन्हें स्वयं भी बनाते रहें। या तो बालक अपने लिए ख़ाके स्वयं बनावें या शिक्षक उनके लिए ख़ाकों का प्रबन्ध करें। इन ख़ाकों की भराई शिक्षक के सामने कक्षा ही में श्यामपट के ख़ाके या शिक्षक के बनाये हुए बड़े ख़ाके से करनी चाहिए और शिक्षक को प्रत्येक बात यथासम्भव ख़ाके पर या उसकी सहायता से बतानी चाहिए।

चित्र—इनके द्वारा विदेशों के निवासियों के रहन-सहन का ढङ्ग बालकों को भली भाँति बताया जा सकता है। दीवार पर टाँगने योग्य चित्र अच्छे होते हैं। किन्तु यह महँगे होते हैं इसलिए शिक्षक को चाहिए कि समाचारपत्रों तथा पत्रिकाओं से चित्र एकत्र करके काम में लायें।

भ्रमण—भूगोल की शिक्षा में भ्रमण का स्थान बहुत महत्त्वपूर्ण है। इसे कभी न भूलना चाहिए। शिक्षक के लिए यह बात आवश्यक है कि वह बालकों में उन वस्तुओं के प्रति रुचि उत्पन्न कर दे जिन्हें वे अपने घरों तथा स्कूल के आस-पास देखते हैं। प्रकृति की पुस्तक के पन्ने छात्रों के लिए चारों ओर खुले पड़े हैं। शिक्षक बालकों में प्रकृति-निरीक्षण की रुचि उत्पन्न करे। यह उद्देश्य भ्रमण-द्वारा पूर्ण हो सकता है। खेत, चौराहे, चुङ्गीघर, डाकघर, रेलवे स्टेशन तथा बाज़ार इत्यादि का ज्ञान परमावश्यक है। भूगोल की प्रारम्भिक शिक्षा में इनका निरीक्षण बहुत लाभप्रद होगा।

इस प्रकार के भ्रमण का प्रबन्ध पहले से होना चाहिए और जब तक शिक्षक स्वयं पहले जाकर न देख ले कि भ्रमण से लाभ होने की सम्भावना है तब तक भ्रमण आरम्भ न करना चाहिए।

भूगोल का कमरा—भूगोल की शिक्षा में भूगोल का कमरा बहुत आवश्यक अङ्ग माना गया है। शिक्षाविधि की सब पुस्तकों में इस विषय पर बहुत ज़ोर दिया गया है। उन पुस्तकों में इँगलैंड के स्कूलों के भूगोल के कमरों

का वर्णन दिया रहता है। किन्तु भारत में हमारे पास वह सब साधन व सामग्री नहीं है जो विलायतवालों के पास होते हैं। वर्नाक्यूलर स्कूलों में स्थान की संकीर्णता के कारण भूगोल का अलग कमरा बनाना बहुत कठिन होता है। किंतु इन सब कठिनाइयों के होते हुए भी योग्य शिक्षक किसी न किसी प्रकार उन सब वस्तुओं को प्राप्त कर ही लेता है जिनकी उसको पढ़ाने में आवश्यकता पड़ती है। ये वस्तुएँ स्कूल के और विशेषकर मिडिल स्कूल के किसी कमरे में क्रम से रख दी जाती हैं। धीरे धीरे वह उन वस्तुओं को भी एकत्रित कर लेता है जो भूगोल के पढ़ाने में सहायता देती हैं। स्थानीय मान-चित्र, ख़ाके, चित्र, माडल इत्यादि सरलता से प्राप्त किये जा सकते हैं।

इसके अतिरिक्त बालकों के कार्य के वार्षिक नमूने भी रखने चाहिए। जिस स्थान में स्कूल हो उसका विवरण-सहित मानचित्र होना चाहिए। स्कूल तथा उसके आस-पास का माडल रखना भी लाभदायक होता है। फ़सल के पौधे, विविध भाँति की मिट्टी, चट्टानों के टुकड़े इत्यादि भूगोल के कमरे में रखने चाहिए। इनके बिना भूगोल की शिक्षा अपूर्ण रहती है। सचित्र समाचारपत्रों से लाभदायक चित्र भी काट काट कर एकत्रित कर लेने चाहिए। शिक्षक को स्वयं चाहिए कि वह किसी एटलस की सहायता से विभिन्न महाद्वीपों के मानचित्र बड़े आकार के बना ले। इनमें वर्षा, उष्णता की मात्रा, यात्रा के मार्ग, उपज का विवरण और प्राकृतिक विभाग दिखाये जायँ। प्रत्येक बात दिखाने के लिए पृथक् मानचित्र हो। मिडिल स्कूलों के शिक्षक प्रत्येक बालक के कार्य का नमूना किसी विशेष कमरे में प्रदर्शित कर सकते हैं। इससे बालकों में प्रतियोगिता और प्रतिद्वंद्विता का उचित रूप से प्रादुर्भाव होता है।

अष्टम अध्याय

पाठशालाओं में इतिहास का स्थान और उसकी शिक्षण-विधि

पाठशाला के पाठ्य-क्रम में इतिहास का स्थान—मध्ययुग के भारत में संस्कृत-शिक्षा इतिहास के तत्कालीन रूप के बिना असंपूर्ण समझी जाती थी। उस समय आज कल के समान इतिहास के ग्रन्थ नहीं थे। रामायण, महाभारत और श्रीमद्भागवत तथा पुराण ही इतिहास के स्थानापन्न थे। कुछ दिनों पढ़े-लिखे लोगों की यह धारणा हो गई थी कि इन ग्रन्थों का कोई ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। किन्तु अब कुछ दिनों से विद्वानों की सम्मति इस विषय में धीरे धीरे बदलने लगी है। इन ग्रन्थों में बहुत-सा ऐतिहासिक मसाला है। यद्यपि अर्वाचीन दृष्टि से उस मसाले को ऐतिहासिक तत्त्वों से अलग करना कठिन काम है, फिर भी इस उदाहरण से हमारी यह धारणा पुष्ट होती है कि इतिहास का अध्ययन इस देश में कोई नवीन बात नहीं है। पाश्चात्य देशों की शिक्षा-प्रणाली में इतिहास को गत शताब्दी ही में स्थान मिला। हमारे देश की वर्तमान शिक्षा-पद्धति पाश्चात्य पद्धति की नक़ल—जूठन—है और उसमें इतिहास का समावेश उसी समय से रहा है जब से उसने इस देश में प्रवेश पाया है।

शिक्षा-शास्त्र-वेत्ताओं में इतिहास की शिक्षा के महत्त्व और मूल्य के विषय में बड़ा मतभेद रहा है। पाठ्यक्रम में और कोई ऐसा विषय नहीं है जिसका मनुष्य की धारणाओं, विश्वासों, मतभेदों, रुचि और अरुचि से इतना गहरा सम्बन्ध है जितना इतिहास का। गणित, भौतिक विज्ञान आदि ऐसे विषय हैं जिन पर मनुष्य तटस्थ रूप से विचार कर सकता है। किन्तु इतिहास में अथ से इति तक मतभेदों के कारण उसका विषयात्मक (objective) अध्ययन यदि नितान्त असंभव नहीं तो अत्यन्त कठिन अवश्य है। परिणाम

यह होता है कि इतिहास की शिक्षा बहुधा अध्यापक, इतिहास-लेखक, समाज या शासकों के मतों के प्रचार में परिणत हो जाती है।

कुछ लोगों का कहना है कि सच्चे इतिहास का पढ़ाना पहले तो असंभव है और यदि संभव भी हो तो सदा वाञ्छनीय भी नहीं है। उदाहरण के लिए, यदि मध्यकालीन हिन्दू प्रजा के साथ पठान, तुर्क आदि बादशाहों और नवाबों के बर्ताव का सच्चा हाल पढ़ाया जाय तो उससे दोनों धर्मों के बालकों में मनोमालिन्य का प्रादुर्भाव अवश्यम्भावी हो जायगा। और क्या यह मनोमालिन्य सत्य के नाम पर उत्पन्न करना और पुष्ट करना आवश्यक, कल्याणकारी और वाञ्छनीय है? इसका उत्तर कुछ विद्वान् यह देते हैं कि अरुचिकर सत्य को भी इस प्रकार पढ़ाया जा सकता है कि बालकों के मनोवेगों और भावों पर उसका आपत्तिजनक प्रभाव न पड़े। कदाचित् बहुत खोजने से एक दो इस प्रकार के असाधारण प्रतिभाशाली अध्यापक मिल भी जायँ। किन्तु साधारण अध्यापक और साधारण विद्यार्थी इतिहास की कक्षा में आने से पहले अपने मनोवेगों को ताले में बन्द नहीं कर सकते। फिर जो लोग इतिहास को ऐसा विषय समझते हैं जिसका मानुषी मनोवेगों पर प्रभाव नहीं पड़ता वे इस विषय के मानुषिक मूल्य को ठीक ठीक नही आँकते। इतिहास की शिक्षा मे अप्रिय सत्य बातों का दबाना, प्रिय मिथ्या बातों को प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से स्थान देना, अपने पक्ष को न्यायसंगत और विपक्ष को निर्बल और अन्यायपूर्ण बतलाना, ऐसे सिद्धान्तों का—सत्य के नाम पर—प्रचार करना जिनसे अपने पक्ष का महत्त्व बढ़े या विपक्ष में निर्बलता आवे—बहुधा देखा जाता है। इतिहास की शिक्षा के द्वारा संसार के भावी नागरिकों में जितनी अंतर्राष्ट्रीय और अन्तर्जातीय घृणा और वैमनस्य का बीजारोपण होता है उसे देखकर कभी कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या इतिहास की शिक्षा से लाभ की अपेक्षा हानि ही अधिक नहीं हो रही है?

इतिहास की शिक्षा की इस दुरवस्था का एक कारण यह भी है कि पाठशालाओं में किसी राष्ट्रविशेष या देशविशेष का इतिहास पढ़ाया जाता है। वास्तव में इतिहास का विषय किसी जातिविशेष की जीवन-कथा ही नहीं है; प्रत्युत उसका उद्देश्य मानव-जाति के जीवन का वर्णन है। यदि सारी मानव-जाति का जीवन-वृत्तान्त लिखा जाय तो भिन्न भिन्न राष्ट्रों को इस कथा में अपेक्षाकृत अधिक उपयुक्त और न्यायानुकूल स्थान मिलेगा। किन्तु जब एक ही राष्ट्र का वर्णन किया जाता है तब काव्य के नायक के समान उसके महत्त्व का अतिरंजित वर्णन हो जाता है। इसलिए इतिहास का वह पाठ्यक्रम जिसमें संसार के—

अर्थात् सारी मानव-जाति के—इतिहास का समावेश नहीं है, अपूर्ण और भयावह है।

किन्तु एक राष्ट्र के जीवन का भी ठीक ठीक वर्णन करना कुछ सरल काम नहीं है। मानव-जाति के जीवन की कथा कहना तो अत्यन्त कठिन है। इसलिए इतिहास-लेखक उन भिन्न भिन्न व्यक्तियों की जीवन-कथाओं के रूप में किसी एक राष्ट्र या मानव-जाति के इतिहास का वर्णन करते हैं जिनको वे राष्ट्र या मानव-जाति के तत्कालीन प्रतिनिधि, नायक या नेता समझते हैं। लेखक के दृष्टिकोण के अनुसार ये नेता राजे, सेनानायक, योद्धा, राष्ट्रपति, राज-सचिव, सुधारक, दार्शनिक, कवि आदि होते हैं। आरम्भ में बड़ी बड़ी संस्थायें जैसे मुग़ल-साम्राज्य, बौद्ध-धर्म, वर्णाश्रम आदि इन्हीं विशिष्ट व्यक्तियों की जीवन-कथाओं के अन्तर्गत ही समझी जाती थीं। किन्तु अब राष्ट्र और मानव-जाति का जीवन विशिष्ट व्यक्तियों के जीवन का प्रतिबिम्ब नहीं माना जाता। इसलिए अब संस्थाओं की भी स्वतन्त्र सत्ता हो गई है और उनके साथ ही मानव-जाति की विचारधाराओं—जैसे राजा का दैवी अधिकार, पूँजीवाद, प्रजासत्तावाद—का अध्ययन भी आरम्भ हो गया है और अब राष्ट्र या मानव-जाति के जीवन का अध्ययन बिना संस्थाओं और विचारधाराओं के अध्ययन के अपूर्ण समझा जाता है। इसे यों भी कह सकते हैं कि आरम्भ में विशेष व्यक्तियों या वंशों के उत्थान और पतन के ऊपर ज़ोर दिया जाता था। अब सभ्यता के विकास की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित हो गया है।

और किसी राष्ट्रविशेष अथवा मानव-जाति के जीवन की प्रगति क्या है? क्या वह प्रगति लक्ष्यहीन वायु के झकोरों से प्रकम्पित तिनकों के समान अनिश्चित है, अथवा वह सागर की ओर एकाकी भाव से दौड़ती हुई नदी की धारा के समान निर्धारित है? अवश्य ही इस सुव्यवस्थित सृष्टि की सर्वोत्तम कृति—मानव-जाति—की प्रगति को लक्ष्यहीन और उद्देश्यहीन मानना असम्भव है। तब इस प्रगति का लक्ष्य क्या है? मानव-जाति के जीवन का चरम उद्देश्य क्या है? और उसमें वह कहाँ तक सफल हो सकी है? किसी राष्ट्रविशेष ने मानव-जाति के इस उद्देश्य में क्या सहयोग किया है? चाहे किसी गाँव के नीचे बहनेवाली नदी का उद्गम और अवसान गाँव के परिमित अनुभववाले मनुष्यों को न मालूम हो, किन्तु उसका उद्गम भी कहीं है और अवसान भी। अपने अनुभव के अनुसार गाँव के पिछड़े हुए लोग १०-२० अथवा १००-५० कोस तक उसकी गति का हाल बतला सकते हैं। किन्तु 'गंगासागर' तक की यात्रा करनेवाले बिरले ही

होते हैं। इसी प्रकार, मानव-जाति के जीवन का लक्ष्य भी पहेली है। कोई समझता है कि रोमन, स्पेनिश, फ्रांसीसी या अँगरेज़ी साम्राज्य उसकी प्रगति का लक्ष्य था। कोई फ्रांस की राज्यक्रान्ति के मूलमंत्र "समानता, भ्रातृत्व और स्वतंत्रता" को उसका चरम उद्देश्य समझता है। किसी को उसमें विकासवाद और सर्वश्रेष्ठ प्राणियों के महत्त्व की धारा दिखलाई पड़ती है। कहीं कहीं लोग "राष्ट्रीयता" "पूँजीवाद" "जनसत्तावाद" "श्वेतकाय लोगों की श्रेष्ठता" "श्रम-जीवियों की श्रेष्ठता" "अन्तर्राष्ट्रीयता" आदि की ओर मानव-जाति को बढ़ते हुए देखते हैं। जो इतिहासकार मानव-जाति की प्रगति को जिस ओर जाता समझता है वह इतिहास को उसी दृष्टिकोण से देखता है। फिर भी इन सब अनेकताओं में एक सामंजस्य है। वह यह कि सब लोग मानव-जाति को प्रगतिशील मानते हैं। उसकी अथवा किसी एक राष्ट्र की प्रगति का अध्ययन ही इतिहास का अध्ययन है।

किंतु इतिहास का विद्यार्थी उस प्रगति के वर्णन ही से संतुष्ट नहीं होता। वह जानना चाहता है कि ये घटनायें क्यों घटीं? क्यों कहीं मनुष्यों ने देवताओं को लज्जित करनेवाले महान् कार्य किये और क्यों कहीं लोगों ने राक्षसों को भी मात करनेवाले अत्याचारों-द्वारा मनुष्य-जाति को कलंकित किया? हम जो कुछ आज हैं, वह क्यों हैं? हम दूसरों के समान क्यों नहीं हैं? ये तथा अन्य ऐसे ही प्रश्न इतिहास के प्रारम्भिक विद्यार्थी से लेकर बड़े बड़े विद्वानों तक के हृदयों को आन्दोलित किया करते हैं। इतिहास इन समस्याओं को सुलझाने का उद्योग करता है।

अतएव, पाठ्यक्रम में इतिहास के अध्ययन को सम्मिलित करने का सर्व-प्रथम कारण यह है कि मनुष्य में अपनी जाति की प्रगति और प्राचीन इतिवृत्त जानने की जो स्वाभाविक उत्सुकता है उसकी तृप्ति हो सके। मानव समाज आये-दिन जिस अवस्था में है वह वहाँ कैसे और क्यों पहुँचा—इसका ज्ञान वर्तमान की बहुत-सी पहेलियों को हल कर सकता है। यह वर्तमान समाज हमारी "बपौती" है। उसका ठीक-ठीक महत्त्व और मूल्य हम तभी समझ सकते हैं जब हमें उसके पिछले इतिहास की कुछ जानकारी हो। अतएव अपने इस पितृधन को समझने के लिए भी इतिहास की आवश्यकता है। शिक्षा का एक उद्देश्य यह भी है कि शिक्षित व्यक्ति अच्छा नागरिक हो। अच्छा नागरिक वही हो सकता है जो अपने समाज से सहानुभूति रखता हो, उसके उद्देश्यों को समझता हो, अपने समाज के सिद्धांत-सम्बन्धी उद्योगों और युद्धों को जानता हो और उनके लिए श्रम और बलि-

दान करने को तैयार हो। अपने समाज का इतना ज्ञान, बिना इतिहास के अध्ययन के, कठिन है। अतएव इतिहास का अध्ययन विद्यार्थियों को अच्छे नागरिक बनाने में सहायक होता है। नागरिकता से देश-भक्ति का घनिष्ठ सम्बन्ध है। देश के भूतकालीन वृत्तान्त में देश के अतीत काल के गौरव की कथायें होती हैं। उसमें देश के उत्थान के लिए सामूहिक और व्यक्तिगत प्रयत्नों की कहानियाँ होती हैं जिनको पढ़कर राष्ट्र के भावी नागरिक मानसिक रूप से उन संग्रामों में भाग लेकर देश के उत्थान के व्रत में दीक्षित होते हैं। राष्ट्रीय वीरों के प्रति आदर और श्रद्धा के भाव जागृत और पुष्ट किये जाते हैं, राष्ट्रीय संस्थाओं के सौन्दर्य और अर्थ का ज्ञान होता है। सारांश यह कि देश के अतीतकाल की उन सब बातों का परिचय प्राप्त होता है जो हमें अपने देश से निकटतर लाती हैं और हमारे हृदयों में उसके लिए वह भाव उत्पन्न और पुष्ट करती हैं जिनके सामूहिक परिणाम को हम देश-भक्ति कहते हैं। इतिहास की देश-भक्ति जागरित करने की शक्ति से यह प्रत्यक्ष है कि उसका प्रभाव हमारे मस्तिष्क ही पर नहीं किन्तु हमारे हृदय पर भी पड़ता है। और इस कारण कुछ विद्वानों का मत है कि इतिहास के द्वारा हम विद्यार्थियों के मनोभावों को भी शिक्षित कर सकते हैं। उसके द्वारा उचित-अनुचित का ज्ञान कराया जा सकता है और उनकी विवेक-बुद्धि को विकसित करने में सहायता दी जा सकती है। व्यक्तिविशेष के आचरण का दूसरों पर—दो-चार व्यक्तियों पर ही नहीं किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्रों पर—प्रभाव पड़ता है। इससे यह सिद्ध किया जा सकता है कि व्यक्ति का आचरण सामाजिक महत्त्व का विषय है। उसके अच्छे या बुरे होने से कितनी लाभ-हानि हो सकती है। नैतिक आचरण राष्ट्र के लिए भी उतना ही आवश्यक है जितना साधारण व्यक्तियों के लिए। ये सब बातें ऐतिहासिक उदाहरणों-द्वारा बालकों को हृदयंगम कराई जा सकती हैं। किन्तु पाठकों को इतिहास के इस गुण पर अधिक ज़ोर न देना चाहिए, क्योंकि उसमें कदाचित् एक अच्छे उदाहरण के साथ दस बुरे उदाहरण भी मौजूद हैं और यदि नैतिक शिक्षा इतिहास के अध्ययन के ऊपर ही निर्भर रही तो वह अवश्य ही कच्ची और अपरिपक्व होगी।

शिक्षक की दृष्टि से इतिहास के अध्ययन का एक बहुमूल्य उपयोग यह भी है कि वह बालकों की कल्पना को उत्तेजित करता है। कल्पना और विचार-शक्ति का संबंध शिक्षकों को भली भाँति ज्ञात है। अतएव कल्पना के प्रखर होने से बालकों का मानसिक जीवन अधिक पूर्ण हो जायगा। इतिहास के अध्ययन

से स्मरण-शक्ति को भी उत्तेजना मिलती है और उससे समय का अधिक स्पष्ट बोध हो जाता है।

इतिहास के शिक्षण से इन सभी ध्येयों की थोड़ी बहुत पूर्ति हो सकती है। किन्तु उसके शिक्षण का मुख्य और प्रत्यक्ष उद्देश्य बालकों को प्राचीन इतिवृत्त का परिचय करा देना है। यदि अध्यापक इस उद्देश्य के साथ ही यह भी ध्यान रखे कि उसके द्वारा सची देश-भक्ति उत्पन्न हो जाय तो पाठशालाओं में इतिहास की शिक्षा का बहुत कुछ आशय पूरा हो जायगा। सच्ची देश-भक्ति से तात्पर्य यह है कि बालक केवल अपने ही देश से प्रेम न करे किन्तु उसमें अन्य देशों और अन्य जातियों और पर-धर्मावलम्बियों के प्रति उचित आदर के भाव उत्पन्न हो जायँ।

बालकों की योग्यता और पाठ्य-क्रम—उपरोक्त विवेचना में इतिहास-शिक्षण के चरम उद्देश्यों पर विचार किया गया है। किन्तु जब हम किसी छोटे बालक को इतिहास पढ़ाना आरम्भ करते हैं उस समय हमारा तत्कालीन उद्देश्य यह होता है कि हम उसे इतिहास में रुचि उत्पन्न करा सकें। यह तभी हो सकता है जब हम विषय को रोचक बनावें और विषय का रोचक बनाना बालक की योग्यता और अध्यापक के बालक के मनोविज्ञान-सम्बन्धी ज्ञान पर निर्भर है। रुचि उत्पन्न कराने के बाद हम बालक को वे ऐतिहासिक बातें बतलाते हैं जिनको वह समझ सकता है और जिनसे उसे तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण (background) का बोध हो जाय। ग्यारह अथवा बारह वर्ष की अवस्था तक बालकों में अमूर्त्त (abstract) बातों और संस्थाओं को समझने की योग्यता ही नहीं होती। कुछ विद्वानों का मत है कि १५-१६ वर्ष की अवस्था के पहले वे संस्थाओं के तात्पर्य को नहीं समझ सकते। अतएव यह प्रत्यक्ष है कि ११-१२ वर्ष की अवस्था तक बालकों को मूर्त्त (concrete) बातों ही से संतोष हो जाता है। उनका प्रश्न "क्या हुआ ?" होता है। १५-१६ वर्ष की अवस्था में उनके प्रश्नों में "कैसे ?" और "क्यों ?" का भी समावेश होने लगता है। अतएव ११-१२ वर्ष की अवस्था के बालकों के लिए पाठ्यक्रम में ऐतिहासिक कहानियों ("क्या" का उत्तर) और उसके साथ उन मूर्त्त (concrete) सामाजिक बातों का वर्णन पर्याप्त है—जिनका उन्हें अपने अनुभव के कारण ज्ञान है। ये कहानियाँ कुछ तो जीवनियों के रूप में होंगी और कुछ कथानकों के रूप में। वे मूर्त्त (concrete) सामाजिक बातें जिनमें इस अवस्था के बालकों की रुचि हो सकती है ये हैं:—प्राचीन भोजन, वस्त्र, खेल-कूद, तमाशे, सवारियाँ, अस्त्र-

शस्त्र, युद्ध, विवाह आदि की रस्में जैसे स्वयंवर, सती आदि। कहानियों और जीवनियों के चुनाव में बड़ी सावधानी की आवश्यकता है। ऐतिहासिक कहानियाँ और जीवनियाँ ८ से लेकर १२ वर्ष की अवस्था के बालक-बालिकाओं को पढ़ाई जानी चाहिए। किन्तु जीवनियाँ उस प्रकार की न हों जैसी बहुधा हिन्दी की ऐतिहासिक कहानियों की पुस्तकों में देखी जाती हैं। उनमें प्रायः ऐतिहासिक पुरुषों के जीवन-सम्बन्धी नीरस वृत्तान्त—जैसे पैदा होने, मरने की तिथियाँ, उनके कामों की सूची आदि—होता है। वास्तव में होना यह चाहिए कि उस पुरुष को केन्द्रीभूत मानकर उसके जीवन, या जिस युग में वह हुआ था उस पर प्रकाश डालनेवाली कोई रोचक कहानी बतलाई जाय। बुद्ध की जीवनी बतलाने की अपेक्षा देवदत्त और बुद्ध की तीर से मारे हुए पक्षी की कथा बतलाना अधिक मनोरंजक और लाभदायक है। कहानियाँ केवल रोचक ही न हों किन्तु जहाँ तक हो सके दुःखान्तक कहानियों को बचाया जाय। साहस, वीरता, ऊँचे दर्जे के प्रेम की कथायें अधिक उपयुक्त होंगी। पुराणों, बौद्ध जातकों की कथाओं से आरम्भ करके शिवाजी, प्रताप, रणजीतसिंह, बाबर, अकबर, चाँदबीबी आदि की कथायें बालकों को सरलतापूर्वक पढ़ाई जा सकती हैं। इन कहानियों में व्यर्थ का विवरण न होना चाहिए। उदाहरण के लिए बाबर की कथा में पानीपत के युद्ध का नक़शा या सैनिक चालों का बतलाना, या उसके परिणाम पर व्याख्यान देना इस अवस्था के बालकों के लिए व्यर्थ है। कहानियों के चुनाव में इस बात का भी ध्यान रखा जाय कि कुछ तो उनमें अवश्य ऐसी हों जिनका अभिनय किया जा सके और उनसे तत्कालीन रीति-रिवाजों का पता लग सके। कहानियों के द्वारा उन्हें ऐतिहासिक तत्कालीन वातावरण का ऐसा ज्ञान करा दिया जाय कि यदि कोई उनसे कहे कि बौद्ध काल में लोग हुक्का पीते थे या अकबर कोट पतलून पहनता था तो वे इस असामञ्जस्य को तत्काल ताड़ सकें। यदि कहानियों के द्वारा तत्कालीन ऐतिहासिक वातावरण को समझाने का उद्योग किया गया है तो किसी भी पाँचवें या छठे दर्जे के बालक को "तानसेन" नामक निम्नलिखित कविता के अनैतिहासिक तत्त्वों और व्यंग को समझने में कठिनता न होनी चाहिए।

तानसेन

(१)

यह आप जानते हैं विक्रम था एक राजा।
दरबार नौरतन से था उसका जगमगाता॥

था तानसेन भी एक उस्ताद पूरा पूरा।
दरबार में वह उसके एक रोज़ आन पहुँचा॥
अर्थात् उस जगह वह सचमुच ही आ पहुँचता।
पर क्या करे वह तब तक पैदा नहीं हुआ था॥

(२)

तब तानसेन जी ने की रेल की सवारी।
पूछा तो कहा अब है कलकत्ते की तयारी॥
भाड़े की गाड़ी लेकर, हवड़े के पुल से होकर।
एक ठाठ से गया वह विक्रम के घर के भीतर॥
अर्थात् वह निश्चय ही विक्रम के घर पर जाता।
पर क्या करे कि तब तक पुल ही नहीं बना था?
कलकत्ते में फिर उसकी कुछ भी न थी निशानी।
उज्जैन में थी उस दम विक्रम की राजधानी॥

(३)

तब तानसेन अपनी विद्या लगा दिखाने।
एक ख़ूब-सा पियानो लेकर लगा बजाने॥
अर्थात् वह पियानो अच्छी तरह बजाता।
पर क्या करे वह बाजा तब तक नहीं बना था॥

ग्यारह-बारह वर्ष की अवस्था में इतिहास-शिक्षण का प्रथम सोपान समाप्त होता है। यदि दूसरे सोपान पर पदार्पण करने से पहले बालकों को भिन्न भिन्न काल के ऐतिहासिक वातावरण का परिचय हो जाय जिससे वे इतिहास को अपने मन-पटल पर स्पष्ट रूप के साथ खींच सकें, और जिससे उन्हें ऐतिहासिक बातों की सत्यता बोध करने की आदत पड़ जाय, अर्थात् उनकी ऐतिहासिक कल्पना विकसित हो उठे, तो समझ लेना चाहिए कि इतिहास-शिक्षा के प्रथम सोपान का ध्येय पूरा हो गया। दूसरे सोपान में १२ से लेकर १४ वर्ष के बालकों की शिक्षा सम्मिलित है। इस काल में सम्बद्ध इतिहास का पठन-पाठन आरम्भ होना चाहिए। यद्यपि अभी बालकों में ऐसी अमूर्त्त (abstract) और अपौरुषेय (impersonal) बातें जैसे 'राज्य', 'धर्म', 'न्याय', 'स्थानीय स्वराज्य', 'प्रजासत्तात्मक राज्य' आदि को समझने की योग्यता नहीं आई, तथापि उन्हें देश के सम्बद्ध इतिहास की मोटी मोटी बातें बतलाई जा सकती हैं। बहुधा

अध्यापक इस सोपान में बालकों को अत्यधिक बातें बतलाने की चेष्टा करते हैं जिससे लाभ के बदले हानि होती है। क्रमानुसार भारतीय इतिहास के मुख्य मुख्य युगों की प्रधान बातों और घटनाओं का ज्ञान लेना ही इन बालकों के लिए पर्याप्त है। इस सोपान में बालकों को समय का अधिक स्पष्ट ज्ञान कराना चाहिए जिसमें समय-रेखा या टाइम चार्ट से बहुत सहायता मिलेगी। यहाँ इस बात का विशेष ध्यान रहे कि बालक ऐतिहासिक घटनाओं के परस्पर समय-सम्बन्ध को समझते जायँ। बुद्ध और अशोक, बौद्ध-धर्म और पौराणिक धर्म, मौर्य-वंश और गुप्त-वंश, शेरशाह और अकबर, नानक और गुरु गोविन्दसिंह, ग़दर और महारानी की घोषणा में जो समय-सम्बन्ध है वह बालकों के चित्त में स्पष्ट होना चाहिए। इससे एक बड़ा लाभ यह होगा कि बालकों में कभी कभी जो यह धारणा हो जाती है कि प्रत्येक ऐतिहासिक घटना स्वतन्त्र घटना है,—उसका कारण-परिणाम सम्बन्ध अन्य घटनाओं से नहीं है—वह दूर हो जायगी। यहाँ देश के इतिहास को बालकों के निकटतम लाने के लिए यह भी वाञ्छनीय है कि इस सोपान में स्थानीय इतिहास का भी अध्ययन कराया जाय जिससे देश की अतीत घटनाओं को वे अपने से बहुत दूर घटी हुई न समझें।

चौदह-पन्द्रह-सोलह की अवस्था में पहुँचकर बालक इतिहास-शिक्षा के तीसरे सोपान पर पैर रखता है। यह बालक की किशोरावस्था है। इस अवस्था में बालक की बुद्धि का विकास प्रायः अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाता है। इस समय उसमें स्वावलम्बन की मात्रा बढ़ जाती है। वह विचार करने लगता है। वस्तुओं और घटनाओं के कारण-परिणाम पर पहुँचने की उसमें उत्सुकता होने लगती है। अपने मत को वह स्पष्ट रूप से प्रकट करने में आनन्दित होता है। वीरपूजा और निष्काम कर्म को वह आदर की दृष्टि से देखने लगता है। साहस और वीरता के काम करने—घूमने—आदि की उसमें इच्छा प्रबल हो उठती है। वह अपने अवधान (attention) को लगातार कुछ देर तक लगा सकता है। इसलिए इस सोपान में इतिहास की शिक्षा अधिक गहरी होनी चाहिए। यहाँ देश के क्रमागत संबद्ध इतिहास का अध्ययन कराया जाय और विद्यार्थियों को ऐतिहासिक संस्थाओं के विकास को समझाया जाय। इस सोपान में ऐतिहासिक कारण-परिणाम निकालने और ऐतिहासिक सम्मतियों और विचारों को बनाने का भी अभ्यास कराना चाहिए। हमारी वर्नाक्यूलर पाठ-शालाओं में बालक इस सोपान तक पहुँचते ही नहीं। हाई स्कूल तथा इण्टर-मीजिएट कालिजों में इस अवस्था की शिक्षा दी जा सकती है।

इतिहास पढ़ाने की कुछ साधारण और प्रचलित रीतियाँ—कहानियों का सोपान छोड़ने के बाद इतिहास पढ़ाने के दो क्रम प्रसिद्ध हैं। एक तो वह है जिसे "केन्द्रिक" कहते हैं और दूसरे का नाम "क्रमागत" रीति है। केन्द्रिक रीति से पढ़ाने में कुल इतिहास कई साल तक प्रत्येक साल पढ़ाया जाता है, किंतु प्रत्येक वर्ष इतिहास के किसी विशेष अंग या पहलू (aspect) पर (जैसे शासन-प्रणाली पर एक साल , वैदेशिक नीति पर दूसरे साल, संस्थाओं या राजनैतिक विचारों के विकास पर तीसरे साल) ज़ोर दिया जाता है। इसका लाभ यह है कि प्रत्येक साल इतिहास की मुख्य बातें दुहरा जाती हैं जिससे इतिहास की बातें ठीक तरह से हृदयंगम हो जाती हैं, और एक बार में एक विषय पर ज़ोर देने से उस विषय का पूर्ण अध्ययन हो जाता है। किंतु उसमें दोष ये हैं कि एक साल तक इतिहास के एक ही अंग पर विचार करते करते विद्यार्थी घबड़ा जाते हैं और उनको यह विषय अरुचिकर हो जाता है। वह अरुचि संस्थाओं और राजनैतिक विचारों के विकास ऐसे नीरस विषयों के अध्ययन के समय और भी बढ़ जाती है। इसके सिवा इतिहास ऐसे एक-रूप और क्रमबद्ध विषय को "राजनैतिक", "धार्मिक", "सामाजिक" आदि भागों में विभाजित कर देने से विद्यार्थियों में इतिहास के विषय में अत्यन्त भ्रमपूर्ण धारणा हो जाती है। "क्रमागत" रीति से पढ़ाने में इतिहास की एकता और क्रमबद्धता सुरक्षित रहती है और एक ही बात को बार बार पढ़ने से जो मानसिक थकावट होती है उससे विद्यार्थियों की बचत हो जाती है। किंतु इस रीति में दोष यह है कि देश का इतिहास समाप्त करने में अधिक समय लग जाता है। आरम्भिक इतिहास रोचक नहीं होता और विद्यार्थी अपने युग के अर्वाचीन इतिहास को जानने के लिए उत्सुक रहते हैं। जिस प्रणाली में समकालीन इतिहास का अध्ययन अति विलम्ब से कराया जाय उसमें विद्यार्थियों की रुचि का न होना अस्वाभाविक नहीं है। इसलिए "ज्ञात से अज्ञात" सिद्धांत के अनुयायियों ने एक तीसरी रीति का प्रचार करना चाहा जिसमें बालक के समकालीन—उसके 'ज्ञात' समय के—इतिहास से आरम्भ करके 'अज्ञात' इतिहास की ओर ले जाने की योजना है। किंतु यह मानना ही कि विद्यार्थी अपने समकालीन इतिहास से परिचित है, एक प्रकार का हेत्वाभास (fallacy) है। आधुनिक पेचीदा और मिश्रित सभ्यता और इतिहास का समझना प्राचीन आरम्भिक युगों के सरल समाज की रीति-रस्म समझने की अपेक्षा कहीं अधिक कठिन है। इसलिए इस योजना को माननेवालों की संख्या नगण्य है।

इस देश के हाई स्कूलों में एक प्रकार की "केन्द्रिक" रीति का ही प्रचार है। विद्यार्थी सातवी और आठवीं कक्षाओं में भारतवर्ष का इतिहास पढ़ते है और फिर उसी को अधिक विवरण के साथ नवीं और दसवीं में भी पढ़ते हैं। इण्टर-मीजिएट कक्षाओं में भी अधिकाश का अधिक विवरणात्मक अध्ययन होता है। किंतु केन्द्रिक रीति का जो मुख्य सिद्धात है—अर्थात् प्रत्येक आवृत्ति में इतिहास के किसी विशेष अंग पर ज़ोर दिया जाय—उस पर ध्यान नही दिया जाता। इस विषय में यह भी कहा जा सकता है कि यहाँ किसी विशेष रीति का अनुसरण नही किया जाता। प्रत्येक सोपान में विद्यार्थियों की केवल योग्यता का ध्यान रखते हुए अधिक विवरणात्मक इतिहास पढ़ाने पर ज़ोर दिया जाता है।

वास्तव में क्रमागत रीति से पढ़ाना अधिक लाभदायक है। किंतु प्रत्येक युग की समाप्ति के पहले उस युग की समाजिक, सभ्यता-सम्बन्धी, राजनैतिक, आदि बातों पर विचार कर लिया जाय और उनकी तुलना पिछले युगों की इन बातों से कर ली जाया करे। इस प्रकार "क्रमागत" और "केन्द्रिक" दोनों रीतियों का उपयोगी सम्मिश्रण हो सकता है।

इतिहास की शिक्षा-विधि—इस समय प्रायः पाँच विधियाँ हैं जो प्रचलित हैं :—

१—साराश-विधि
२—पुस्तक-पठन-विधि
३—'सबक़' या "पाठ"-विधि
४—"ऐसाइनमैण्ट" या "डाल्टनप्लैन"-प्रणाली
५—प्राजैक्ट-विधि

(१) सारांश-विधि—इसमें अध्यापक विद्यार्थियों को ऐसे साराश लिखा देता है जिनमें इतिहास की नीरस बातें (जैसे तिथियाँ, नाम आदि) भरी होती हैं। ये साराश विद्यार्थियों को रटवा दिये जाते हैं। इसका लाभ यह है कि बालकों को इतिहास के तथ्य याद हो जाते हैं किंतु उनका महत्त्व, कारण आदि कुछ नहीं मालूम होता। इतिहास की ओर से विद्यार्थियो में अरुचि उत्पन्न हो जाती है और इतिहास की शिक्षा से उन्हें कोई लाभ नहीं होता। अयोग्य और काहिल अध्यापकों की यह परमप्रिय विधि है।

(२) पुस्तक-पठन-विधि—कक्षा में विद्यार्थी पारी पारी से इतिहास की पाठ्य पुस्तक—भाषा की पुस्तक के समान—पढ़ते हैं। बीच बीच में या अंत

में अध्यापक पाठ के ऊपर प्रश्न करता है। अंत में विद्यार्थियों से पढ़े हुए पाठ को याद करने को कह दिया जाता है। यह विधि भी दोषपूर्ण है। अध्यापक या विद्यार्थी मानसिक श्रम और प्रयत्न नहीं करते। पुस्तक की भाषा विद्यार्थियों के मस्तिष्क में इतनी जम जाती है कि वे अपनी स्वतन्त्र भाषा में अपने भावों को प्रकट नहीं कर पाते। शिक्षा का अच्छाई-बुराई प्रायः पुस्तक की अच्छाई-बुराई के ऊपर निर्भर हो जाती है और इतिहास की शिक्षा के मानसिक और शिक्षा-सम्बन्धी जो उद्देश्य हैं उनकी पूर्ति नहीं होती।

(३) "सबक़" या "पाठ"-विधि—इसमें अध्यापक एक दिन पहले विद्यार्थियों को अगले दिन का पाठ तैयार करने को कह देता है जिसे वे घर पर एक या अनेक पुस्तकों (बहुधा केवल अपनी पाठ्य पुस्तक) की सहायता से तैयार कर लाते हैं। दूसरे दिन अध्यापक उस पाठ पर प्रश्न करता है। इससे लाभ यह है कि विद्यार्थियों को स्वयं पढ़ने और नये पाठ को तैयार करने का अभ्यास पड़ जाता है। किन्तु इसमें भी अध्यापक को कुछ नहीं करना पड़ता और न वह विद्यार्थियों पर अपनी शिक्षा से किसी प्रकार का प्रभाव ही डाल सकता है। विद्यार्थियों की अधिकाश कठिनाइयाँ कभी दूर नहीं होतीं और उन्हें इतिहास के अध्ययन में अध्यापक की पथ-प्रदर्शकता का लाभ नहीं होता।

(४) "ऐसाइनमैएट" या "डाल्टनप्लैन"-विधि—इसमें अध्यापक विद्यार्थियों को लिखकर बतला देता है कि उन्हें पाठ के लिए क्या क्या तैयारी करनी होगी, किन प्रश्नों या समस्याओं पर विचार करना होगा, कौन से नक़शे या चित्र बनाने होंगे, इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए किन किन पुस्तकों के कौन से अंश पढ़ने पड़ेंगे ? इन आदेशों के अनुसार विद्यार्थी इतिहास के कमरे में जहाँ ये सब पुस्तकें रखी रहती हैं—या घर पर—अध्यापक के आदेशों के अनुसार काम करता है और आवश्यकतानुसार अध्यापक से, जो वहीं रहता है, अपनी कठिनाइयों को दूर करता है। यह विधि बहुत अच्छी है। इससे विद्यार्थियों में आत्मनिर्भरता आती है और इतिहास की शिक्षा से जो लाभ होने चाहिए वे सब अधिकांश रूप से हो जाते हैं। किन्तु इसमें लिखित उत्तरों पर अधिक ज़ोर दिया जाता है और इसकी सफलता अध्यापक के व्यक्तित्व, योग्यता, उत्साह और परिश्रम तथा स्कूल के साधनों पर निर्भर रहती है।

(५) प्राजैक्ट-विधि—इसमें विद्यार्थियों को कोई ऐसी ऐतिहासिक समस्या दे दी जाती है जिसको पूरी करने में उन्हें कई विषयों से सहायता लेनी पड़े और इससे इतिहास के कई अंगों पर प्रकाश पड़े। उदाहरण के लिए मध्य-

कालीन युद्ध-कला, इसमें तत्कालीन अस्त्र-शस्त्रों, वस्त्रों, क़िलों आदि के आदर्श बनाये जायँगे। इन आदर्शों को ठीक ठीक बनाने के लिए ऐतिहासिक पुस्तकों का अध्ययन किया जायगा। युद्ध-भूमियों के आदर्श के लिए तत्कालीन सामरिक प्रणाली का अध्ययन होगा। हाथियों, घोड़ों, रथो आदि सामरिक सवारियों की जाँच होगी। इनके बनाने में हस्तकौशल की सहायता ली जायगी। इनका वर्णन लिखने में भाषा और साहित्य का अध्ययन होगा। यह विधि तब तक सफल नहीं हो सकती जब तक हमारी पाठशालाओं का सारा दृष्टिकोण ही न बदल जाय और जब तक इस विधि को भली भाँति जाननेवाले अध्यापक न हों।

साधारणतः अध्यापक को इन विधियों के गुण-दोषों पर विचार करके अपने लिए—अपनी परिस्थिति के अनुसार—अपनी विधि स्वयं निकाल लेनी चाहिए। सबसे पहले उसे चाहिए कि वह पाठ में बालकों की रुचि उत्पन्न करने का उपाय करे। यह पाठ के अनुसार किसी कहानी के द्वारा, अथवा चित्र, मुद्रा आदि दिखलाकर किया जा सकता है। इससे बालक आनेवाले पाठ की ओर आकर्षित हो जायँगे और उनको पाठ समझने और याद करने में सरलता होगी। इसलिए अध्यापक को प्रत्येक पाठ स्वयं आरम्भ करना चाहिए। अवश्य विद्यार्थियों को पाठ की कुछ तैयारी करने के लिए पहले से कह देने में कुछ हानि नहीं है—प्रत्युत कभी कभी यह लाभदायक सिद्ध होता है। किन्तु पाठ का उत्तरदायित्व अध्यापक के ऊपर ही होना चाहिए। उसे बालकों के सामने कभी कहानी के रूप में, कभी प्रश्नों द्वारा, पाठ की मुख्य मुख्य बातों को रखना चाहिए। पाठ के इस 'पाठन' में आवश्यकतानुसार श्यामपट, नक़्शों, चित्रों, चार्टों, मुद्राओं, पुस्तकों के उद्धरणों आदि का उपयोग करे। किन्तु इस बात का ध्यान रहे कि अध्यापक के 'पाठन' के कारण विद्यार्थी क्रियाहीन (passive) श्रोता न हो जायँ। प्रश्नों द्वारा उनके अवधान और विचार-शक्ति को जाग्रत रखे। चित्रों आदि के निरीक्षण में लगाकर भी इस उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है। यथावसर टाइमचार्ट, नक़्शों आदि को भरवाता जाय। विद्यार्थियों से पाठ की घटनाओं का वर्णन करने को कहा जाय, अन्त में प्रश्नों-द्वारा पाठ को दुहरा दे। और विद्यार्थियों की सहायता ही से पाठ का साराश श्यामपट पर लिख दे।

किन्तु किसी भी विषय में अध्यापक के उत्साह का प्रभाव पाठ के ऊपर इतना नहीं पड़ता जितना इतिहास में पड़ता है। अतएव पाठ को सफल बनाने

के लिए अध्यापक में अपने विषय के लिए उत्साह और प्रेम होना चाहिए। अध्यापक का कितना भी परिश्रम या चित्र आदि साधनों का उपयोग इस उत्साह और प्रेम की कमी की पूर्ति नहीं कर सकता।

इतिहास के पाठ को स्पष्ट करने के दो आवश्यक साधन—स्थान और समय का ज्ञान। पाठशाला का कोई विषय ऐसा नहीं है जिसका अभिनय सदैव पृथ्वी के ऊपर नहीं हुआ है और जिसका सम्बन्ध भूगोल से इतना घनिष्ठ न हो जितना इतिहास से है। इतिहास के नाटक का रंगमंच यह पृथ्वी है और भौगोलिक परिस्थिति का प्रभाव इतिहास की घटनाओं के प्रवाह पर बहुत अधिक पड़ा है। यदि भारत में चीन या तिब्बत से कोई साघातिक आक्रमण नहीं हुआ तो उसका श्रेय चीन या तिब्बतवालों को नहीं किन्तु हिमालय-पर्वतमाला को है। इसी प्रकार पानीपत की भौगोलिक स्थिति ही उसके युद्धक्षेत्र होने का कारण है, इसलिए इतिहास पढ़ाते समय भौगोलिक संबंध पर सदैव ध्यान रखा जाय और इसके पाठ में नक़शे—विशेषकर प्राकृतिक नक़शे—को वही महत्त्व है जो गणित में अंकों को है। ऐतिहासिक नक़शों में केवल राजनैतिक सीमायें दिखलाना ही पर्याप्त नहीं है। उनमें नदियों, पहाड़ों, घाटियों, मैदानों, राजमार्गों, नगरों और दुर्गों की स्थिति भी दिखलाई गई हो। इन बातों को दिखलाये बिना नक़शे से इतिहास के पाठ में पूरा लाभ न होगा।

विद्यार्थियों से भिन्न भिन्न प्रकार के नक़शे बनवाये जायँ। उनमें सीमाओं के ऊपर विशेष ध्यान दिया जाय। अच्छे नक़शे वे होते हैं जो गिचपिच न हों और जिनमें वह बात स्पष्ट हो जिसे दिखलाने का प्रयत्न किया गया है। कक्षा के उपयोग के लिए दीवाल पर टाँगने योग्य बड़े नक़शे होने चाहिए।

इतिहास की दूसरी विशेषता यह है कि स्थान के सिवाय उसका समय के साथ भी घनिष्ठ संबंध है। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि समय के बिना इतिहास की सत्ता ही नहीं हो सकती। अतएव इतिहास को समझने के लिए समय का— विशेषकर भिन्न भिन्न घटनाओं के परस्पर समय-सम्बन्ध का और भिन्न भिन्न युगों की लम्बाई का ज्ञान परमावश्यक है। समय का अन्दाज़ या उसका ज्ञान इतना कठिन है कि वह मनुष्य में सबसे अन्त में उत्पन्न होता है। समय ऐसी अमूर्त्त (abstract) सूक्ष्म वस्तु को समझाने के लिए मूर्त्त (concrete) साधन की बड़ी आवश्यकता है। इतिहास के अध्यापकों ने इसके लिए समय की रेखा तथा समय-चक्र (टाइमचार्टों) का आविष्कार किया है।

समय की रेखा में केवल एक लकीर होती है जिसे किसी पैमाने पर बनाते

हैं और उसमें उसी पैमाने के अनुसार महत्त्वपूर्ण तिथियाँ अंकित कर देते हैं। टाइमचार्ट में भिन्न भिन्न युग और घटनायें, राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक आन्दोलन और उनका परस्पर सामयिक सम्बन्ध स्पष्ट किया जा सकता है। उदाहरण के लिए पंक्ति के एक ओर भिन्न भिन्न रंगों से ऐतिहासिक युग दिखलाये जायँ। उसी ओर उत्तर-भारत की महत्त्वपूर्ण घटनायें अंकित की जायँ। दूसरी ओर दक्षिण-भारत की अथवा भारत के इतिहास पर प्रभाव डालनेवाली विदेश की घटनायें (जैसे सिकन्दर का जन्म, ईस्ट इंडिया कम्पनी का स्थापित होना, इत्यादि)। अथवा पंक्ति के एक ओर सारे देश की राजनैतिक घटनायें और दूसरी ओर सभ्यता-सम्बन्धी मुख्य मुख्य बातें। इन घटनाओं को दूर से स्पष्ट करने के लिए चित्रों की भी सहायता ली जा सकती है। इसी प्रकार टाइमचार्ट के द्वारा यात्रा के साधनों, पोशाक, अस्त्र-शस्त्र, गृह-निर्माण-कला, आदि का विकास भी दिखलाया जा सकता है।

टाइमचार्ट कक्षा के सामूहिक प्रयत्न से इतिहास पढ़ाने के कमरे की दीवाल पर और व्यक्तिगत रूप से अलग काग़ज़ पर बनाया जा सकता है। स्थान और काग़ज़ की लम्बाई के अनुसार पंक्ति को विभाजित कर ले। यदि १०० वर्ष के लिए एक इंच भी जगह दी जाय तो ईसा के पहले की बीस और बाद की प्रायः बीस शताब्दियों के लिए प्रायः चालीस इंच लंबी रेखा की आवश्यकता होगी। दूर से देखने के लिए यह रेखा बहुत छोटी होगी। अतएव दीवाल पर बनाने के लिए दीवाल की लंबाई के अनुसार प्रत्येक शताब्दी के लिए अधिक स्थान दिया जाय। उसे कमरे की चारों दीवालों पर लगातार बनाया जा सकता है। समय की रेखा या समय-चक्र बनाते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि उसमें केवल बहुत महत्त्वपूर्ण घटनायें ही दिखलाई जायँ, तिथियाँ प्रायः वे ही हों जो युगान्तर करनेवाली हों। स्पष्टता के लिए यह आवश्यक है कि वह गिच-पिच न होने पावे। नहीं तो उसका जो दृश्य-मूल्य है वह कम हो जायगा। यह भी ध्यान रहे कि एक रेखा या चक्र का पैमाना एक ही हो। उनसे घटनाओं में समय-सम्बन्ध और ऐतिहासिक बातों के विकास के सिवा किसी और वस्तु के दिखलाने का प्रयत्न न करना चाहिए।

चित्र और दूसरे साधन—पाठ को केवल रोचक बनाने ही के लिए नहीं किन्तु ऐतिहासिक तथ्यों का स्पष्टीकरण करने के लिए अध्यापक को चित्र, मुद्रा, असली अस्त्र-शस्त्र, पोशाक आदि या उनके आदर्शों का दिखलाना आवश्यक है। इन वस्तुओं से लाभ तभी हो सकता है जब वे वास्तव में उस युग की

ही हों जिस युग की वे बतलाई जाती हैं। चित्र स्थानों, इमारतों, वस्तुओं और व्यक्तियों के हो सकते हैं और उनसे तत्कालीन जीवन के चित्र भी तैयार किये जा सकते हैं। इस दृष्टि से बहुधा बाज़ारू चित्र बेकार हैं। उदाहरण के लिए राजा रविवर्मा का 'शिशुपालवध' नामक चित्र ले लीजिए। उसमें बाज़ बाज़ नायकों को उत्तर मुसलिम-काल की पोशाक पहना दी गई है। भवन का स्थापत्य प्राचीन-हिन्दू-शैली का नहीं है। इन दो दोषों के कारण उस चित्र का—अच्छे होते हुए भी—ऐतिहासिक मूल्य नहीं है। इस दृष्टि से इंडियन प्रेस, प्रयाग-द्वारा प्रकाशित शुक-शूद्रक-संवाद, शूद्रक की सभा में चाण्डाल-कन्या और शाहजहाँ की मृत्यु नाम के तीन चित्रों का उदाहरण दिया जा सकता है। इन तीनों ही चित्रों में ऐतिहासिक सामञ्जस्य है। इनमें तत्कालीन वस्त्रों, शिष्टाचार-सम्बन्धी नियमों, भवन-निर्माण-शैली आदि का पूरा ध्यान रखा गया है। इनके देखने से कादम्बरी के लेखक के समय—श्रीहर्ष के राजत्वकाल के लगभग—का राजाओं का जीवन और राजसभाओं का चित्र आँखों के आगे स्पष्टरूप से घूमने लगता है। इसी प्रकार शाहजहाँ की मृत्यु नाम के चित्र में कुशल चित्रकार ने तत्कालीन भवन आदि की सहायता से शाहजहाँ की मृत्यु के समय का स्पष्ट वातावरण उत्पन्न कर दिया है। अजन्ता की गुफाओं के चित्रों का ऐतिहासिक मूल्य बहुत अधिक है। उनकी विशेषता यह है कि वे रंगीन हैं और प्रायः दो हज़ार वर्ष पहले के जीवन को अंकित करते हैं। उदाहरण के लिए राजा बिम्बसार का चित्र लीजिए। उसमें राजा का गृह-जीवन दिखलाया गया है। जिस मंच पर राजा बैठा है वह आधुनिक कुर्सी से कितनी मिलती है! कुर्सी के नीचे उगालदान रखा है। उगालदान कितनी पुरानी वस्तु है। बालक सेवक चँवर डुला रहा है। क्यों? उन दिनों भी मक्खियों की कमी न थी। राजा और रानी तथा सेवकों के परिधान पर तो विचार कीजिए। आजकल के परिधान से उनका कितना अंतर है, किन्तु यदि उसी की तुलना मदरास के हिन्दू-परिधान से की जाय तो कितना कम अंतर रह जाता है। इस देश में भिन्न भिन्न युग के विशाल स्तूप, विहार, मंदिर और दुर्ग बने हैं। उनमें पत्थरों में कटी हुई अनेक मूर्तियाँ हैं जो तत्कालीन जीवन को चित्रित करती हैं। यदि अध्यापक चाहें तो अतीत-काल के सामाजिक और राष्ट्रीय जीवन को उन चित्रों के द्वारा बालकों के सामने सजीव रूप से रख सकते हैं। उदाहरण के लिए साँची स्तूप के तोरण और शिलाओं पर जो चित्र बने हैं उनसे अशोक के समय की कितनी ही बातें स्पष्ट की जा सकती हैं। सिपाही कैसे होते थे? उत्तरी तोरण पर अंकित प्रहरी

का चित्र देखिए। वाहनों का नमूना जानने के लिए रथों के चित्र पर विचार कीजिए, घोड़ों के साज पर ध्यान दीजिए। यदि इन वस्तुओं की तुलना आज-कल की वस्तुओं से की जाय तो उन पर समय का प्रभाव मालूम पड़ने लगेगा और फिर भी इस बात पर आश्चर्य होगा कि इतनी शताब्दियों का अंतर होने पर भी तब की और आज की वस्तुओं में कोई विशेष या मौलिक अंतर नहीं है। किन्तु साँची, इलोरा, अजन्ता, खजुराहो, ग्वालियर के मंदिरों आदि की भवन-निर्माण-कला की आगरे, दिल्ली और लखनऊ की इमारतों की निर्माण-शैली से तुलना करने पर एकदम एक नई वस्तु का परिचय होता है। उसमें एक नई सभ्यता के प्रभाव का प्रतिबिम्ब स्पष्ट दीखने लगता है। और फिर इनसे नई दिल्ली की इमारतों, कलकत्ते और बम्बई के भवनों तथा कौंसिल चेम्बर का मिलान करने पर निर्माण-कला की एक नवीन तह का सामना हो जाता है। भवन-निर्माण-कला के इन भेदों के भीतर भिन्न भिन्न सभ्यता और भिन्न भिन्न जातियों के विचारों की धारा अन्तर्हित है। इतिहास का विद्यार्थी इन प्रत्यक्ष भेदों का सम्बन्ध तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक एवं सभ्यता के आदर्श के भेदों से स्थापित कर सकता है। इस प्रकार चित्रों का उपयोग इतिहास-शिक्षा के प्रायः प्रत्येक पद पर लाभदायक सिद्ध होगा।

ऐतिहासिक चित्रों का संग्रह करना बहुत सरल नहीं है, क्योंकि इस देश में वे पाठशालाओं के उपयोग की दृष्टि से तैयार नहीं किये जाते। पोस्टकार्ड-चित्रों के रूप में इमारतों आदि के चित्र मिल सकते हैं। अजायबघरों में संगृहीत ऐतिहासिक वस्तुओं के चित्र प्रायः वहाँ मिल जाते हैं। बम्बई से प्रकाशित होनेवाले साप्ताहिक सचित्र 'टाइम्स' में ऐतिहासिक मूल्य के चित्र प्रायः निकला करते हैं। वहीं से निकलनेवाले 'पिक्टोरियल ऐज्यूकेशन' नामक परमोपयोगी किन्तु महँगी चित्रमाला में बहुधा बहुत सुन्दर चित्र निकल जाते हैं। बम्बई की "सुवर्ण-माला" में बहुत-से उपयोगी चित्र—विशेषकर दक्षिण और महाराष्ट्र इतिहास-सम्बन्धी—निकले थे। पूना के चित्रशाला प्रेस ने दीवाल पर टाँगने योग्य कुछ ऐतिहासिक व्यक्तियों के रंगीन चित्र निकाले हैं। इनके सिवा हिन्दी की मासिक पत्रिकाओं जैसे 'सरस्वती', 'विशाल भारत', 'माधुरी', 'सुधा', 'विश्वमित्र' आदि में भी बहुधा ऐसे चित्र निकला करते हैं। इनका संग्रह धीरे धीरे करते रहने से बड़ा उपयोगी और लाभकारक सिद्ध होगा।

किन्तु अध्यापक को मुख्य कर ऐतिहासिक पुस्तकों के चित्रों पर निर्भर

रहना होगा। अँगरेज़ी में ऐसी पुस्तकों की कमी नहीं है। हिन्दी में अब जो पाठ्य-पुस्तकें निकल रही हैं उनमें कई एक में चित्रों का अच्छा संग्रह है।

अध्यापक को चाहिए कि विद्यार्थियों को अपनी कापियों में ऐतिहासिक चित्र बनाने को उत्साहित करे। "अशोक के समय का प्रहरी" या "अशोक के समय का रथ", "कीर्तिवर्मा के समय का घुड़सवार", "मुग़ल-काल का साज-समेत हाथी", "राजपूतगढ़ी" इत्यादि ऐसे असंख्य राजनैतिक या सामाजिक विषय हैं जिनके चित्र वे अपनी कापियों में बना सकते हैं। जो विद्यार्थी चित्र-कला में अधिक निपुण हों उनसे कक्षा के उपयोग के लिए बड़े बड़े चित्र बनवाये जा सकते हैं।

मुद्रा—किसी राजा के शासन करने का सर्वोपरि प्रमाण उसकी मुद्रा है। वह एक ऐसा स्थूल पदार्थ है जो विद्यार्थियों के चित्त को तत्काल आकर्षित कर लेता है। उससे तत्कालीन बहुत-सी बातें मालूम हो सकती हैं। उसमें किस धातु का उपयोग किया गया है? वह धातु कितनी शुद्ध है? उसका वज़न क्या है? ये प्रश्न तत्कालीन आर्थिक अवस्था पर प्रकाश डालेंगे। वे कहाँ कहाँ मिलते हैं? इससे या तो यह पता लगेगा कि उसके ढालनेवाले राजा का राज्य कहाँ तक था या व्यापार के सिलसिले में ये सिक्के कहाँ तक पहुँचे—अथवा उन दिनों व्यापार का वृत्त कितना बड़ा था। मुद्रा पर अंकित लिपि से तत्कालीन भाषा और लिपि की बातें मालूम होंगी। उस पर बने हुए चित्र से तत्कालीन परिधान आदि का पता चलेगा। मुद्रा पर दिये हुए इन चित्रों को बड़ा करने से बहुत-से राजों के अप्राप्त चित्र तैयार किये जा सकते हैं। उदाहरण के लिए समुद्रगुप्त की मुद्रा पर अंकित चित्र से यह चित्र तैयार किया गया है। इसमें गुप्त राज्य की ध्वजा—गरुड़-ध्वज का चित्र है। सम्राट् का चित्र है। परिधान और अस्त्र-शस्त्र-सम्बन्धी कितनी ही बहुमूल्य बातों का पता लगता है। इस प्रकार मुद्राओं के द्वारा इतिहास की बहुत-सी रोचक और लाभदायक बातें बतलाई जा सकती हैं।

पुस्तकों में बहुधा मुद्राओं के चित्र दिये रहते हैं। किन्तु लखनऊ के प्रान्तीय म्यूज़ियम से प्राचीन मुद्राओं के ढले हुए नमूने भी मिल सकते हैं। ये नमूने राँगे आदि के होते हैं और इन पर मुलम्मा किया होता है जिससे ये असली के समान मालूम होते हैं।

ऐतिहासिक संग्रहालय—इतिहास के प्रत्येक उत्साही अध्यापक को चाहिए कि वह अपने यहाँ इतिहास का एक संग्रहालय स्थापित करे। उसमें

ऐतिहासिक चित्रों, आसपास में मिलनेवाली प्राचीन ताँबे आदि की मुद्राओं, प्राचीन मुद्राओं के नमूनों, ऐतिहासिक नक़्शों, ताम्रपत्रों, शिलालेखों, फ़र्मान आदि की प्रतिलिपियों, प्राचीन हस्तलिपियों, गाँवों में पड़ी हुई प्राचीन टूटी-फूटी या साबित मूर्तियों, खंभों आदि का संग्रह किया जाय। यह संग्रह चाहे छोटा ही हो किन्तु विद्यार्थियों की दृष्टि में बड़ा महत्त्वपूर्ण होगा और उन्हें ऐतिहासिक पदार्थों के संग्रह और सुरक्षित करने का मूल्य मालूम होगा। जनता में ऐतिहासिक वस्तुओं के प्रति उदासीनता होने के कारण इस देश की कितनी ही ऐतिहासिक वस्तुएँ प्रत्येक वर्ष नष्ट होती जा रही हैं। यदि पढ़े लिखे लोगों में उनके प्रति कुछ रुचि उत्पन्न कर सके तो पाठशाला बहुत कुछ सफल समझी जायगी।

ऐतिहासिक साहित्य—पाठशाला में संग्रहालय के साथ ही एक पुस्तकालय भी होना चाहिए। इसमें ऐतिहासिक पुस्तकों का संग्रह हो। पुस्तकें ऐसी हों जिन्हें विद्यार्थी रुचिपूर्वक पढ़ सकें। उनका उद्देश्य यह होना चाहिए कि उनसे विद्यार्थियों को प्राचीन काल के जीवन का और ऐतिहासिक घटनाओं का चित्ताकर्षक तथा विवरणात्मक वर्णन मिल सके। इससे उनकी कल्पना और ज्ञान दोनों ही को लाभ होगा। इसके लिए यात्रा-सम्बन्धी पुस्तकों और ऐतिहासिक उपन्यासों का एक छोटा-सा संग्रह कर लिया जाय। हिन्दी या उर्दू में ऐसी प्रायः पचास साठ पुस्तकें एकत्रित की जा सकती हैं, किन्तु ध्यान रहे कि पुस्तक चुनते समय बालकोपयोगी और अध्यापक के उपयोग की पुस्तकों को अलग रक्खा जाय।

वर्तमान ऐतिहासिक साहित्य—जो घटनायें आज घट रही हैं, और जिनका समाचार हम पत्रों में पढ़ते हैं, कल ऐतिहासिक बातें हो जायँगी। अतएव साधारण समाचार भी ऐतिहासिक महत्त्व रखते हैं। बालकों को यदि इस बात का ठीक ठीक ज्ञान हो जाय तो उनके लिए इतिहास एक जीता-जागता विषय हो जायगा। अध्यापक को चाहिए कि महत्त्वपूर्ण समाचारों को समाचार-पत्रों में से काट कर इतिहास के कमरे में एक नोटिस बोर्ड पर चिपका दिया करें। उनमें जो अधिक महत्त्वपूर्ण हों उनकी ओर विद्यार्थियों का विशेष ध्यान आकर्षित करके उनका महत्त्व समझा देना लाभदायक है।

इस वर्तमान इतिहास के साधन का उपयोग 'सिविक्स' अथवा नागरिक शास्त्र के अध्ययन में विशेष उपयोगी होता है। शासन-विभाग-सम्बन्धी समाचारों, म्युनिसिपैलिटी, डिस्ट्रिक्टबोर्ड, कौंसिल आदि के चुनाव की बातों और कृषि,

शिक्षा, स्वास्थ्य, सहयोगी-समिति, आदि सरकारी विभागों के समाचारों से 'नागरिक' शास्त्र की सजीव शिक्षा दी जा सकती है।

ऐतिहासिक साहित्य का उपयोग और मौलिक विधि—जब तक अध्यापक ठीक तरह से विद्यार्थियों को आदेश न देंगे तब तक वे ऐतिहासिक साहित्य का उचित और लाभदायक उपयोग न कर सकेंगे। इसके लिए अध्यापक को चाहिए कि विद्यार्थियों से कह दें कि इस पुस्तक में अमुक विषय के सम्बन्ध में जो बातें हों उनका संग्रह करो, अथवा इसमें अमुक घटना का जो वर्णन दिया हो उसका संक्षेप तैयार करो। उदाहरण के लिए बर्नियर की भारत-यात्रा पढ़नेवाले से कहा जा सकता है कि वह शाहजहाँ के दरबार, दारा की मृत्यु, आगरे में ग्रहण के मेले आदि का वर्णन लिखे। इस प्रकार अभ्यास कराने के बाद कई एक पुस्तकों के आधार पर, और उनको प्रमाण-स्वरूप मानकर, ऐतिहासिक घटनाओं का स्वतन्त्र अध्ययन किया जा सकता है। इन प्रामाणिक पुस्तकों को मूल आधार मानकर इतिहास लिखना—या किसी ऐतिहासिक विषय का अध्ययन करना—"मौलिक विधि" कहलाता है। मिडिल स्कूलों में इसका अधिक उपयोग नहीं किया जा सकता। क्योंकि इन स्कूलों के विद्यार्थियों की बुद्धि और विवेक-शक्ति इतनी परिपक्व नहीं होती कि वे भिन्न भिन्न लेखकों के मतों की परीक्षा कर सकें। हाँ, उनसे ऐतिहासिक साहित्य को पढ़वाकर विशेष घटनाओं का अध्ययन या वर्णन कराना अवश्य उपयोगी है।

अभिनय और कविता-पाठ—इस ऐतिहासिक साहित्य के आधार पर विद्यार्थी ऐतिहासिक घटनाओं का अभिनय भी कर सकते हैं। ऐतिहासिक अभिनय को अनावश्यक न समझना चाहिए। उससे विद्यार्थियों की कल्पना और कार्यकारिणी शक्ति दोनों ही को लाभ होता है। नाटक में तत्कालीन वातावरण लाने के लिए विद्यार्थियों को उपयुक्त पोशाकों, हथियारों, रीतिरिवाजों आदि का अध्ययन करना पड़ता है। यह अध्ययन बहुत लाभदायक है। साल में कम से कम एक बड़ा और कई छोटे छोटे अभिनय किये जाने चाहिए। अभिनय कई प्रकार के होते हैं। जैसे, टैब्लो (मूकप्रदर्शन,) पैजेण्ट, वार्तालापिक छोटे अभिनय और साधारण नाटक। इतिहास की कक्षा में इन सभी का उपयोग किया जा सकता है।

अभिनय के समान ही आवश्यक ऐतिहासिक कविताओं का पढ़ना है। इस देश में असंख्य कवितायें कवियों, भाटों और चारणों को याद हैं जिनमें ऐतिहासिक घटनाओं का वर्णन है। विरुदावलियों और कड़खों का पुनरुद्धार

करना देश के इतिहास के लिए आवश्यक है। विद्यार्थियों को हर साल कुछ न कुछ ऐतिहासिक कवितायें अवश्य याद करा देनी चाहिए। उनके पढ़ने का ढंग भी सिखलाना आवश्यक है।

स्थानीय इतिहास की ओर अध्यापक पर्याप्त ध्यान नहीं देते। किन्तु जब तक इस ओर ध्यान न दिया जायगा तब तक बालकों में इतिहास के प्रति ठीक ठीक रुचि उत्पन्न न होगी। पाठशाला में जो पुस्तक पढ़ाई जाती है उसमें इस विशाल देश के संपूर्ण इतिहास की रूप-रेखा खींचने का प्रयत्न किया जाता है। वास्तव में वह उद्योग ऐसा ही है जैसे सागर को गागर में भरना। उस पुस्तक में विद्यार्थी के निवासस्थान का इतिहास दिया ही नहीं जा सकता, और जब तक स्थानीय इतिहास से देश के इतिहास का सम्बन्ध स्थापित न किया जाय तब तक बालकों को सजीवता स्पष्ट रूप से नहीं मालूम होती। उदाहरण के लिए, यदि पड़ोस में कोई ऐसी इमारत है जो अकबर ने बनवाई थी, या कोई ऐसा वंश है जिसके पुरषा अकबर के सेनापति थे तो बालकों को अकबर का अस्तित्व स्पष्ट हो जायगा। इसलिए ज़िले के इतिहास का अध्ययन आवश्यक है। समय समय पर उसका सम्बन्ध देश के इतिहास से बतलाते रहना चाहिए—यथा, जब अमुक स्थानीय राजा अमुक स्थान पर राज्य करते थे उस समय दिल्ली की गद्दी पर अमुक बादशाह था। कभी कभी इस बात का बड़ा खेद होता है कि बालकों को सुदूरवर्ती दक्षिण के राजाओं के नाम और काम तो मालूम हैं किंतु अपने निवासस्थान के बड़े गौरवशाली ऐतिहासिक पुरुषों से वे बिलकुल अनभिज्ञ हैं। बुन्देलखण्ड के कितने विद्यार्थियों को महाराज छत्रसाल की जीवनी का ज्ञान है? उनमें से कितनों को प्रान्त के अमर चन्देलों का हाल मालूम है? स्थानीय इतिहास का ज्ञान परमावश्यक है। गाँवों के अपभ्रष्ट नामों से, खेड़ों, गढ़ियों और खँडहरों की कहानियों से स्थानीय इतिहास की कितनी ही बातें स्पष्ट और शृङ्खलाबद्ध की जा सकती हैं। अभी इस देश में स्थानीय इतिहास के ऊपर पुस्तकें नहीं लिखी गईं। किन्तु ज़िले के गज़ेटियर से सहायता लेकर थोड़ा-बहुत स्थानीय इतिहास तैयार किया जा सकता है। उसको दर्जा ५ में पढ़ाना चाहिए, और भारत का इतिहास पढ़ाते समय जब जब प्रसंग आवे तब तब उसकी ओर ध्यान आकर्षित किया जाय।

ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा—इस देश में शिक्षा-सम्बन्धी यात्राओं को महत्त्व नहीं दिया जाता। किन्तु प्रकृति, विज्ञान, भूगोल और इतिहास की शिक्षा के लिए यात्रा के समान उपयोगी उपाय शायद ही और कोई हो। ऐतिहासिक

स्थानों को देखकर विद्यार्थियों को बहुत-सी बातें स्पष्ट हो जाती हैं। साल में कुछ न कुछ ऐतिहासिक स्थानों की यात्रा अवश्य की जानी चाहिए। साल भर की यात्रा के लिए पहले ही से प्रोग्राम बना लिया जाय। किन्तु यह याद रहे कि बिना समुचित तैयारी के यात्रा की जायगी तो उससे कुछ लाभ न होगा। यात्रा से पहले बालकों को उस स्थान का ऐतिहासिक महत्त्व समझा दिया जाय। उन्हें यह भी बतला दिया जाना चाहिए कि वे वहाँ क्या क्या वस्तुएँ देखेंगे। स्थान पर पहुँच कर अध्यापक पथ-प्रदर्शक का काम करे। स्थान का इतिहास बतला कर बालकों का ध्यान छोटी छोटी महत्त्वपूर्ण बातों की ओर आकर्षित करे। इमारत की बनावट, उसका उपयोग, तत्कालीन निर्माण-कला और अन्य आवश्यक बातों को बतलावे। जो मनोरंजक या महत्त्वपूर्ण घटनायें उस स्थान में घटी हों उनका वर्णन करे। उस स्थान से सम्बन्ध रखनेवाले ऐतिहासिक पुरुषों और स्त्रियों की कथायें कहे। प्रश्नों-द्वारा यह निश्चय कर ले कि विद्यार्थी उन बातों को समझते जा रहे हैं। फिर उनसे वहाँ की एक-दो महत्त्वपूर्ण वस्तुओं के चित्र बनवाये। बालकों से उन बातों के नोट करने को कहे जो उन्होंने वहाँ देखी हैं। लौट कर प्रत्येक बालक से अपनी यात्रा का विवरण लिखने को कहे और उनको कक्षा में पढ़कर उन पर विचार करे। इस प्रकार की यात्रा से इतिहास की शिक्षा में बड़ी सहायता मिलेगी।

ऐतिहासिक नक़शे—भूगोल और इतिहास का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि बिना नक़शों के बहुत-सी ऐतिहासिक बातें स्पष्ट नहीं की जा सकतीं। किन्तु नक़शा सदैव किसी स्पष्ट उद्देश्य से बनाना चाहिए। उसे अनावश्यक या गौण बातों से भर देना ठीक नहीं। स्थानों की ठीक ठीक स्थिति बतलाने के लिए प्रत्येक नक़शे में गङ्गा, सिन्धु, ब्रह्मपुत्र, विन्ध्य, सह्याद्रि आदि कुछ वस्तुएँ दिखलानी आवश्यक हैं। अन्य स्थानों की स्थिति इन वस्तुओं के सम्बन्ध से स्पष्ट की जानी चाहिए। नक़शे का शीर्षक स्पष्ट हो और प्रत्येक नक़शे में रङ्गों तथा अन्य चिह्नों का विवरण देना परमावश्यक है। यह सदैव याद रहे कि नक़शा केवल सहायक वस्तु है और उसका उपयोग केवल यही है कि वह ऐतिहासिक बातों को स्पष्ट कर दे। इसलिए उसके बनाने में आवश्यकता से अधिक समय नष्ट करना ठीक नहीं है।

उपरोक्त बातें इतिहास-शिक्षक के लिए सलाह की तरह हैं। इनको आँख मूँदकर मानने की आवश्यकता नहीं है। प्रत्येक विधि की उपयोगिता जाँचने

के लिए यह प्रश्न करना चाहिए कि उससे उद्देश्य की पूर्ति हो सकती है अथवा नही। और यदि हो सकती है, तो वह विधि शिक्षा-सिद्धान्तों और मनोविज्ञान के नियमों के विरुद्ध तो नही है? अथवा उस विधि का उपयोग स्कूल में हो सकता है या नही? यदि इन कसौटियो में कस कर उपरोक्त थोड़े से आदेशो को व्यवहार मे लाया जायगा तो शिक्षको के इतिहास का शिक्षण और विद्यार्थियो को इतिहास का अध्ययन रोचक और उपयोगी प्रतीत होगा।

नवम अध्याय

प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा का महत्त्व और उसके उद्देश्य

गाँव के स्कूलों में प्रकृति-निरीक्षण पर अभी तक उतना ध्यान नहीं दिया गया है जितना कि दिया जाना चाहिए। चूँकि वार्षिक परीक्षा के परिणाम पर ही अध्यापकों की तरक्की इत्यादि निर्भर है, इसलिए वे लोग नियत कोर्स के अनुसार बालकों की पढ़ाई-लिखाई पर ही विशेष ध्यान देते हैं, अन्य उपयोगी विषयों पर नहीं। इस पर भी पाठ्य विषयों के पढ़ाने में पुरानी अनुपयोगी परम्परागत प्रणाली का अनुसरण किया जाता है। अतः यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि बालक प्रायः पूर्ण प्रारम्भिक शिक्षा पाये बिना ही प्राइमरी पाठ-शालाओं का परित्याग कर देते हैं, और उन्हें शिक्षा से समुचित लाभ नहीं हो पाता। बालकों को अपनी स्वाभाविक प्रवृत्तियों को क्रियाशील बनाने का तथा अध्यापकों को उनका समुचित विकास कराने का बहुत कम अवसर उपलब्ध होता है। बालकों को इस बात की शिक्षा नहीं दी जाती कि वे स्वयं किसी वस्तु का निरीक्षण करें, स्वतन्त्र रूप से किसी विषय पर विचार करें, तथा अपने विचारों को सुचारु रूप से प्रकट करें। पाठ्य-विषय के अतिरिक्त, संसार की अन्य वस्तुओं के ज्ञान के लिए रुचि पैदा कराने का कोई प्रयत्न नहीं किया जाता। ऐसी स्थिति में प्राकृतिक शिक्षा अत्यन्त आवश्यक है। इसका अनिवार्य परिणाम यह होगा कि बालकों में उन गुणों के विकसित होने में सहायता मिलेगी जिनका उल्लेख ऊपर किया गया है। इसके द्वारा कक्षा की कोठरी के बाहर बालक साक्षात् प्रकृति के सम्पर्क में आवेगा। वह स्वतः निरीक्षण का पर्य्याप्त अवसर पावेगा और इस प्रकार अपने सम्पर्क में आनेवाली वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने में समर्थ होगा। इसका परिणाम प्रत्यक्ष ही है। बालक की ज्ञान-वृद्धि होगी। उसे स्वतः निरीक्षण-शक्ति के विकास की ओर अपने मनोभाव उचित रूप से प्रकट करने की शिक्षा प्राप्त होगी। बालक को

स्वतन्त्र रूप से सोचने विचारने की बान पड़ जायगी। बालक पाठशाला में प्राप्त की हुई किसी भी शिक्षा को चाहे भूल जाय, परन्तु स्वतन्त्र चेष्टा से जो बान एक बार पड़ जायगी वह सरलता से कभी नहीं विस्मृत की जा सकती है। यथार्थ शिक्षा का उद्देश्य ही बालक में वाञ्छनीय आदतों का सम्यक् विकास है। इसकी पूर्ति पूर्ण रूप से प्राकृतिक शिक्षा के द्वारा हो सकती है। इससे स्पष्ट है कि इस विषय का प्रवेश प्रारम्भिक शिक्षा के प्रत्येक भाग में होना चाहिए और प्राइमरी और मिडिल स्कूलों में इसे 'अनिवार्य विषय' का स्थान देना चाहिए।

प्राकृतिक शिक्षा का विषय-विवेचन—प्रस्तुत विषय की पाठन-प्रणाली की व्यवस्था लिखने के पहले कुछ आवश्यक बातें लिखना अनुचित न होगा। सबसे पहली बात यह है कि इस विषय को शिक्षा का विषय न मानकर उसे शिक्षा की प्रणाली समझना ही उचित है। जैसा कि कहा जा चुका है, इस शिक्षा का उद्देश्य ही बालक में निरीक्षण, तर्क-युक्त और समीचीन विचार तथा सुचारु रूप से भाव प्रकट करने की योग्यता उत्पन्न करना है, न कि बालक के मस्तिष्क में किसी विशेष प्रकार का ज्ञान भर देना। अतः प्रत्येक वस्तु के निरीक्षण और अध्ययन का लक्ष्य यही रहे कि बालक की गुप्त निरीक्षण-शक्ति, उत्कट जिज्ञासा तथा भाव-प्रकट करने की सामर्थ्य का विकास होता रहे। इसके अतिरक्त बालक को ज्ञान-प्राप्ति भी होगी जिसका कुछ अंश आर्थिक दृष्टि मे उपयोगी होगा। साथ ही प्रकृति के नियमों को समझने मे, जिसका जानना जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में बहुत उपयोगी है, सहायता मिलेगी।

दूसरी बात यह है कि प्राकृतिक शिक्षा देते समय विशेष रूप से 'प्रकृति' का ही निरीक्षण किया जाना चाहिए, उनके नमूनों या चित्रों का नहीं। गाँव का प्रत्येक अध्यापक 'वस्तु-पाठ' (Object lesson) से पूरी जानकारी रखता है। वस्तु-पाठ का लक्ष्य यह था कि थोड़े ही समय में किसी वस्तु की शिक्षा, जो किसी हद तक पूर्ण हो, दी जाय। इस प्रकार से दी हुई शिक्षा में यह त्रुटि होती थी कि न तो वह सरलता से पूर्ण रूप से समझ में आ सकती थी और न उसमें रुचि उत्पन्न करनेवाले किसी अङ्ग का समावेश ही होता था। पढ़ाये जानेवाले विषय का सम्बन्ध प्रायः अन्य वस्तुओं से नहीं होता था, वह अपने वातावरण से अलग करके अकेला ही सिखाया जाता था। शिक्षणार्थ प्रयुक्त 'वस्तुओं' का एकमात्र उद्देश्य यही था कि उस विषय से सम्बन्ध रखनेवाली बातों की जानकारी

बालक को कम से कम समय में हो जाय। बच्चे पाठशाला इसलिए भेजे जाते थे कि वे इस प्रकार के आवश्यक और उपयोगी विषयों का ज्ञान प्राप्त करें जिनसे भावी जीवन में उन्हें किसी न किसी प्रकार का लाभ हो। यहाँ अध्यापकों के पास ज्ञान-सामग्री प्रचुर-मात्रा में रहती थी, जिसे वे इस प्रकार सजाकर बालकों के सामने रखते थे कि उसे समझने में उन्हें कुछ कठिनाई न हो। इस प्रकार अध्यापक के मस्तिष्क से निकलकर विद्यार्थी के मस्तिष्क में विषय-प्रवेश की परम्परा जारी रहती थी। इस आदान-प्रदान में छात्र को न तो अपने मस्तिष्क से अधिकतर काम लेना पड़ता था, और न उसे स्वतः वस्तु-निरीक्षण का कोई अवसर ही प्राप्त होता था। जब तक बालक को कुछ न कुछ ज्ञान मिलता रहता था, तब तक शिक्षा के प्रयोजन की पूर्ति समझी जाती थी। इस प्रकार किसी भी शिक्षण-प्रणाली का अनुसरण क्यों न किया जाता, जब तक वह उक्त उद्देश्य की पूर्ति करती रहती तब तक ठीक ही मानी जाती। इसका कारण यह था, कि परिणाम को देखकर ही पाठन-प्रणाली पर मत स्थापित किया जाता था। इसके विपरीत वर्त्तमान समय में नवीन प्रकार की शिक्षा का लक्ष्य यह नहीं है कि बच्चे केवल ज्ञान-प्राप्ति के उद्देश्य से स्कूल आवें, वरन् उसका लक्ष्य यह है कि उनमें स्वतन्त्र रूप से ज्ञानार्जन करने की शक्ति आ जाय। नवीन और प्राचीन शिक्षा के लक्ष्य में यह एक विशेष अन्तर है जिसे प्रत्येक अध्यापक को खूब समझना चाहिए। इस नवीन शिक्षा के लक्ष्य की प्राप्ति 'प्रकृतिनिरीक्षण' के विषय के द्वारा हो सकती है क्योंकि इस विषय का उद्देश्य ही यह है कि बच्चों में इस बात की इच्छा पैदा हो जाय कि वे प्राकृतिक वस्तुओं के ज्ञान प्राप्त करने के लिए उत्साहित हो जायँ, साथ ही इस बात को समझ लें कि स्वयं सीखी हुई बात का मूल्य क्या है। उनमें वस्तुओं के स्वयं निरीक्षण करने का भाव जाग्रत हो जाय, वे उनकी परीक्षा करने के लिए स्वयं अग्रसर हों, और केवल अन्य पुरुषों से बताई गई बातों को ही स्वीकार न करें और न उनके कथन-मात्र पर ही विश्वास कर लें। उनमें प्रत्येक वस्तु के समुचित निरीक्षण का भाव उत्पन्न हो जाय। और स्वच्छता, चतुरता, धैर्य आदि सद्गुणों के विकास पर, केवल ज्ञान-वृद्धि की अपेक्षा, अधिक ध्यान दिया जाय।

तीसरी बात यह है कि प्राकृतिक विज्ञान की पाठन-विधि इस प्रकार की होनी चाहिए कि जिससे विज्ञान-सम्बन्धी विषयों के सीखने में सहायता मिले तथा कृषि-कार्य में, जो कि गाँव के लोगों का मुख्य उद्यम है, इस विषय की

विशेष उपयोगिता सिद्ध हो। कीड़े-मकोड़ों का, भूमि-सम्बन्धी विशेषताओं का, एवं ऋतु के परिवर्त्तनों का निरीक्षण खेती के कार्य को विशेष उन्नत करने मे सहायक होगा। इस विषय के अध्ययन से बच्चों की आँखें खुल जानी चाहिए जिससे वे प्रकृति की सुन्दरता को भली भाँति देख सकें। उन्हें पवित्र और आत्मोन्नति की ओर ले जानेवाले आनन्द की प्राप्ति हो। साथ ही उनका मन इस प्रकार से शिक्षित और अभ्यस्त हो जाय कि वह भौतिक (Physical), रासायनिक (Chemical) और जीव-विज्ञानरूपी (Biological) मन्दिर के खड़े करने के योग्य एक सुदृढ़ नींव का काम दे। अभी तक गाँव के स्कूलों में विज्ञान-शिक्षा का अभाव बहुत खटकता है, पर अब समय आ गया है कि इस विषय पर भी इन पाठशालाओं में अधिक ध्यान दिया जाय।

पाठन-प्रणाली—अन्य विषयों के पाठन में जिन साधारण सिद्धान्तों का प्रयोग किया जाता है, वे इस विषय में भी लागू हैं। अध्यापक को पाठ्य-विषय का अच्छा बोध होना चाहिए, जो उसे अपने इर्द-गिर्द की वस्तुओं के निरीक्षण से प्राप्त हो सकता है। यदि अध्यापक को इस विषय का पूरा ज्ञान न भी हो, किन्तु यदि उसे इस विपय में रुचि है तो वह उस कमी को पूरा कर सकता है। यह ठीक है कि उसे विषय का ज्ञान छात्रों से कहीं अधिक होना चाहिए। इसका आशय यह है कि पहले-पहल वह पाठ्य-विषय की पूरी छान-बीन स्वयं करे और निरीक्षण से पूरी सहायता ले। बच्चों के सामने निरीक्षण के लिए अपेक्षित सामग्री प्रचुर मात्रा मे अच्छे ढंग से प्रस्तुत की जाय। प्रारम्भ में बच्चों से कुछ प्रश्न किये जायँ जिससे उनमें उन वस्तुओं की जिज्ञासा और अभिरुचि उत्पन्न हो जाय। तब जो वस्तुएँ बच्चों को निरीक्षणार्थ दी गई है, उनके ध्यान-पूर्वक देखने को उनसे कहा जाय। बच्चों को वस्तुओं की देख-भाल करने तथा छूने की पूरी स्वतन्त्रता दी जाय। जब वे सब चीज़ें देख चुकें तब उनसे कुछ ऐसे प्रश्न पूछे जायँ जिनसे यह पता लग जाय कि उन्होंने कहाँ तक ठीक-ठीक निरीक्षण किया है। यह अवश्य आशा की जाती है कि अध्यापक पूर्व ही स्वयं उन सब बातों का उल्लेख कर लेगा जिन जिन का निरीक्षण बच्चों से अपेक्षित है। प्रश्न करने, उत्तर देने और समझाने के ढङ्ग में ही प्राकृतिक निरीक्षण की शिक्षा की विशेषता निहित है। चतुर अध्यापक बच्चों के अशुद्ध उत्तर से पूरा लाभ उठावेगा। जब बच्चे किसी वस्तु का एक विशेष भाग सीख चुकें या जब पूरा एक पाठ समाप्त हो जाय तब उनसे स्वयं अनुभूत और निरीक्षित बातों को

बताने को कहा जाय। वे उत्तर देने में ड्राइंग, चित्र इत्यादि से सहायता ले लें। इस विषय के पढ़ाने में व्याख्यान देने की कोई आवश्यकता नहीं। सारा काम क्रियात्मक हो। सीखी हुई वस्तुओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध को स्पष्ट करने के उद्देश्य से आपस में वाद-विवाद भी किया जाय। प्राकृतिक शिक्षा के पाठ पढ़ाने में अध्यापक को स्वयं अधिक बोलने की आवश्यकता नहीं होती, प्रत्युत उसे बच्चों से भी अधिक काम करवाना होता है, यहाँ तक कि अध्ययन की सामग्री भी बच्चों ही से एकत्र कराई जाती है। अध्यापक का कार्य यह है कि वह अपने विषय को इस प्रकार क्रमबद्ध करे कि काम बराबर होता रहे और बच्चों की रुचि में विच्छेद न होने पावे। इस विषय के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न विषयों के पढ़ाने में निम्नलिखित क्रम उपयुक्त होगा :—वस्तु का नाम, परिस्थिति से उसका सम्बन्ध, जीवन-सम्बन्धी विशेषतायें, स्वभाव और चेष्टायें, परिस्थिति के, स्वभाव के और कार्य के अनुकूल बनने की क्रिया, पारस्परिक सम्बन्ध, साधारण-सिद्धान्त। साधारण विशेषताओं का वर्णन पहले किया जाय, पश्चात् उनकी सूक्ष्मताओं का।

पाठ्य-विषय—गाँवों में प्राकृतिक निरीक्षण की सामग्री प्रचुर है। खेतों की मिट्टी से लेकर आकाश के नक्षत्रों तक अध्यापक किसी भी वस्तु को चुन सकता है। शिशुवर्ग तथा लोअर प्राइमरी कक्षाओं में इस प्रकार के पाठ पढ़ाये जायँ जो बच्चों के मन में स्वतः जिज्ञासा और उत्सुकता उत्पन्न करें। यदि यह न हो तो अध्यापक में स्वयं इतनी अधिक रुचि हो कि वह बच्चों में उत्सुकता और स्वयं अन्वेषण की उत्कट चेष्टा उत्पन्न कर दे।

जो वस्तुएँ—जड़ या चेतन—चुनी जायँ वे ऐसी हों कि पाठशाला के, या घरों के, आस-पास पाई जाती हों। यदि कोई ऐसी वस्तु हो जो बच्चों की दृष्टि में अधिकतर रहती है तो बहुत अच्छा होगा। पाठशाला के भीतर की और गाँव के आस-पास की जीवित वस्तुओं का निरीक्षण, तथा प्राकृतिक और मौसमी तिथि-पत्रों का साधारण रूप से तैयार करना ही शिशुवर्ग के बच्चों का प्रधान कार्य होगा। घरेलू और पालतू पशुओं का निरीक्षण भी अनुचित न होगा। यदि बड़े बच्चों का लगाया हुआ कोई बाग़ हो तो छोटे बच्चों से कहा जाय कि उसमें उत्पन्न होनेवाले वृक्षों का निरीक्षण करें। बीजों को बोने और पौदे इत्यादि लगाने के ऋतु-सम्बन्धी कामों को प्रत्यक्ष देखने के लिए और फल-फूल इत्यादि के प्रत्यक्ष निरीक्षण के लिए उन्हें खेतों

और बाग़ों में सैर कराई जाय। इस दशा में बच्चों के लिए आवश्यक नहीं कि वे फूलों की पँखुड़ियों की गणना करें या किसी विशेष प्रकार के पुष्प के भागों का ज्ञान प्राप्त करें। उन्हें केवल रूप और रङ्ग पर ही ध्यान देना चाहिए। झाड़ियों का और गाँव के समीपवर्त्ती वृक्षों का निरीक्षण भी लाभदायक अध्ययन है। बच्चे भिन्न भिन्न प्रकार की पत्तियों को एकत्रित करें और उन्हें सुखावें। यह सुखाने का काम पत्तियों को स्याही-सोख काग़ज़ (Blotting paper) के बीच में रखकर दबाने से किया जा सकता है। जब वे इस प्रकार सुखा ली जायँ तब वे सुचारु रूप से क्रमशः रक्खी जायँ और उनमें सूचक पत्र (Label) लगा दिये जायँ। प्रत्येक बच्चे के पास एक स्क्रैप* बुक होनी चाहिए, जिसमें वह पत्तियाँ रक्खे।

अपर प्रायमरी कक्षाओं में अध्यापक का उद्देश्य बच्चों में स्वतन्त्र निरीक्षण की चेष्टा जाग्रत करने का होना चाहिए। उसे इस प्रकार के सरल प्रयोग भी कराने चाहिए जैसे कि पानी का भाप बनना, या भाप से पानी बनना तथा कुछ प्राकृतिक घटनाओं को, जैसे कि बादल का बनना और पानी बरसना, भी उसे बच्चों को समझाना चाहिए। मटर, लौकी, चना इत्यादि के बीजों के बोने और उन्हें उगाने के प्रयोग भी बच्चों से कराये जायँ। एक पूरे पौदे के बढ़ने का क्रमबद्ध इतिहास भी रखने को उनसे कहा जाय। प्राकृतिक शिक्षा में, इस अवसर पर कुछ जंगली दूध देनेवाले पशुओं और पक्षियों का, तथा चींटी, टिड्डे और तितली इत्यादि कीड़े-मकोड़ों का निरीक्षण सम्मिलित किया जाय। मकड़ियों और घोंघों का भी निरीक्षण होना चाहिए। स्वयं किये हुए निरीक्षणों का क्रमबद्ध और तारीखवार विवरण लिखने के लिए बच्चों को उत्साहित किया जाय। नाँद की तरह का एक साधारण पात्र पानी में रहनेवाले पशु और पौदों के संग्रह के लिए, काम में लाया जाय। वर्षा-ऋतु में मेढक के अण्डे और बच्चे छिछले पानी के गड्ढों में पाये जायँगे। मेढक के शारीरिक क्रम-विकास के अध्ययन के द्वारा निरीक्षण का अच्छा अवसर प्राप्त होगा। यदि मेढक के अण्डे-बच्चे स्कूल के ही जलपात्र में रक्खे जायँ तो उन पात्रों की स्वच्छता और रक्षा का भार बड़े बच्चों पर रहे। बच्चों को अण्डे की दशा से लेकर पूरे मेढक

---

* कोई सादी या लिखी हुई रद्दी कापी जिसके पन्नों में ऊपर से चिपका चिपका कर चिप्पियाँ रक्खी जायँ।

की दशा तक की भिन्न भिन्न स्थितियों का निरीक्षण करना चाहिए। एक या दो पाठ पूरे बढ़े हुए मेढक पर दिये जा सकते हैं। उसकी सारी शरीर की बनावट 'परिस्थिति की अनुकूलता' के सिद्धान्त का एक सुन्दर उदाहरण है। बिना गर्दन का उसका नुकीला सिर उसे जल में तैरने में उसी प्रकार सहायता देता है जैसी कि नाव की नोक से नाव को पानी काटने में मिलती है। पिछले पैरों की झिल्ली उसे तैरने में अधिक सहायता देती है। उसका सम्पूर्ण शरीर इतना चिकना और चिपचिपा होता है कि वह शत्रु के पंजे से सरलता से छूट जाता है। पीछे के अङ्ग आगे के अङ्गों से अधिक बलिष्ठ होते हैं, इससे उसे उछलने-कूदने में सुविधा होती है। उसकी जिह्वा आगे से तलवे से जुड़ी होती है जिसे बाहर फेंककर उसे शिकार पकड़ने में कठिनाई नहीं होती। गर्दन के न होने से उसे कूदने में विशेष सुविधा रहती है क्योंकि उसके टूटने का भय ही नहीं रहता। सिर के किनारे पर उभरी हुई आँखों के होने से, बिना किसी ओर सिर घुमाये ही, यह देखने में समर्थ होता है। इन प्राकृतिक सुविधाओं के अतिरिक्त उसकी आँखों के ऊपर एक पारदर्शक झिल्ली होती है जो उन्हें पानी के भीतर सुरक्षित रखती है। ये सब बातें उत्तर को सूचित करनेवाले प्रश्नों के द्वारा बच्चों से निकलवानी चाहिए। प्रकृति के अध्ययन में यह आवश्यक है कि बच्चे जीवों के अङ्गों की बनावट और उनसे किये जानेवाले कार्य के पारस्परिक सम्बन्ध का निरीक्षण करें। तब वे कमजोर जीवों के आत्म-रक्षण की बात और प्रकृति की कारीगरी समझने के योग्य होंगे। इस अवसर पर बच्चों को तितली पालनी चाहिए। इन्हें जूते रखनेवाले काग़ज़ के बक्सों में बहुत समय तक रक्खा जा सकता है। मदार (आक) की तितलियों के अण्डे जाड़े के मौसम के आरम्भ में मदार की पत्तियों के बीच में पड़े हुए देखे जा सकते हैं। इन अंडों का रङ्ग पीला होता है। बच्चे इन्हें एक बार देख लेने के बाद सरलता से पहचान लेंगे। अंडों के सहित पत्तियाँ स्कूल लाई जा सकती हैं, और उन्हें काग़ज़ के सन्दूक़ों में रक्खा जा सकता है। जो छोटे छोटे बच्चे अंडे फोड़कर निकलते हैं, उन्हें ध्यान से देखो। ये भली भाँति खाते हैं और शीघ्र ही बढ़ते और मोटे हो जाते हैं। उनके निमित्त प्रतिदिन ताज़ी पत्तियाँ देनी चाहिए। यह काम और बक्सों की सफ़ाई बच्चों को ही करना चाहिए। चार बच्चों के बीच में एक ऐसा सन्दूक़ पर्याप्त है; परन्तु यदि बच्चे अंडे लाकर अलग अलग पालना चाहें, और उनकी वृद्धि का निरीक्षण अकेले ही करना चाहें तो उन्हें हतोत्साह न किया

जाय। इस प्रकार, अपने ही निरीक्षण के द्वारा बच्चे तितली के जीवन का इतिहास जानने में समर्थ होंगे। बच्चों को घरेलू जानवर पालने में उत्साहित किया जाय। इनकी देखभाल करते रहने से बच्चों को इनके स्वभावों का ज्ञान इतना अच्छा होगा जितना कि तद्विषयक पुस्तक से नहीं। बच्चों को इस बात में अभ्यस्त हो जाना चाहिए कि वे जो कुछ सीखें उसका ढाँचा या चित्र स्वयं खींच लें और उसका संक्षिप्त विवरण लिख डालें। यह काम आगे की पढ़ाई के लिए आवश्यक है। यद्यपि बच्चे को चौकस ढाँचे इत्यादि खींचना सिखाने में समय अधिक लगता है पर यह समय का सदुपयोग ही है। छोटी चीजों की असली आकार से दूनी या तिगुनी शक्ल बनाने से उनकी प्रवृत्ति शुद्ध आकृति बनाने की ओर हो जायगी। मिट्टी के नमूने बनाने को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इनके बनाने में बच्चों को बड़ा आनन्द आवेगा और वे चीज़ों के आकार और परिमाण का ठीक ठीक ज्ञान प्राप्त कर लेंगे।

मिडिल कक्षा में अर्थात् वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों में विज्ञान के साधारण विषयों का प्रवेश होना चाहिए जिससे बच्चों को विज्ञान-सम्बन्धी दैनिक घटनाओं के मूल में रहनेवाले साधारण सिद्धांतों में वैज्ञानिक गति प्राप्त हो जाय। इस विषय के अन्तर्गत ये बातें पढ़ाई जायें:—मिट्टी, पानी, हवा के साधारण प्रयोग। भौतिक विज्ञान (Physics)-सम्बन्धी और रसायनशास्त्र (Chemistry)-सम्बन्धी सरल प्रयोग। यन्त्रविद्या (Mechanics) की प्रारम्भिक शिक्षा। ताप-माप, ठोस और तरल पदार्थों पर ताप का प्रभाव। छाया और किरण-विकृति (Refraction), मकनातीसी सुई। चुम्बक-विज्ञान (Magnetism) और विद्युत्-विज्ञान (Electricity) के सरल प्रयोग। बिजली की घंटी के और प्रकाश-सम्बन्धी सरल और मनोरञ्जक पाठ। पानी से बिजली उत्पन्न होने की क्रिया, विद्युत्-शक्ति से जल-संचालन करनेवाले स्थानों (Hydro-Electric Station) का निरीक्षण। एक साथ पाये जानेवाले पौधों और जानवरों का निरीक्षण अग्रलिखित क्रम के अनुसार किया जाय।

मच्छड़, टिड्डे और मक्खियों का अंडे की दशा से लेकर पूर्ण वृद्धि तक का क्रमबद्ध इतिहास भी पढ़ाया जाय। इनके अतिरिक्त अन्य कीड़ों का भी अध्ययन किया जा सकता है।

प्राकृतिक और मौसमी तिथिपत्रों (nature and weather

calendars) का काम जारी रक्खा जाय, परन्तु वह पहले से अधिक क्रमबद्ध और अधिक विवरण में होना चाहिए।

घरों में पाये जानेवाले कीड़े-मकोड़े।	मक्खियाँ, झींगुर, पतिंगे इत्यादि।
खेतों में पाये जानेवाले कीड़े।	चींटी, गुबरैले, गुजिया, बिल खोदनेवाले कीड़े, गिंजाई इत्यादि।
वे कीड़े और चिड़ियाँ जो पौधों के लिए हानिकारक हैं या लाभदायक।	मैना, तोता, कठफोड़वा तथा खेत के कीड़े जो ऊपर लिखे हैं।
जल में उत्पन्न होनेवाले पौधे।	सिंघाड़ा, कमल इत्यादि।
ऊसर में होनेवाले वृक्ष।	बबूल, झरबेरी, सेहुँड़ (नागफनी) इत्यादि।
ताल-तलैयों में होनेवाले कीड़े और पौधे।	जलकुंभी, पानी का बिच्छू, पानी पर फिसलनेवाले कीड़े, घोंघे इत्यादि।
फैलनेवाले और ऊपर चढ़नेवाले पौधे।	भिन्न भिन्न प्रकार की बेल, जैसे, विष्णुकान्ता, इश्कपेंचा, मटर इत्यादि।
भूम्यन्तर्शाखा वृक्ष (underground stems)	आलू, घुँइयाँ, दूब, प्याज़।
वृक्ष।	प्रतिवर्ष नये ६ वृक्षों का अध्ययन।
पक्षी।	प्रतिवर्ष नये ६ पक्षियों का अध्ययन।

इस अवसर पर नक्षत्रों के अध्ययन का आरम्भ उपयुक्त होगा। यह कार्य अध्यापक के तद्विषयक ज्ञान और रुचि पर निर्भर रहेगा। थोड़े से धैर्यपूर्वक निरीक्षण-द्वारा वह नक्षत्रों के विषय में ज्ञान प्राप्त कर सकता है और आकाश में उनका नियत स्थान तथा उनकी गति जान सकता है। बिना यंत्र की सहायता के नक्षत्रों का अध्ययन, अल्पव्ययी होने के साथ साथ, मनोरंजक भी है। बच्चे इस कार्य को बड़े उत्साह से करेंगे। वर्षा-ऋतु में उत्पन्न होनेवाली वनस्पतियों का अध्ययन बहुत अच्छा होगा। बच्चों को इनकी नैसर्गिक विशेषताओं का ज्ञान प्राप्त करना ही चाहिए। क्योंकि भविष्य में उन्हें खेती के काम में इससे सहायता मिलेगी।

मैंने ऊपर जिन भिन्न भिन्न विषयों का उल्लेख किया है, उनका अध्ययन तीनों कक्षाओं में किया जाना चाहिए। अध्यापक पूरे कार्य को तीन भागों में बाँट दे, और एक भाग एक कक्षा में पढ़ावे। पाठ्य-विषयों को विभाजित करते समय उसको क्रम का ध्यान रखना चाहिए और ऋतुओं के अनुसार विषय निर्धारित करना चाहिए। पाठ्य-विषय के सूक्ष्म विभाग करते समय उसे इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि प्रत्येक विषय के पढ़ाने में जो समय लगे, उसका उल्लेख कर दे।

पाठशाला का उद्यान—प्राकृतिक निरीक्षण के अध्यापक के लिए पाठशाला के उद्यान की बड़ी आवश्यकता है। यह उसकी प्रयोगशाला है जहाँ वह क्रियात्मक प्रयोगों का प्रदर्शन कर सकता है और स्वयं उनका अभ्यास कर सकता है। इसके द्वारा न केवल प्रारम्भिक निरीक्षण-सम्बन्धी बहुत कुछ कार्य का संचालन ही सम्भव है, किन्तु उससे बड़े बच्चों के लिए वनस्पति और पशुओं के जीवन के अध्ययन का भी प्रबन्ध हो सकता है। यहाँ कक्षा में पढ़ाये हुए विषयों के आधार पर प्रयोग भी किये जा सकते हैं। अनेक वर्नाक्युलर मिडिल स्कूलों के छात्रालयों में बाग़ होता है। कहीं कहीं पर तो ये बहुत अच्छी तरह लगाये जाते हैं। इनका प्रयोजन यह होता है कि भूमि सुशोभित हो, स्थान स्वच्छ और सुन्दर लगे। यदि प्रधानाध्यापक को वाटिका का शौक़ हुआ, तब तो उसकी रक्षा अवश्य होती है, अन्यथा उसकी देखभाल न होने से उस जगह बहुतायत से खर पतवार उत्पन्न हो जाता है। यदि इसकी आड़ में शिक्षा-सम्बन्धी कोई उद्देश्य रहे तो इस घास-फूस में भी उन्हें निरीक्षण की प्रचुर सामग्री मिल सकती है। अभी तक किसी भी पाठशाला में इस उद्देश्य से बाग़ नहीं लगाये गये हैं कि बच्चे पाठशाला की शिक्षा—विशेष कर प्राकृतिक निरीक्षण की शिक्षा—की सार्थकता का प्रत्यक्ष अनुभव करें। प्राइमरी पाठशालाओं में—किसी विशेष पाठशाला को छोड़कर—बाग़ होते ही नहीं। जहाँ होते भी हैं, वहाँ उनमें कुछ गेंदे के ही पौधे लगे होते हैं। पौधों के लगाने में कोई क्रम भी नहीं होता। शिक्षा देना तो इनका उद्देश्य होता ही नहीं और न शिक्षा देने में इनका उपयोग ही किया जाता है।

स्कूल का बाग़ या तो स्कूल से बिलकुल मिला हुआ हो या इतने निकट हो कि वहाँ तक जाने में पाँच मिनट लगें। उसे जानवरों से सुरक्षित रखने के लिए, उसके चारों ओर एक चहारदीवारी होनी चाहिए। इसका दरवाज़ा काटी हुई शाखाओं का बनाया जा सकता है, और बेल चढ़ाकर उसे सजाया

जा सकता है। जो भूमि इस बाग़ के लिए चुनी जाय वह नीची न हो जिससे कि उसमे फालतू पानी इकट्ठा होकर निकल न सके। इसके अतिरिक्त, उस स्थान पर बड़े वृक्षों का होना हानिकर होगा, क्योंकि जब उनके नीचे छोटे छोटे पौधे लगाये जायँगे तो उनके उचित रूप से बढ़ने में बाधा पड़ेगी। बाग़ का परिमाण कक्षा के बालकों की संख्या पर और उन कक्षाओं की संख्या पर, जिनके बच्चे यहाँ काम करेंगे, निर्भर होगा। चौबीस बच्चों की कक्षा के लिए २५ गज़ लम्बा, ७ गज़ चौड़ी भूमि का टुकड़ा पर्याप्त होगा। इस टुकड़े या प्लाट (plot) के २५ छोटे छोटे खंड किये जा सकते हैं। इनमें से प्रत्येक खंड ६ फ़ुट लम्बा, ४ फ़ुट चौड़ा होना चाहिए। हर एक खंड के चारों ओर २ फ़ुट चौड़ी पगदण्डी होनी चाहिए। बीच में एक ३ फ़ुट चौड़ा रास्ता रक्खा जाय तो आने जाने में सुविधा होगी। इस प्रकार के बाग़ का चित्र यहाँ दिया हुआ है। यदि
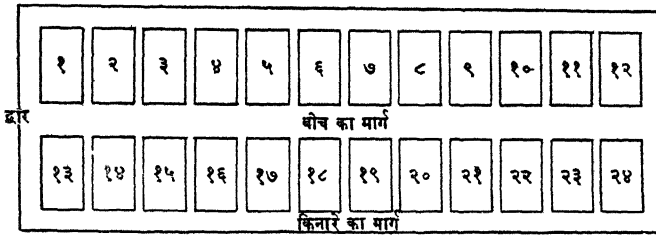
दो बच्चे एक खण्ड पर नियुक्त किये जायँ तो यह प्लाट ४८ बच्चों के लिए पर्याप्त हो सकता है। एक खंड पर ३ या ४ बच्चे भी नियुक्त किये जा सकते हैं। इस प्रकार १०० बच्चे इस प्लाट पर काम कर सकते हैं। गाँव में उक्त परिमाण का एक प्लाट मिलने में कोई कठिनाई न होनी चाहिए। किसी गाँव की ओर से चुने गये डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के सदस्य की सहायता से एक प्लाट सरलता से मिल सकता है। यदि कुछ अधिक ज़मीन मिल सके तो उसका प्रयोग प्रारंभिक प्रयोग के कार्यों में किया जा सकता है। बच्चे तरकारियाँ और फूलों के पौधे उगावें। खेत में उत्पन्न होनेवाले फ़सली पौधों का निरीक्षण करें। जिन औज़ारों की प्लाट पर काम करने में आवश्यकता होगी वे फावड़ा और खुरपा हैं। एक फावड़ा और एक खुरपा एक खंड पर काम करनेवाले बच्चों के बीच में पर्याप्त होगा।

प्लाट के सम्बन्ध में निरीक्षण और अभ्यास

(१) पाठशाला के उद्यान के निमित्त पृथक् की हुई भूमि को देखो। दिये हुए नाप के आधार पर चित्र बनाओ। यह कार्य कक्षा के प्रत्येक बच्चे को करना चाहिए।

(२) जिन क्यारियों में बीज बोये गये हैं, उन्हें स्पष्ट दिखाते हुए बच्चे अपने अपने खंडों का चित्र बनावें।

(३) जैसे जैसे अंकुर निकलते हैं, बच्चे उसका निरीक्षण करें और चित्र बनावें।

(४) वे भिन्न भिन्न पौधों के बीजारोपण की दशा से लेकर आदिम पत्र-विकास की दशा तक के विकास-क्रम के चित्र बनावें।

(५) सच्ची* पत्तियों के ऊपर शाखाओं की दैनिक बाढ़ को ध्यान से देखो।

(६) प्रकाश के सम्बन्ध से पत्तियों के आकार-परिवर्त्तन और उनके क्रम का अध्ययन करो।

(७) जो कीड़े यहाँ आते जाते हैं उनका ध्यानपूर्वक निरीक्षण करो और पता लगाओ कि इनसे वनस्पतियों को हानि होती है कि लाभ।

(८) उन स्थानों पर आने जानेवाली चिड़ियों का और पशुओं का, जैसे गिलहरी, ख़रगोश इत्यादि का—निरीक्षण करो। ये पौधों को हानि पहुँचाते हैं कि लाभ?

(९) भिन्न-भिन्न पौधों की शाखाओं और पत्तियों को देखो कि उनमें कोई चिह्न वा चित्ती है या नहीं?

(१०) जो जङ्गली घासफूस तुम्हारी ज़मीन पर उगे उसका अध्ययन करो और सोचो कि उसे कैसे निकालकर भूमि को स्वच्छ किया जा सकता है।

नोट—बोने के लिए बीजों के चुनाव में यह बात ध्यान देने योग्य है कि ऐसे बीज बोये जायँ जो जल्दी अंकुरित हों और शीघ्रता से बढ़ें। क्योंकि बच्चे—विशेषकर छोटे बच्चे—शीघ्र ही उतावले हो जाते हैं। सारे विवरण तारीख़वार लिखे जायँ और चित्रों को स्पष्ट करने के लिए पौधों की दशा के वर्णन लिखे

---

* बीज बोने के बाद उसके अंकुरित होने पर पहले पहल दो पत्तियाँ निकलती हैं जिन्हें "झूठी पत्तियाँ" कहते हैं क्योंकि ये पत्तियाँ बाद में गिर जाती हैं। इनके बाद जो पत्तियाँ निकलती हैं वे सच्ची पत्तियाँ होती हैं।

जायँ। सारे काम जैसे कि खोदना, खाद डालना, बीज बोना, इत्यादि बच्चे स्वयं करें*।

भूमि-सम्बन्धी प्रयोग—यहाँ कुछ प्रयोगों का उल्लेख किया जाता है, और यह आशा की जाती है कि वे यथावसर किये जायँगे। ये प्रयोग इतने सरल हैं और इनके करने में इतनी थोड़ी सामग्री की आवश्यकता है कि मिडिल स्कूल के अध्यापकों को इनके करने में कठिनाई नहीं होगी। ये प्रयोग चाहे कक्षा के कमरे में किये जायँ, चाहे बाग़ की भूमि पर।

(१) मिट्टी के कणों का अध्ययन :—

शीशे के ग्लास में थोड़ी मिट्टी डालो और उसमें पानी भर दो। ग्लास को अच्छी तरह हिलाओ और तब उसे पाँच मिनट तक रक्खा रहने दो। भिन्न-भिन्न तहों को ध्यानपूर्वक देखो और प्रत्येक तह का चित्र अपनी कापी पर बनाओ। प्रत्येक तह का वर्णन करो।

(२) जहाँ खोदाई होती हो वहाँ जाकर भूमि की भिन्न तहों का निरीक्षण करो।

(३) पहले प्रयोग को दुहराओ पर इस बार ग्लास में चूने के पानी की कुछ बूँदें मिला दो। उसके प्रभाव को देखो और अपने शब्दों में उसका वर्णन करो।

(४) चिकनी मिट्टी की एक ईंट बनाओ। उसे सूखने दो, और उस पर सूखने का प्रभाव देखो। सूखने के पहले और पीछे ईंट के किनारों को नापो। तुम्हें कौन-सी विशेष बात दिखाई देती है। इस प्रयोग से तुम किस परिणाम पर पहुँचते हो।

(५) वर्षा होने के बाद तुरन्त कहीं बाहर जाकर पानी के बहाव को देखो। उस स्थान की दशा का वर्णन करो जहाँ थोड़े से बहाव के बाद पानी रुकता है और सूखा जाता है। कुछ भौगोलिक बातों का अध्ययन करो जैसे कि नदी का बहाव, डेल्टा का बनना, पानी के बहाव के साथ आई हुई और तल पर बैठी हुई मिट्टी, द्वीप, झील, खाड़ी और सहायक नदियाँ इत्यादि। यह कार्य कक्षा २ के बच्चों से कराया जा सकता है।

(६) किसी बोतल का मुँह नीचे करके उसे एकदम पानी में डुबाओ।

---

* कन्याओं को इस कार्य में भृत्यों से सहायता दिलाई जाय।

ध्यान से देखो कि क्या होता है ? अब बोतल थोड़ी तिरछी करो। अब क्या दिखाई देता है ? निरीक्षणों को लिखो।
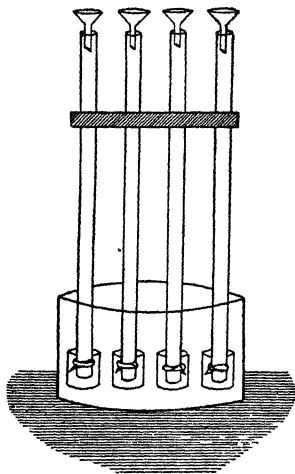
(७) भिन्न भिन्न प्रकार की मिट्टियों में पानी कितनी तीव्र गति से प्रवेश करता है। इस बात को प्रदर्शित करने के लिए शीशे की चार ख़ाली नलियाँ लो; उनके एक सिरे पर मलमल का टुकड़ा बाँधो। इनमें से एक में सूखी बालू, दूसरी में सूखी बालू और चिकनी मिट्टी मिला कर, तीसरी में बारीक चिकनी मिट्टी, चौथी में बाग़ की साधारण मिट्टी भर दो। धीरे धीरे पानी डालो और ध्यान से देखो कि पानी की पहली बूँद से अन्तिम बूँद तक टपकने में कितना समय लगता है। हवा के निकलने को भी ध्यान से देखो।

(८) दो छोटे छोटे बर्तनों में मिट्टी भर दो। उनमें जितना पानी सोखा जा सके भर दो और उनमें से एक बर्तन की तह की मिट्टी हिलाओ और दूसरे को वैसा ही रहने दो। थोड़ी देर में तौल लो और बताओ कितना पानी उड़ गया। इसका कारण बताओ। बारीक छिद्रों से पानी के चढ़ने की इस क्रिया को सिखाने के लिए तीन चिमनियाँ लो और, जैसा कि चित्र में बना है, उन्हें क्रम से रक्खो। चिमनियों के निचले सिरों पर मलमल का टुकड़ा बाँधो और उस पात्र में जल डालो जिसमें चिमनियाँ रक्खी हुई हैं। चिमनियों में पानी बढ़ने की क्रिया को देखो—पहले आध घंटे बाद, बाद में चौबीस घंटे बाद। किस चिमनी में पानी सबसे अधिक चढ़ा ?
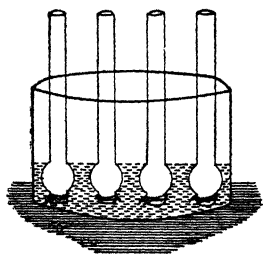
(९) किस प्रकार की मिट्टी में पानी कितनी देर रुकता है इसे जानने

के लिए तीन ख़ाली नलियाँ लो। उनके एक सिरे पर 'मलमल' बाँधो। उनमें अलग अलग कंकड़, रेत और मिट्टी क्रम से भर दो। उन्हें एक बर्तन में खड़ा कर दो और उसमें तब तक पानी भरते जाओ जब तक वह नलियों के भीतर की मिट्टी के बराबर न आ जाय। ४८ घंटे के बाद उन्हें निकाल लो और इन्हें ख़ाली बर्तनों के ऊपर लटका दो जिससे कि उन नलियों का पानी निकल कर उन ख़ाली बर्तनों में भर जाय। नलियों को तौल लो और उस वज़न की तुलना नलियों के वज़न और सूखी मिट्टी के वज़न से करो। कौन-सी मिट्टी में ज़्यादा पानी पाते हो?
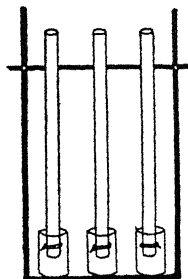
(१०) छठे और सातवें प्रयोगों में यह देखा गया था कि हवा ख़ाली जगह में भरी रहती है। किसी विशेष प्रकार की मिट्टी में हवा का परिमाण उसकी जगह ले लेनेवाले पानी के परिमाण के द्वारा जाना जा सकता है।

(११) जल में उत्पन्न होनेवाले और स्थल में उत्पन्न होनेवाले किसी पौधे की शाखा को काटो। वायुवाहक छोटी नलियों को ध्यान से देखो। उनका चित्र बनाओ। जो जड़ें मिट्टी के अन्दर हैं उनके लिए हवा आवश्यक है। इसके आधार पर बच्चों को पानी के निकास की आवश्यकता बतलाई जाय।

(१२) सतह की और नीचे की मिट्टियों की उर्वरता की तुलनात्मक परीक्षा करो।

(१३) पौधों की बाढ़ पर गहरी जोताई का जो प्रभाव पड़ता है उसको देखने के लिए कई ज़मीन के टुकड़ों को ६ इंच, १ फ़ुट, डेढ़ फ़ुट और २ फ़ुट की गहराई तक क्रम से जोतो। और उनमें बीज बो दो। पौधों का समय समय पर निरीक्षण करो और उन पौधों में जो अन्तर हो उसको देखो। अपने सब निरीक्षणों को भली भाँति लिखो।

(१४) भिन्न भिन्न पौधों पर भिन्न प्रकार की खादों की उपयोगिता की परीक्षा करो।

(१५) अपने ज़िले की मुख्य मुख्य पैदावारों की सूची बनाओ। उनका विभाग इस प्रकार करो :—व्यापार-सम्बन्धी पैदावार, भोजन-सम्बन्धी

पैदावार और खाद-सम्बन्धी पैदावार। इस बात पर विचार करो कि ये फ़सलें क्यों पैदा की जाती है और क्या इनके अतिरिक्त अन्य फ़सलें भी है जिनको इन्हीं के बराबर या अधिक लाभ के साथ पैदा किया जा सकता है?

मौसिमी निरीक्षण—यह कार्य भिन्न भिन्न कक्षाओं में भिन्न भिन्न होगा। इसका साधारण कार्य-क्रम नीचे दिया जाता है जिसके आधार पर अध्यापक अपना कार्य क्रम बना सकते है।

कक्षा ३ और ४ के लिए

(१) जहाँ कहीं घड़ियाँ मिल सकती हों वहाँ बच्चों को ठीक ठीक समय देखना और प्रतिदिन सूर्यास्त और सूर्योदय का समय जानना सिखाया जाय।

(२) एक छड़ी की छाया की लम्बाई दो दो घंटे के अन्तर पर देखो। जिस समय छाया सबसे छोटी हो उस समय को लिखो।

(३) छड़ी की सहायता से ठीक उत्तर दिशा का पता लगाओ यह इस प्रकार ज्ञात होगा। १० बजे प्रातः और २ बजे सायंकाल के समय घड़ी की छाया को देखो। इन दो छाया रेखाओं से एक कोण बनेगा। इस कोण को दो बराबर भागों में विभाजित करो। यह कोण-विभाजक रेखा उत्तर-दक्षिण होगी। उत्तर दिशा के जानने के लिए अन्य रीतियाँ भी सिखाई जायँ। कक्षा के सब बच्चे मिलकर अग्रलिखित प्रकार की एक मौसिमी 'डायरी' रक्खें :—

विशेष ज्ञातव्य

(क) "वायु की दिशा" की पंक्ति में, जिस दिशा की ओर वायु की गति हो उसी ओर एक तीर का चिह्न बनाओ।

(ख) दूसरी पंक्तियों में हर एक तारीख़ के नीचे जिन जिन बातों का निरीक्षण किया हो, उनके सामने × यह चिह्न बनाओ।

(ग) कक्षा ४ के बच्चे एक साधारण "वेदरकाक"* (Weather-cock) बनावें। और बिस्कुट रखने के टीन के डिब्बे मे एक छड़ी या चिपटी पटरी की सहायता से वर्षा से इकट्ठे हुए जल को नापें। वर्षावाली पंक्ति मे यह नाप लिखी जाय।

* वायु की दिशा को सूचित करनेवाला एक यन्त्र-विशेष।

महीना ——————

तारीख़ें	१	२	३	४	५	६	७	८	९	१०	११...
वायु की दिशा (पूरब)											(पश्चिम)
वायु का वेग											
(क) वायु स्थिर ...											
(ख) धीमी हवा ...											
(ग) तेज़ हवा ...											
ताप											
(क) धीमा ...											
(ख) गर्म ...											
(ग) ठंढा ...											
(घ) बहुत ठंढा ...											
वर्षा											
(क) वर्षा नहीं ...											
(ख) थोड़ी थोड़ी ...											
(ग) मूसलाधार वर्षा ...											
मेघ											
(क) धूप ...											
(ख) तितर-बितर बादल..											
(ग) घने बादल ...											

(घ) कक्षा ४ के प्रत्येक बच्चे से इन बातों का अलग अलग विवरण रखने को कहा जाय।

कक्षा ५ से ७ तक के लिए—इन कक्षाओं में यह सबसे उत्तम होगा कि ये निरीक्षण एक नक़शे के रूप में रक्खे जायँ। सुभीते के लिए पृष्ठ १९२ पर एक नक़शा दिया जाता है, जिसके आधार पर अध्यापक अपने ढंग से नक़शा बना लें।

विशेष ज्ञातव्य

(क) ये निरीक्षण यथासम्भव एक ही समय पर किये जायँ।

(ख) कक्षा ५ और ६ 'दबाव' वाले ख़ाने को छोड़ दें।

तारीख़	बादल	वर्षा (इंचों में)	तापक्रम		वायु			अन्तिम निरीक्षण के बाद मौसिम की दिशा
			सबसे अधिक	कम से कम	दिशा	वेग	दबाव	
सितम्बर १९	आकाश निर्मल	०	८६·५	६०·६	द० पू०	तेज़	२९·२	धीमी हवा
,, २०	घने बादल	१·९	८३·२	५५·४	उ० पू०	...	२८·६	१२ बजे दोपहर तक वर्षा
,, २१	ऊँचे बादल तितर बितर	·०५	८५·७	५९·५	उ० पू०	धीमी	२९·१	दो घंटे रात्रि में वर्षा
,, २२	नीचे बादल	०	८६	६०	...	स्थिर	२९ २	वर्षा नहीं, धीमी हवा

द० = दक्षिण; पू० = पूर्व; उ० = उत्तर।

(ग) जिस दिन ताप-निरीक्षण लिखा जाय उसके एक दिन पहले का सबसे अधिक ताप लिखा जाय और उसी दिन का कम से कम ताप लिखा जाय। इसका कारण यह है कि इस प्रकार के तापमापक यन्त्र में गत २४ घंटे का सबसे अधिक ताप और निरीक्षण-समय तक का सबसे कम ताप दिखाई पड़ता है। इस विशेष प्रकार के तापमापक यन्त्र को 'सबसे अधिक और सबसे कम तापमापक यन्त्र' कहते हैं (Maximum and Minimum Temperature Thermometer).

(घ) कक्षा ७ में बच्चों से साधारण वायुमापक यन्त्र बनाने को कहा जाय। यह हवा का दबाव नापने का यन्त्र है।

वृक्ष निरीक्षण—जिन अध्यापकों को पहले का अनुभव नहीं है वे प्रायः इस सोच-विचार में पड़ जाते हैं कि वृक्षों के सम्बन्ध में बालकों से क्या निरीक्षण करने को कहा जाय। इस कारण मैं कुछ बातों की ओर ध्यान दिलाता हूँ। बच्चे बाहर किसी वृक्ष के लगभग १०० गज़ की दूरी पर खड़े किये जायँ तब उनसे उसकी शक्ल को देखने के लिए तथा उसे अपनी कापी में बनाने को कहा जाय। तब वे शाखा-क्रम का अध्ययन करें। कुछ वृक्षों में शाखा-क्रम नहीं होता जैसे कि ताड़; कुछ वृक्षों में कोई प्रधान शाखा नहीं होती और शाखायें सीधी भूमि से निकली हुई दिखाई देती हैं, जैसे कि 'बाँस'; कुछ वृक्षों में प्रधान शाखा होती है, जो या तो बढ़ती ही जाती है और उसमें से दूसरी शाखायें फूट निकलती हैं जैसे रुई, या जिसका बढ़ना कुछ समय के बाद बन्द हो जाता है और उसमें से दो मुख्य शाखायें फूट निकलती हैं जिनमें से प्रत्येक में शाखा-प्रशाखायें निकलती रहती हैं, जैसे कि नीम।

अब शाखा-क्रम के निरीक्षण के लिए बच्चों को वृक्ष के निकट लाया जाय। तब वे छाल की बनावट और रंग पर दृष्टिपात करें, वृक्ष की पत्तियों के क्रम को ध्यान से देखें और उनकी बनावट का अध्ययन करें। पत्तियों की बनावट के अन्तर्गत निम्नबातों का अध्ययन किया जाय :—

उनके आकार, रूप-रंग, सतह, किनारे, नोक इत्यादि। बच्चे यह भी बतावें कि पत्ती साधारण है कि मिश्रित। इस प्रारंभिक अध्ययन के बाद बच्चों से कभी कभी वृक्ष को देखने के लिए कहा जाय जिससे कि वे ऋतुओं में होनेवाले परिवर्तनों को जानें, जैसे कि नई पत्तियों और कलियों के निकलने का,

और फूल और फलों के लगने का समय। इन चीज़ों के दृष्टिगोचर होने पर बच्चे इनके क्रमशः परिवर्तनों पर ध्यान दें, और उनका तारीख़वार क्रमबद्ध वर्णन लिखते रहें। प्रकृति में बीजों के छिटकाने का क्या ढंग है? जिस वृक्ष का निरीक्षण किया जा रहा है उस पर कौन कौन पशु-पक्षी घोंसला बनाते है? यदि वृक्ष पर कोई घोंसला हो तो उसे छेड़ा न जाय, परन्तु बच्चों से उसे भी दृष्टि में रखने को कहा जाय। इसके अतिरिक्त यदि कोई अन्य विशेष बात वृक्ष के सम्बन्ध में हो तो उसका भी निरीक्षण करके विवरण लिख लिया जाय। निरीक्षणों का विवरण निम्नप्रकार से लिखा जाय :—

वृक्ष का नाम स्थान तिथि

साधारण आकार जैसा कि दूर से दिखाई देता है.........

(इसका ढाँचा बनाया जाय)

शाखाओं का क्रम (चित्र बनाओ और वर्णन लिखो)

छाल...........

पत्तियाँ........... (चित्र बनाओ और वर्णन करो)

ऋतु-सम्बन्धी परिवर्त्तन—विशेष बातों का उल्लेख :—

(क) पत्तियों का निकलना—पतझड़ की दशा के साथ.........

(यदि होता हो)

(ख) कलियाँ (पतझड़ की दशा में)................................

(चित्र बनाओ और परिवर्तनों का वर्णन करो)

(ग) तिथि जब कि फूल दिखाई दें.........

(घ) ,, ,, ,, फल ,, ,, ,, ,, ,,

जो पक्षी घोंसले बनाते हैं उनका निरीक्षण ध्यानपूर्वक किया जाय।

पक्षी-निरीक्षण—पक्षी चित्ताकर्षक होते है। उनके नाम, रंग, गीत, स्वभाव और, यदि वे एक स्थान से दूसरे स्थान पर जानेवाली चिड़ियाँ हैं तो, उनके आने और जाने का समय इत्यादि बातों ने बालकों का ध्यान सदा अपनी ओर आकृष्ट किया है। निरीक्षणों का विवरण ठीक ठीक लिखे जाने के लिए यह अच्छा होगा कि बच्चे चार साधारण पक्षियों का आकार जानते हों, और अन्य पक्षियों का आकार इन्ही पक्षियों के आकार के आधार पर प्रकट करें।

इस काम के लिए गौरैया, साधारण मैना, कौआ और चील चुनी जा सकती हैं। इसके बाद प्रतिवर्ष के अध्ययन के लिए १२ चिड़ियाँ चुनी जानी चाहिए। डगलस डिवर* की लिखी हुई "हिंदुस्तानी गाँव की चिड़ियाँ" नाम की पुस्तक से अच्छी सहायता मिलेगी, निरीक्षण के लिए नीचे लिखे प्रश्नों पर विचार करना चाहिए।

(१) क्या जिन पक्षियों का निरीक्षण किया जा रहा है वे केवल किसी ऋतु-विशेष में ही आती हैं या बराबर रहनेवाली हैं!

(२) यदि ऋतु-विशेष में आनेवाली हैं, तो यह जानना आवश्यक होगा कि वे कब आती हैं और किस ओर से गाँव में प्रवेश करती हैं। कब और किधर वापस जाती हैं। गाँव में कहाँ रहती हैं?

(३) नीचे लिखी बातों को ध्यानपूर्वक देखो :—

(क) साधारण शक्ल और क़द।

(ख) डैने, छाती और पूँछ के परों का रंग।

(ग) गीत या बोली।

(४) पंजों और चोंच का चित्र ठीक ठीक बनाओ।

(५) वे क्या खाती हैं; गुठली, बीज, फल, कीड़े या मांस?

उनकी चोंच की शक्ल और बनावट से और जिस प्रकार का वे भोजन करती हैं उससे कोई सम्बन्ध है या नहीं? यदि है तो क्या है? सब बातों को दृष्टि में रखते हुए विचार करो कि चिड़ियाँ पौदों के लिए हानिकारक हैं या लाभदायक। यह एक ऐसा प्रश्न है जिसके हल करने का एकमात्र उपाय कभी कभी धैर्यपूर्वक निरीक्षण करना और विवरण लिखना है।

(६) घोंसलों का अध्ययन।

घोंसला ख़ाली है कि उसके अन्दर अंडे हैं? किस चीज़ का बना हुआ है? उसका आकार कैसा है? किसी अंडे को ध्यान से देखो और उसका चित्र बनाओ।

उसके रङ्ग और क़द को देखो।

(७) प्रत्येक कक्षा में किसी एक चिड़िया के बच्चे के बढ़ने के क्रम का निरीक्षण किया जाय।

---

* 'Birds of an Indian Village' by Douglas Dewer

कीड़ों का निरीक्षण—चाहे हम कीड़े-मकोड़ों की कितनी ही उपेक्षा करें, पर वे हमारा ध्यान अवश्य अपनी ओर आकृष्ट करेंगे। इस विषय की अच्छी जानकारी प्राप्त करने में—विशेषकर इस विषय का ज्ञान प्राप्त करने में कि लाभदायक कीड़ों की रक्षा कैसे की जाय और हानिकारक कीड़ों को कैसे दूर किया जाय—किसान का आर्थिक दृष्टि से बहुत लाभ होगा। इस कारण जो कीड़े बाग़ में या खेतों में फ़सलों के समय आते जाते हों, उनका निरीक्षण सावधानी से किया जाना चाहिए और उनका विवरण ठीक ठीक लिखना चाहिए। कीड़ों के अध्ययन के सम्बन्ध में जो सबसे मनोरञ्जक विषय है, वह है उनके जीवन के इतिहास का निरीक्षण। घास-फूस पर के, फ़सल के पौदों पर के या नींबू, कनेर, मेहँदी, मदार, नरगिस और नीम पर के लारवा* (Larva) इकट्ठा करो और उन्हें काग़ज़ के बक्सों में रक्खो जिनमें हवा के आने-जाने के लिए छेद कर दिये जायँ। जिस पौदे पर जो कीड़ा पाया जाय उसकी ताज़ी पत्तियाँ भी उसके साथ रक्खो। निम्नलिखित बातों का निरीक्षण करो :—(१) कीड़े के शरीर के भिन्न भिन्न भाग, उनके खंड और अंग। (२) विशेष चिह्न और सामने की मूँछें। (३) मुँह के निकट की सच्ची टाँगें और पिछले भाग के निकट भूठी टाँगें। कुल मिलाकर टाँगों के कितने जोड़े हैं? (४) कीड़ा पत्तियाँ कैसे खाता है? वह अपने जबड़े किस तरफ़ घुमाता है? (५) वह साँस कैसे लेता है और हरकत कैसे करता है? इनके ढाँचे, असली क़द से बढ़ाकर, खींचो और प्रतिदिन लम्बाई और गोलाई में जो वृद्धि होती है उसका उल्लेख करो। (६) लारवा की चेष्टाओं का निरीक्षण करो जब कि वह अपना भोजन बन्द कर दे। (७) प्यूपा का निरीक्षण करो और उसका वर्णन करो। (८) प्यूपा की दशा के बाद जब वह तितली के रूप में निकलता है, तब उसका निरीक्षण करो। उसका चित्र बनाओ और उसके व्यापार और स्वभाव का निरीक्षण करो।

प्रकृति-निरीक्षण का अन्य विषयों से सम्बन्ध—प्रकृति-निरीक्षण के अध्ययन में एक स्थिति ऐसी आती है जब उसका सम्बन्ध उससे समानता रखने-

---

*अंडे से निकलने के बाद किसी कीड़े की जो सबसे पहली दशा होती है उसे लारवा (Larva) कहते हैं। इनकी क्रमशः वृद्धि होती रहती है। कुछ काल बाद इनकी शक्ल प्याले के समान हो जाती है जिसे प्यूपा (Pupa) कहते हैं। प्यूपा का विकास होते होते पूरा कीड़ा हो जाता है।

वाले अन्य विषयों से होने लगता है जैसे कि, भूमि का, मौसिम का और नक्षत्रों का अध्ययन या वृक्ष-नाशक कीड़ों का अध्ययन। इस दशा में यह उत्तम होगा कि प्राकृतिक शिक्षा के विषय में चाहे भूल से कुछ अधिक विषयों का समावेश भले ही हो जाय पर कोई आवश्यक विषय छूटने न पावे। इस प्रकार अध्यापक प्राकृतिक शिक्षा का सम्बन्ध अन्य पाठ्य विषयों के साथ स्थापित कर सकेगा। यदि यह कार्य उचित रूप से किया जाय तो प्राकृतिक विज्ञान के द्वारा न केवल अन्य विषयों का परस्पर सम्बन्ध स्थापित होगा, वरन् अन्य विषयों का अध्ययन अधिक समीचीनता के साथ किया जा सकेगा। इस विषय के अन्तर्गत 'मौसिम, हवा का दबाव' इत्यादि बातें जितनी उत्तमता से बच्चे हृदयंगम करेंगे उतनी उत्तमता के साथ भूगोल के अध्ययन के साथ नहीं कर सकेंगे। चित्र खींचने के निरन्तर अभ्यास से उनका ड्राइङ्ग का अभ्यास निश्चित रूप से बढ़ेगा। वस्तुओं के वर्णन लिखते रहने से उनकी निबन्ध लिखने की योग्यता बढ़ जायगी। पौदों और उन्हें हानि और लाभ पहुँचानेवाले कीड़ों के ज्ञान से खेती के काम में उनकी रुचि बढ़ेगी। निरीक्षण के काम के लिए सामान बनाते रहने से उनकी हस्तकौशल की निपुणता बढ़ जायगी। इस विषय का अध्ययन एक ओर तो उनकी स्वाभाविक शक्तियों का विकास करेगा और दूसरी ओर पाठशालाओं में पढ़ाये जानेवाले विषयों के समझने में और उनकी पाठन-प्रणाली के सुधार में सहायक होगा।

स्कूली यात्रायें—प्रकृति-निरीक्षण के अध्ययन में इन यात्राओं का बहुत महत्त्व है। इनके द्वारा बच्चों को वस्तुओं का अध्ययन—उनकी प्राकृतिक परिस्थिति में—करने के अनेक अवसर मिलेंगे। अनेक प्रकार के पशु, वृक्ष-विशेष, पत्थर की बनावट और खनिज पदार्थों की जानकारी प्राप्त होगी। ये पदार्थ जिन परिस्थितियों में पाये जाते हैं, उनके निरीक्षण का भी अवसर प्राप्त होगा। बच्चे इन विषयों के अध्ययन में बड़ा आनन्द लेते हैं और उन्हें ध्यानपूर्वक पढ़ते हैं। यात्राओं के अवसर पर बचों को कक्षा में बैठने की अपेक्षा अधिक स्वतन्त्रता रहती है। पर इस स्वतन्त्रता में एक यह हानि होने की संभावना है कि वे संभव है किसी विषय पर अपना ध्यान एकाग्र न कर सकें, और उनका अधिक समय नष्ट हो जाय। यह भी बहुत संभव है कि अज्ञानता और अनुभव की कमी के कारण वे ठीक तरह से यही न जान सकें कि किस वस्तु का निरीक्षण करना चाहिए। अतः यह बहुत आवश्यक है कि वस्तु-निरीक्षण के लिए इस प्रकार की यात्राओं का प्रबन्ध बड़ी सावधानी से किया जाय। ये यात्रायें किसी निश्चित उद्देश्य के साथ की जायँ और यात्रारम्भ के पहले बच्चों को तत्सम्बन्धी आवश्यक

बातें ठीक ठीक समझा दी जायँ। अध्यापकों को चाहिए कि पहले उस स्थान पर स्वय जायँ और उन निरीक्षणों का संक्षिप्त विवरण लिख लें जिन्हें वे बच्चों से करवाना चाहते हैं। किसी आकस्मिक घटना के लिए उन्हें तैयार रहना चाहिए। बच्चों को यह भी बता देना चाहिए कि वे इस प्रकार की यात्राओं में कौन-सी सामग्री ले जायँ। यदि यात्रा लम्बी हो तो आवश्यक कपड़ों और बर्त्तनों के अतिरिक्त, अपने निरीक्षण-सम्बन्धी नमूने रखने का एक सन्दूक़, चाक़ू, पेन्सिल, काग़ज़, आतशी शीशा ले लिये जायँ। जिन वस्तुओं का निरीक्षण कर लिया जाय उनके चित्र और वर्णन सब लड़के रक्खें। ऐसे अवसरों पर जो नई सामग्री एकत्रित की जाय वह पाठशाला के अजायबघर में रक्खी जाय।

पाठशाला का अजायबघर—बच्चों में वस्तुओं के संग्रह करने की रुचि बड़ी तीव्र होती है; और यदि किसी अन्य बात के लिए नहीं तो केवल इसी बात के लिए पाठशाला के अजायबघर की स्थापना की जाय। बच्चों को धीरे-धीरे यह समझाया जाय कि केवल संग्रह के विचार से ही वस्तुओं का संग्रह अधिक लाभ-दायक नहीं। बच्चों को यह बात बड़ी बुद्धिमानी से बतानी चाहिए कि वे किन किन वस्तुओं का संग्रह करें। जब वस्तुएँ इकट्ठी की जा चुकें तब उनका विभाग किया जाय, और प्रत्येक वस्तु पर संग्रह करनेवाले के नाम और कक्षा का एक सूचक-पत्र (Label) लगाया जाय। इसके बाद वे अलमारी में सुचारु रूप से क्रमपूर्वक रक्खी जायँ। किसी वस्तु का संग्रह एक निश्चित उद्देश्य के साथ किया जाय। अन्य वस्तुओं के साथ नीचे लिखी चीज़ों का भी संग्रह किया जाय। जंगली फूल, पत्तियाँ—भिन्न भिन्न आकारों को प्रदर्शित करने के लिए घोंघे, बीज और फलों का विस्तार, वृक्षों की आत्म-रक्षा के साधन (काँटे इत्यादि), फैलने-वाले और ऊपर चढ़नेवाले पौदे (ऊपर चढ़ने के भिन्न भिन्न प्रकार दिखाने के लिए); खाली घोंसले (यह दिखाने के लिए कि वे किस चीज़ के बने हैं), तितलियाँ, ज़िले में पाये जानेवाले अन्य कीड़े, पत्थर और खनिज पदार्थ। पाठ-शाला का अजायबघर वहाँ आनेवाले दर्शकों के लिए नहीं है। वरन् प्रकृति के अध्ययन की ओर बच्चों की रुचि बढ़ाने के लिए है।

अध्यापक—अन्त में मुझे यह कहना है कि यद्यपि शिक्षण-कार्य में पाठन-प्रणाली का सर्वाङ्गपूर्ण और निर्दोष होना आवश्यक है, तथापि प्रकृति-निरीक्षण की शिक्षा की सफलता प्रधान रूप से अध्यापक की तद्विषयक रुचि और उसके उत्साह पर निर्भर है। चाहे किसी व्यक्ति ने इस विषय की पाठन-प्रणाली की विशेष शिक्षा न पाई हो, पर यदि उसे प्रकृति से प्रेम है और उसमें धैर्य,

कार्य-तत्परतादि सद्गुण हैं, तो वह इस विषय का योग्य अध्यापक हो सकता है। अध्यापक तभी सफल हो सकता है जब उसे इस विषय में वास्तविक रुचि हो; और वह इसके पठन-पाठन के लिए प्रसन्नता से परिश्रम करने को और अपना समय लगाने को कटिबद्ध हो। निरीक्षण-सम्बन्धी वस्तु-संग्रह के उक्त सिद्धान्तों पर ध्यान रखते हुए, और जो थोड़ी-बहुत सहायता शिक्षण-कार्य में उसे प्राप्त हो, उससे अधिक से अधिक लाभ उठाते हुए, अध्यापक का कार्य-क्रम यह होना चाहिए कि वह किसी छोटे विषय को जो अन्य विषयों की अपेक्षा उसका ध्यान अधिक आकृष्ट करता हो, अपने अध्ययन और निरीक्षण के लिए चुन ले और उसका पूर्ण अध्ययन करे। यदि वह बिलकुल निकम्मा अध्यापक नहीं है तो उसमें स्वतन्त्र अन्वेषण का भाव जाग्रत होगा और इस अन्वेषण-कार्य में उसे विशेष आनन्द मिलेगा। इस प्रकार जिन छोटे बच्चों के शिक्षण का भार उसके ऊपर निर्भर है उन्हें भी उसी प्रकार के आनन्द के प्राप्त कराने में वह समर्थ होगा। जो अध्यापक इस प्रकार अपने काम में दक्ष होगा वह छात्रों के सामने अन्वेषणात्मक विषयों को स्थापित करेगा और उनके अध्ययन में उनका पथ-प्रदर्शन इस प्रकार करेगा कि वे उन विषयों का समीचीन रूप से रुचि के साथ अध्ययन करें।

दशम अध्याय

हस्त-कौशल-शिक्षण-पद्धति

किसी विषय की शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के पहले यह जान लेना आवश्यक है कि स्कूल में उस विषय के रखने का लक्ष्य क्या है? जब लक्ष्य स्थिर हो जाता है तब उसे पूर्ण करने की पद्धति पर ध्यान दिया जा सकता है।

जब लक्ष्य निश्चित किया जा चुका है तब जो कुछ भी कहा जायगा उसे लक्ष्यरूपी कसौटी पर कसकर देखा जा सकता है कि यह शिक्षण-पद्धति ठीक है या वह। इसलिए हस्त-कौशल की शिक्षण-पद्धति पर विचार करने के पूर्व इस विषय के लक्ष्य को निश्चित करना अत्यन्त आवश्यक है। इस लक्ष्य तक पहुँचने के लिए प्राइमरी स्कूल, शिक्षा और ११, १२ वर्ष के बालकों की प्रकृति और परिस्थिति पर प्रकाश डालना आवश्यक है।

नागरिक की परिभाषा—सच्चा नागरिक वह मनुष्य है जिसमें बुद्धिमत्ता के साथ वोट देने की योग्यता हो और वह अपने प्रतिनिधियों के बनाये हुए क़ानूनों के मानने के लिए अभ्यस्त हो गया हो। किन्तु प्राइमरी स्कूल का विद्यार्थी बड़ा होने पर केवल वोटर ही नहीं होगा। उसे गृहस्थाश्रम का भार भी उठाना पड़ेगा। उसे बालकों के लालन-पालन और शिक्षा का भी प्रबन्ध करना पड़ेगा। उसे जीविकोपार्जन भी करना पड़ेगा। सच्चें नागरिक की दृष्टि से उसे किसी ऐसे उद्योग-धंधे को हाथ में लेना पड़ेगा जिससे स्वयं उसका निर्वाह हो; साथ ही समाज के लिए भी वह लाभप्रद हो सके। सफल गृहस्थ के साथ ही उसे किसी विशेष समाज का अङ्ग भी होना है, चाहे उसका स्थान कितना ही छोटा क्यों न हो।

प्रत्येक बालक में शारीरिक, मानसिक तथा आध्यात्मिक तीनों ही बल उपस्थित हैं। इसलिए प्राइमरी स्कूल के प्रत्येक अध्यापक का कर्त्तव्य है कि वह इन तीनों ही शक्तियों का, जो कि हर एक बालक में न्यूनाधिक मात्रा में उपस्थित हैं, विकास करे।

ज्ञान प्राप्त करने के साथ ही साथ जब तक सुदृढ़ चरित्र की नींव न पड़े तब तक बालकों में नागरिकता के भाव ही नहीं पैदा हो सकते। जीवित जाग्रत कठिनाइयों के संघर्षण से यह चरित्र-बल शान पर चढ़ता है। जैसे शारीरिक उन्नति के लिए मुग्दर और डम्बेल हैं उसी प्रकार चरित्र-बल बढ़ाने के लिए सांसारिक कठिनाइयाँ हैं।

ऐसी शिक्षा केवल भार-मात्र है, जैसे गदहे के ऊपर पुस्तकों का गट्ठर लदा हो।

इस प्रकार की दूषित शिक्षा से शिक्षित होकर लोग नौकरी के सिवा और कुछ नहीं कर सकते हैं।

हस्त-कौशल की योजना के द्वारा कुछ ऐसी जीती-जागती कठिनाइयों का प्रवेश करके प्राइमरी स्कूल के बालकों में सार्थक सोचने की शक्ति का विकास करना परम आवश्यक है। हस्त-कौशल की शिक्षण-पद्धति में यह आवश्यक होगा कि लड़के अपनी कठिनाइयों को अपने आप हल करने का अभ्यास करें। अत्यन्त आवश्यक होने पर ही अध्यापक उन्हें सहायता प्रदान करें।

शारीरिक, मानसिक या आध्यात्मिक कोई भी क्रिया तभी तक शिक्षाप्रद है जब तक कि वह लड़के की शक्ति को बढ़ाती रहती है। जब उस क्रिया का पूरा पूरा अभ्यास हो जाता है तब लड़का उस क्रिया को यन्त्रवत् करने लगता है।

हाथ के कामों की सीमा अधिक विस्तृत है। और साथ ही साथ इनकी बहुत-सी जातियाँ भी हैं। स्कूल में शिक्षा की दृष्टि से इन्हें चुनने में इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि हाथ के कामों में शिक्षा का अंश बालकों की योग्यता के अनुकूल हो। आटा गूँधना और झाड़ू देना भी हाथ का काम है। और छोटे बच्चों के लिए इनमें भी शिक्षा का अंश है। परन्तु यह अंश बहुत ही थोड़ा है। बहुत शीघ्र ही ये क्रियायें यंत्रवत् हो जावेंगी। इसलिए सावधानी से इनका प्रयोग करना आवश्यक है। यदि इन क्रियाओं की ओर शिक्षार्थियों की रुचि हो और उनको आवश्यकता भी हो तो इनको प्रारम्भ कर देना चाहिए और ज्यों ही ये क्रियायें यन्त्रवत् होने लगें तो उन्हें यदि संभव हो तो उच्च धरातल पर पहुँचा देना चाहिए, अन्यथा बन्द कर देना चाहिए।

इसी के साथ साथ इतना और भी समझ लेना आवश्यक है कि उस काम में जिसे बालकों ने स्वयं चुना है शिक्षा का इतना अधिक अंश है कि स्कूल

के अन्य विषय उसकी समानता नहीं कर सकते। इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए हस्त-कौशल की योजना रक्खी गई है।

आधुनिक शिक्षा-प्रणाली में कई दोष हैं। प्रथम तो यह पुस्तकीय है इस कारण जगत् की सत्यता का बालकों को अनुभव नहीं हो पाता। दूसरे पाठ्य विषयों की कोई उपयोगिता नहीं है। बालक सीखी हुई बातों का प्रयोग नहीं कर सकता है। इन दोषों को दूर करने के उद्देश्य से हस्त-कौशल की योजना प्राइमरी स्कूलों में चालू करना नितान्त आवश्यक है।

हस्त-कौशल का भी लक्ष्य शिक्षा देना है। यही नहीं, बल्कि और विषयों में भी चेतनता उत्पन्न करना है। हस्त-कौशल के द्वारा बालकों को जुलाहा, दफ़्तरी, बढ़ई आदि बनाने का अभिप्राय नहीं है। पर इससे यह न समझ लेना चाहिए कि बालक हाथ के कामों का अपने जीवन में प्रयोग ही न करेंगे। वे अपने जीवन में अवश्य प्रयोग करेंगे और अध्यापक इन प्रयोगों को इस प्रकार चालू करेंगे, जिससे कि शिक्षा का भी उद्देश्य पूरा होता चलेगा। जब तक बालक की इच्छा उसके दृष्टिकोण से पूरी नहीं होती तब तक वह काम पूर्ण रूप से शिक्षाप्रद नहीं हो सकता। उपर्युक्त पद्धति का अवलम्बन करके बालकों को शिक्षा भी आसानी से दी जा सकती है, साथ ही हाथ के काम-धंधे भी उन्हें सिखाये जा सकते हैं। सही पद्धति भी तभी सफल होगी जब कि कार्यकर्ता योग्य और चतुर हों।

बच्चा जब संसार में आता है तब उसके लिए सभी वस्तुएँ नवीन रहती हैं। केवल आँखों से ही यदि पूरा पूरा ज्ञान हो जाया करता तो लोगों को चीज़ों को छूकर और उलट-पलटकर देखने की इच्छा क्यों होती? बड़े होने पर परिचय होते होते यह कौतूहल धीरे-धीरे पास-पड़ोस की चीज़ों के सम्बन्ध में शान्त होता जाता है और दूर तथा नवीन चीज़ों के लिए बढ़ता जाता है। किसी-किसी का कौतूहल बड़े होने पर देखी हुई वस्तुओं के सम्बन्ध में कम होकर सूक्ष्म वस्तुओं की ओर बढ़ चलता है। अध्यापक को चाहिए कि इस प्रवृत्ति का प्रयोग शिक्षा में यथेष्ट मात्रा में करे। हस्त-कौशल इसके लिए एक सबसे सुगम मार्ग है।

हस्त-कौशल की शिक्षा का महत्त्व इस कारण अधिक है कि बालक इस विषय में भिन्न-भिन्न वस्तुओं को बनाने की इच्छा से अपने हाथ से छूते हैं, परखते हैं, उलटते-पलटते हैं, देखते-भालते हैं और इस प्रकार उनका सार्थक निरीक्षण करते हुए बहुत-सी उपयोगी बातें स्थायी रूप से सीख जाते हैं। वस्तु-पाठ, प्रकृति निरीक्षण व ड्राइंग बड़ी सुगमता के साथ हस्त-कौशल के साथ

मिलाये जा सकते हैं। इससे इन विषयों को स्वयं लाभ पहुँचेगा। जितनी बातें इस प्रकार बालक सीखता है उन्हें वह शीघ्र नहीं भूलता है। क्योंकि वे नसों, तन्तुओं लौर पेशियों-द्वारा मस्तिष्क के केन्द्रों में भली-भाँति अङ्कित और सम्बन्धित हो जाती हैं। पुस्तकीय ज्ञान प्राप्त करने में केवल आँख, कान और होंठ का प्रयोग किया जाता है। इन आवश्यक अंगों के साथ-साथ नसों, तंतुओं और पेशियों का मिलाप करके शिक्षा को पूर्ण करना हस्त-कौशल का सबसे बड़ा काम है।

बालक कभी ख़ाली नहीं बैठ सकता है। वह सदा कुछ न कुछ करना और कहना चाहता है। बड़ी अवस्था के लोग भी ख़ाली हाथ नहीं बैठ सकते हैं। कहीं किसी से मिलने जाइए और यदि देर होने की सम्भावना है तो तब तक समाचार-पत्र ही से मिलिए। जब यह बात बड़े-बूढ़ों में पाई जाती है तो भला चंचल बालक, जिनके लिए अधिकांश वस्तुएँ नवीन हैं, कैसे ख़ाली हाथ बैठ सकते हैं। बन्दर और बालक दोनों ही बहुधा एक ही स्वभाव के माने जाते हैं। बालक कभी एक खिलौने को उठाता है तो कभी दूसरे को। कभी इस डिब्बे को खोलता है तो कभी उस बक्स को इत्यादि। तात्पर्य यह कि वह सदा कुछ न कुछ करता ही रहना चाहता है। उसके खेल उसकी भौतिक और सामाजिक परिस्थिति के प्रतिबिम्ब हैं। हस्त-कौशल बालकों की रस-विधायक प्रवृत्ति को शिक्षित करते हुए मानसिक और निर्माणात्मक कल्पना को विकसित करने के लिए अत्यन्त उपयोगी और उत्तम साधन है।

यह बालक के स्वभाव के बिलकुल विपरीत है कि अध्यापक उसे बैठाकर सिखाता जावे और उसके दिमाग को बोतल की भाँति भरता जावे। हस्त-कौशल की योजना बच्चों के स्वभाव के अनुकूल है। क्योंकि इसमें उन्हें कार्य करने का अवसर प्राप्त होता है।

जिस समय बालक हस्त-कौशल के कमरे में घुसता है, वह इस बात को जानता है कि मैं क्या कर सकता हूँ और क्या नहीं कर सकता हूँ। जब वह काम प्रारम्भ करता है तो देखता है और प्रत्यक्ष रूप से देखता है कि उसकी बनाई हुई वस्तु उसके अन्दरूनी भाव के अनुसार है या नहीं। वह उसकी आवश्यकता की पूर्ति कर सकेगा या नहीं। परखने की कसौटी स्वयं उसी में है। यह बात और विषयों में बहुत कम पाई जाती है। इसी लिए उनके द्वारा उतना मानसिक विकास नहीं हो सकता है, जितना कि हस्त-कौशल-द्वारा।

हस्त-कौशल में अध्यापक लड़कों के उत्साह को हरा-भरा रक्खें, जिससे

वे अपनी मनोवांछित वस्तु प्राप्त कर सकें। जहाँ तक सम्भव और उचित हो, लड़के स्वयं सब कुछ सोचें और करें। यह एक ऐसा विषय है जिसमें लड़के केवल बैठकर और सुनकर काम नहीं चला सकते हैं। हस्त-कौशल के कमरे में उन्हें सदा मनसा, वाचा, कर्मणा चैतन्य रहना पड़ेगा।

हस्त-कौशल इस आत्मविश्वास को बढ़ाने में भली भाँति सहायता प्रदान कर सकता है। हस्त-कौशल लड़के को विवश करता है कि यह स्वयं सार्थकता के साथ देखे, सोचे तथा उसके अनुसार अपनी कार्य-प्रणाली स्थिर करे। बालक अपनी भूलों को स्वयं दूर करने का प्रयत्न करता है। और जब तक कि उसकी मनचाही वस्तु प्राप्त नहीं हो जाती तब तक वह बराबर प्रयत्न करता जाता है। इस तरह से उसके मन की एकाग्रता, ध्यान, धैर्य, आत्मविश्वास और अनवरत परिश्रम करने की शक्ति दिन-प्रतिदिन बढ़ती जाती है। हस्त-कौशल में बालक जो कुछ प्राप्त करता है वह केवल सुनकर, पढ़कर, बहस करके नहीं प्राप्त कर सकता बल्कि साथ ही साथ सार्थक निरीक्षण कर, परख कर और कर्म करके प्राप्त करता है। इसलिए ऐसा ज्ञान अधिक स्थायी और उपयोगी होता है।

शिक्षा भी एक लगातार अग्रगमन की क्रिया है। प्रत्येक पड़ाव पर शिक्षा का लक्ष्य यह है कि पिछली उन्नति द्वारा आगे की उन्नति और तीव्रता अथवा योग्यता के साथ की जा सके। शिक्षा का अर्थ यह नहीं है कि लड़कों को किसी ख़ास भविष्य के लिए तैयार कर रहे हैं। उस भविष्य की केवल आभा-मात्र मिल सकती है। उसका सच्चा सच्चा रूप नहीं प्राप्त हो सकता है। शिक्षा का अर्थ तैयारी नहीं है, बल्कि प्रगति है। किसी का भी भविष्य निश्चित नहीं है। मनुष्य की शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि वह अपने चरित्र की दृढ़ता के कारण प्रतिकूल से भी प्रतिकूल परिस्थिति का मुक़ाबला कर सके।

हस्तकौशल में धन्धे लिये गये हैं। धन्धे का सच्चा अर्थ उस प्रकार के काम से प्रकट होता है जिसके द्वारा बालक उन क्रियाओं को करता है जो कि समाज के जीवन की रक्षा के लिए स्कूल के बाहर की जा रही हैं। यथा :— भोजन बनाना और सिलाई तथा बुनाई आदि का काम।

ऐसे धन्धों की विशेषता यह है कि वे अनुभव के बौद्धिक और व्यावहारिक दोनों अङ्गों को साधे रहते हैं। यदि धन्धे के केवल शारीरिक और व्यावहारिक ही अङ्ग पर सब ध्यान केन्द्रित किया जाय तो उसे स्कूलों में रखना और न रखना बराबर है। हस्त-कौशल की योजना चलाने में यही सबसे बड़ा भय है। इसी लिए शिक्षण-पद्धति के ऊपर प्रकाश डालने के पहले इन आवश्यक

बातों का विस्तृत रूप से विवेचन करना पड़ा है। इनको समझे बिना हस्त-कौशल की शिक्षण-पद्धति निश्चित करना असम्भव है।

इसमें लेशमात्र भी सन्देह नहीं है कि बच्चों को धन्धों में बहुत ही रुचि होती है। स्कूल के बाहर जाकर बालक क्या करना पसन्द करते हैं? वे उन्हीं धन्धों को करना पसन्द करते हैं जो कि उनके चारों ओर होते रहते हैं।

हस्त-कौशल की योजना का ध्येय यह है कि विद्यार्थी प्राइमरी स्कूल के अन्य विषयों के ज्ञान का अपने प्रतिदिन के व्यक्तिगत तथा सामाजिक उपयोग की वस्तुओं के बनाने में अपनी शक्ति तथा साधनानुसार प्रयोग कर सकें। साथ ही साथ वे उन विषयों के सीखने में केवल आँख, कान और जिह्वा के अतिरिक्त हाथ का भी प्रयोग कर सकें। हाथ का प्रयोग इस तरह से कराया जाय, कि उसकी सहायता से बालक अन्य विषयों का ज्ञान अधिक चमत्कारी के साथ अर्जन कर सकें और हाथ का काम अधिक रुचि और गर्व के साथ करें। इस प्रकार के भाव की देश में इस समय अत्यन्त आवश्यकता है।

यदि अध्यापक अनुभवी और योग्य है तो उसे बहुत विधि बतलाने की आवश्यकता नहीं है। अपनी लगन के कारण वह स्वयं बहुत कुछ उपयोगी और उत्तम पद्धतियाँ खोज निकालेगा। विधि बनाने में उसकी सजग आँखें बहुत कुछ सहायता देंगी। प्रत्येक अध्यापक की विधि अपनी अपनी योग्यता और अनुभव के अनुसार एक दूसरे से भिन्न होती है। देश, काल तथा पात्र देखकर विधि का प्रयोग करना चाहिए।

प्रत्येक अध्यापक को यह जानना नितान्त आवश्यक है कि सीखने के नियम क्या क्या हैं। कोई बात या काम उसी समय भली भाँति सीखा हुआ कहा जा सकता है जब कि वह बात या काम ठीक समय और उपयुक्त स्थान पर व्यवहार में केवल लाया ही न जा सके बल्कि वास्तव में लाया जावे। ऐसे गतिमान् सीखने के मुख्य मुख्य नियम ये हैं।

(१) संसार की जितनी बातें हैं उन सबसे परिचित होना प्रत्येक व्यक्ति के लिए आवश्यक नहीं है। जिन बातों या कामों को सीखना अत्यन्त आवश्यक है उनका विधिपूर्वक अभ्यास किये बिना काम चलना असम्भव है।

(२) बालक जितनी बातें करता है उनमें से केवल उन्हीं क्रियाओं को सीखता है जिनमें उसे सफलता प्राप्त होती है और रुचि होती है।

(३) स्कूल और समाज में जितनी ही अधिक समानता होगी उतना ही

इस दृष्टि से लाभ होगा। इसलिए हस्त-कौशल की योजना-द्वारा स्कूल और समाज को निकट ले जाना अत्यन्त आवश्यक है।

(४) जो कुछ स्कूल के एक विषय में सीखा जावे उसका सम्बन्ध अन्य विषयों से कर दिया जावे तो सीखी हुई बात अधिक पुष्ट हो जाती है।

(५) सीख कभी भी बिछुड़ी हुई नहीं रहती है। उसके कई और अङ्ग भी बने रहते हैं। एक मामूली-सी बात ही पर ध्यान देकर देख लीजिए। जिस समय बालक कोई कविता याद करता है उस समय वह केवल कविता ही नहीं सीखता है, बल्कि साथ ही साथ कविता और उसके लेखक के प्रति आदर, देश-प्रेम, अध्यापक और स्कूल के प्रति प्रेम इत्यादि भी सीखता जाता है।

उतना ही सिखाया जावे जितना कि बालक पचा सके। हस्त-कौशल की स्कीम में इसका प्रयोग भली भाँति किया जा सकता है। जहाँ तक हो सके हस्त-कौशल के द्वारा बालक को अपने अस्तित्व को सिद्ध करने में सहायता दी जाय। इससे चरित्र-बल बढ़ेगा।

यदि अध्यापक लड़कों की आवश्यकता के अनुसार स्कूल का कार्य करता है और उसी के अनुसार उसकी शिक्षण-पद्धति भी है तो कक्षा में थकावट भी शीघ्र स्थान नहीं पाती। इसी लिए बड़े बड़े धुरंधर शिक्षक इस बात पर अधिक ज़ोर देते हैं कि स्कूल बालकों के योग्य बनाये जायँ न कि बालक स्कूलों के योग्य। ऐसा करने से बच्चों की अमूल्य शक्तियों और समय का दुरुपयोग न होगा, और बालक कम परिश्रम से ही विज्ञ और सदाचारी बनाये जा सकेंगे। इसलिए कम से कम हस्त-कौशल में रुचिपूर्ण विधि का प्रयोग करना आवश्यक है।

प्रत्येक विषय की शिक्षण-पद्धति के लिए शिक्षा के नियमों से तीन स्वाभाविक सिद्धान्त निकलते हैं—(क) स्वकीय कर्म-सिद्धान्त, (ख) परिचित-परिस्थिति-सिद्धान्त, (ग) एकाग्रचित्त-शिक्षा-सिद्धान्त।

(क) स्वकीय कर्म-सिद्धान्त—प्राइमरी स्कूल का बालक स्वभाव ही से अन्वेषी, स्रष्टा और बहुधा संहारक होता है उसे किसी प्रकार भी भय या चिन्ता नहीं होती। चीं चीं करनेवाला खिलौना आया और आपने चुपचाप तोड़कर देखना प्रारम्भ कर दिया कि इसके अन्दर कौन-सी चीज़ है जो चीं चीं किया करती है। आजकल शिक्षा में जो भूल की जा रही है वह यह है कि बालक पर दबाव डाला जाता है, उसे सदैव नक़ल करने के लिए विवश किया जाता है। उसे इस बात का अवसर नहीं दिया जाता कि वह स्वयं अपनी बुद्धि और इच्छा

से कुछ कर सके। कक्षा में अध्यापक ही केन्द्र बना रहता है, बालक को केन्द्र बनने का अवसर ही नहीं प्राप्त होता।

अध्यापक का कार्य यह है कि वह बालकों के हृदय में साहस तथा उत्साह उत्पन्न करे और समय समय पर परामर्श देता रहे। बालकों के लिए अध्यापक प्रत्येक वस्तु का ज्ञाता है। वे उससे सभी प्रकार के प्रश्न कर सकते हैं। वे अध्यापक को जीता-जागता विश्वकोष समझते हैं।

बालक का शरीर और मन उसी समय पूर्ण रूप से मिलकर काम कर सकेंगे जब कि स्वकीय कर्म का सिद्धान्त स्कूलों में काम में आने लगेगा। इस विधि का प्रयोग हस्त-कौशल में भली भाँति लैना चाहिए। बालकों को यथाशक्ति निरीक्षण अपने आप करने देना चाहिए। बालकों को स्वयं कुछ न कुछ सीखने और करने की अभिलाषा स्वाभाविक रहती है। अध्यापक को उचित है कि इस जिज्ञासा को बुझने न दे। बल्कि उत्तरोत्तर सावधानी के साथ सींचकर उसकी वृद्धि करता चले। बालकों के निजी भाव-प्रदर्शन को दबाना भारी भूल है। हस्त-कौशल में एक बड़ी विशेषता यह है कि वह सब शक्तियों को सुडौलता के साथ बढ़ाता है। हस्त-कौशल भाषा के साथ साथ भाव-प्रदर्शन का दूसरा साधन हो जाता है।

(ख) परिचित-परिस्थिति-सिद्धान्त—बालक जब अपने स्कूल में प्रवेश करता है तो वह कोरी स्लेट नहीं होता है। उसके मस्तिष्क में बहुत-सी घर की और पड़ोस की बातें पहले से ही जड़ जमाये रहती हैं। अध्यापक के लिए ये अत्यन्त उत्तम साधन हैं जिनके सहारे कि वह बालकों को सच्चरित्रता की शिक्षा दे सकता है। इसलिए हस्त-कौशल की स्कीम के लिए प्रचुर सामग्री प्राप्त हो सकती है। अध्यापक केवल बच्चों का निरीक्षण करते रहें और सहानुभूति के साथ उनके अन्तःकरण तक पहुँचते रहें तो हाथ के काम के लिए मसाले की कमी नहीं हो सकती।

इसी लिए स्वकीय कर्म के सिद्धान्त के साथ साथ परिचित-परिस्थिति का सिद्धान्त भी जोड़ना पड़ता है। पहला सिद्धान्त विधि बतलाता है तो दूसरा योजना की नींव दिखाता है।

इसलिए स्कूल की जितनी क्रियायें हों, उन सभी का वास्तविक परिस्थितियों में होना आवश्यक है। कम से कम हस्त-कौशल में तो अवश्य ही ऐसा होना चाहिए। यह भी मानी हुई बात है कि परिस्थिति सदा एक-सी नहीं रहती है। आजकल के करीक्यूलम का जो दोष है, वह यह है कि जीवित-जागृत संसार

तो विज्ञान के द्वारा हिरन की तरह छलाँग मारता हुआ बड़ी तेज़ी के साथ बढ़ा चला जा रहा है पर स्कूली कागज़ी संसार अपने पवित्र विषयों और उनकी शिक्षण-पद्धतियों-सहित लँगड़ाता हुआ कछुवे की चाल से रेंगता रहा है।

(ग) **एकाग्रचित्त-शिक्षा-सिद्धान्त**—अब यह प्रश्न उठता है कि क्या बालकों को उनकी इच्छा पर छोड़ देना चाहिए? वे स्वतन्त्र भाव से जैसा चाहें वैसा करें? यदि ऐसा किया जाय, तो संभव है कि बालक कुछ भी न करें।

इसका बहुत कुछ समाधान धन्धों और बालकों के स्वभाव के सम्बन्ध में कही हुई बातों से हो जावेगा।

हस्त-कौशल का समय ऐसा रक्खा जाय कि घंटा उसे समाप्त करने के लिए विवश न कर दे। घंटे के कारण काम अपूर्ण रह जाता है। उसके साथ साथ प्रयत्न की डोर टूट जाती है। वह काम, जिसमें मन इतनी एकाग्रता से लगा हुआ है, विवश होकर छोड़ देना पड़ता है। घड़ी की सुई के एक निर्दिष्ट स्थान पर पहुँचते ही ऐसे काम अधूड़े ही छूट जाते हैं और दूसरी तरह के काम हाथ में लेने पड़ते हैं। इस कारण बहुत-सी शक्ति नष्ट हो जाती है।

कम से कम हस्त-कौशल में घड़ी की सुई के स्थान पर बालकों के अन्दर स्वभाव और मानसिक आवश्यकता की घड़ी की सुई को देखना विशेष उपकारी है। शिक्षा ऐक्य है और केन्द्रित है। इसे अच्छे प्रकार समझ लेना चाहिए। जहाँ विभाग किया गया वहाँ प्रयास भी विभक्त हो जाता है। विभाग और भिन्न भिन्न विषय बालकों की शिक्षा में रुकावट डालते हैं। जब तक बालकों की रुचि रहे तब तक उन्हें एक ही काम करने दिया जाय तो अच्छी शिक्षा दी जा सकती है।

यह बिलकुल ठीक है कि इस सकर्मक विधि में अध्यापक के उत्तर-दायित्व के साथ साथ उसका काम भी बढ़ जाता है। और इसमें उसे परिश्रम भी अधिक पड़ता है। परन्तु यह बात प्रारम्भ में नहीं होगी। आगे चलकर रोच-कता के साथ साथ अभ्यास पड़ जाने पर यह मेथड् कठिन नहीं प्रतीत होगा। स्कूल के अन्य विषय किस प्रकार हस्त-कौशल से स्वाभाविक रूप से सम्बद्ध हो जायँ इसका अधिक ध्यान रखना पड़ेगा।

मनोविज्ञान और तर्क-शास्त्र के मेथड् का अर्थ भले प्रकार से समझ लेना भी हस्त-कौशल के मेथड् के लिए आवश्यक है। इन्हीं के साथ साथ यह भी समझ लेना चाहिए कि साधक विषयों की विधि और रचनात्मक विषयों की

विधि एक नहीं है। बालक के अक्षर-विन्यास करने में योग, अन्तर और गुणा, भाग आदि निकालने में नक़शे के ख़ाके में किसी नगर या नदी आदि का उचित स्थान पर निर्देश करने में मौलिकता की कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु शिक्षा-सम्बन्धी हस्त-कौशल में इसकी आवश्यकता है, क्योंकि इसमें रचनात्मक और निर्माणात्मक कल्पना-शक्ति का विकास करना है। उत्पादन और स्वयं प्रकाशन अपने आप पैदा नहीं होते हैं। ये उसी समय उत्पन्न होते हैं जब कि बालकों के सम्मुख उनके उपयुक्त सामग्री उपस्थित हो और अध्यापक उनका ठीक समय पर प्रयोग करके बालकों को उत्तेजित कर सकें।

हस्त-कौशल की कक्षा में अध्यापक का मुख्य काम यह नहीं है कि वह कोई चीज़ रख दे और बालक उसकी नक़ल करने बैठ जायँ। बस एक मिट्टी का रङ्गीन आम रख दिया गया और लड़के उसी को बनाने लगे। अध्यापक का वास्तविक और मुख्य काम यह है कि पहले वह बालकों के उन भावों और आवश्यकताओं का भली भाँति पता लगावे जिनका कि बालक अनुभव कर रहे हों। इस बात का पता लगा चुकने के बाद अध्यापक का कर्तव्य है कि वह बालकों को उनके मनोभावों के अनुकूल ही कुछ ऐसे साधन प्राप्त करने का पथ-प्रदर्शन करे जिससे कि बालक अपनी आवश्यकता की पूर्ति कर सकें। हस्त-कौशल का विषय स्कूल के अन्य पाठ्य विषयों में अपने आप ही अपना स्थान बना लेगा। यह ऐसा रोचक विषय है कि जहाँ पहुँचेगा वहीं अपना चमत्कार दिखाये बिना नहीं रहेगा। भाषा, गणित, भूगोल, इतिहास, वस्तुपाठ, प्रकृतिनिरीक्षण, स्वास्थ्य-रक्षा तथा विज्ञान आदि कोई भी ऐसा विषय नहीं है, जो इसके प्रभाव से बच सके। इसलिए इस विषय की शिक्षा किसी एक घंटे में ही नहीं आबद्ध रक्खी जा सकती।

इस समय विज्ञान के युग में हस्त-कौशल के प्रायः तीन मुख्य मुख्य विभाग मिलते हैं। शिक्षकों ने अनुभव और अनुसंधान से अन्तिम विभाग को शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बतलाया है।

आज-कल प्रायः लकड़ी का ही काम हस्त-कौशल समझा जाता है। पर इसके अतिरिक्त और भी हाथ के काम हैं। केवल लकड़ी के ही काम से बालकों को पर्याप्त रोचकता नहीं प्राप्त होती और न केवल इसी से सौंदर्य-बुद्धि का ही पर्याप्त मात्रा में विकास होता है, जो कि सच्चरित्रता की जड़ है।

चाहे किसी प्रकार का भी हस्त-कौशल हो, उसके बहुधा दो विभाग हो जाते हैं—एक रीति और दूसरा फल। पहले स्टेज में इँगलेंड में लकड़ी का

काम रीति ही रीति था, फल कुछ नहीं था। लड़के बहुत-से क्रमबद्ध कार्य जैसे रंदा करना, आरी चलाना इत्यादि छोटे छोटे लकड़ी के टुकड़ों पर करते थे, जो कि बाद में किसी उपयोगी कार्य में नहीं लाये जा सकते थे। इसलिए उनके परिश्रम का कोई फल कुछ नही था। इसलिए बाद को वे लकड़ी के टुकड़े या तो फेंक दिये जाते थे या जला दिये जाते थे। बहुत प्रकार के जोड़ बनाये जाते थे जो कि केवल अभ्यास के लिए थे। यह सब क्यों किया जाता था ? क्योंकि तर्क-ज्ञान-विषयक मेथड् का उस समय प्रचार था। इसके उपरान्त भूल धीरे धीरे मालूम हुई और दूसरा स्टेज प्रारम्भ हुआ। इसके साथ साथ फल का भाग्योदय हुआ और इसका मूल्य मालूम होने लगा। फिर भी फल को रीति की दासता से मुक्ति नहीं मिली। फल अवश्य हो परन्तु रीति का क्रम जो स्थिर था टूटने नहीं पाता था। रीति का फल उपयोगी तो अवश्य हुआ, परन्तु वह बालक की दृष्टि नहीं बल्कि परिपक्व मनुष्य की दृष्टि से। शिक्षा की दृष्टि से पहले स्टेज की अपेक्षा दूसरे में लाभ अवश्य हुआ, परन्तु उतना नहीं हुआ जितना कि स्वाभाविक मनोविज्ञान-विषयक मेथड् से होता है।

हस्त-कौशल की जो योजना प्राइमरी स्कूल के लिए बनाई गई है वह तीसरे स्टेज का ध्यान रखकर बनी है। इस तीसरे स्टेज की विशेषता यह है कि बालकों की प्रबल इच्छा ही किसी वस्तु को बनाने के लिए चुनती है। इस स्टेज में रीति को फल का अनुगामी होना पड़ेगा। लकड़ी ही के काम में नहीं, बल्कि सिलाई, बुनाई, व मिट्टी, काग़ज़ आदि के कामों में भी ऐसा ही करना उचित है।

सारांश यह है कि पहले स्टेज में जो चीज़ें बालक बनाते थे, वे किसी के भी उपयोग में नहीं आती थीं। दूसरे स्टेज में चीज़ें ऐसी बनती हैं, जो बहुधा किसी परिपक्व मनुष्य के उपयोग की होती हैं, बालक के उपयोग की नही। तीसरे स्टेज में बालक जो कुछ बनाता है वह अपने ही लिए बनाता है और उन्हीं के द्वारा अपने भावों और आवश्यकताओं का प्रदर्शन करता है।

अभ्यास उतना ही कराया जाय, जितना कि बालक को इच्छित वस्तु के बनाने मे सहायता दे सके। यह मानी हुई बात है कि यदि बालक हृदय से किसी वस्तु को बनाना चाहता है तो उसे विवश हो अभ्यास करना ही पड़ेगा, क्योंकि बिना अभ्यास किये हुए वह अपनी मनोवाञ्छित वस्तु कदापि नहीं प्राप्त कर सकता।

बालकों के सामने किसी विषय के उपस्थित करने के लिए मनोवैज्ञानिक

ढङ्ग सबसे उत्तम है। यह बालकों की प्रकृति के अनुकूल है। इसी विधि का प्रयोग हस्त-कौशल में करना चाहिए क्योंकि इस विधि का प्रधान लक्ष्य बालकों के चरित्र का गठन करना तथा उन्हें योग्य नागरिक बनाना है।

इस मनोविज्ञान-विषयक विधि से पढ़ाने के कुछ नमूने इस उद्देश्य से दिये जाते हैं जिससे कि अध्यापक के विचार निर्मल तथा पुष्ट हो जायँ।

(१) आज-कल स्कूलों में ड्राइङ्ग सिखाने का ढंग तर्क-ज्ञान-विषयक है। लाइनों से ड्राइंग का प्रारम्भ किया जाता है और धीरे धीरे क्रमबद्ध अभ्यास करके बालक अपना इस सम्बन्ध का ज्ञान बढ़ाता है। निरर्थक सीधी और टेढ़ी रेखाओं को बालक विवश होकर खींचता रहता है। इस प्रकार का अभ्यास बालकों की मनोवृत्ति के अनुकूल नहीं है। ड्राइंग भी एक प्रकार की भाषा है। मनुष्य-जाति की यह आदिम भाषा है। इसलिए यह सर्वव्यापी भाषा है। ड्राइंग सिखाने में इस बात का विचार प्रारम्भ से रखना चाहिए कि बालक ड्राइंग के द्वारा अपने भावों को प्रकट करने का अभ्यास करे।

बालक का सम्बन्ध आदमियों से और विशेषकर अपने घरवालों से अधिक रहता है। इसलिए वह आदमी की शकल बनाना अधिक पसन्द करता है। यह स्वाभाविक है कि यह ड्राइंग सन्तोषजनक नहीं होगी। पर यहाँ तो बालक के प्रयास की क्रिया मुख्य है। उस ड्राइंग का यदि कोई मूल्य है तो सबसे बड़ा मूल्य यही कि इसके द्वारा बालक का मनोभाव व्यक्त हुआ है।

अध्यापक का मुख्य कर्त्तव्य यह है कि वह धीरे धीरे स्वाभाविक रीति से प्रतिदिन बालक को ऊँचे धरातल पर उठने में सहायता देता चले।

जब बालक आदमी की इतनी ड्राइंग अपने आप बना लेता है तब अध्यापक बालक की इस छोटी-सी पूँजी पर रंदा लगाना प्रारम्भ कर देता है। धीरे धीरे बालक को विदित होने लगता है कि मनुष्य का शरीर लम्बा होता है, हाथ-पाँव मोटे होते हैं, प्रत्येक स्थान पर वह एक-सा मोटा और तीर की तरह सीधा नहीं होता है। शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों में जोड़ भी होते हैं। इन्हीं बातों का जब ज्ञान बढ़ने लगता है तो बालक धीरे धीरे मनुष्य के भिन्न भिन्न भावों को प्रदर्शित करने लगता है। इस तरह से बालक अपने शरीर को भी अधिक अच्छी तरह से समझने लगता है। साथ ही उसे कुछ न कुछ स्वास्थ्य-सम्बन्धी ज्ञान भी प्राप्त हो जाता है।

शिक्षा-सिद्धान्त के अनुसार हस्त-कौशल में बालकों की त्रुटियों के सुधार के लिए श्रेणीबद्ध पद्धति अत्यन्त उत्तम और लाभप्रद है। मान लीजिए कि

बालकों ने आदमी की पहली ड्राइंग बनाई है। कक्षा के बालकों की बनाई हुई सारी शकलें अच्छाई-बुराई के विचार से लाक्षणिक समुदायों में सजा दी जाती हैं। मान लीजिए कि कक्षा में कुल ३५ विद्यार्थी हैं तो सम्भव है कि ड्राइंग के ५, ६ या ७ समुदाय हो जावें। यह विभाग ड्राइंग समाप्त होते ही नहीं कर दिया जाता है। पहले बालकों के साथ ड्राइंग की अच्छाई-बुराई पर आपस में बहस होती है। विभाग करने का सिद्धान्त हर एक बालक के सामने प्रकट हो जाता है। विभाग हो चुकने पर अन्तिम समुदाय की ड्राइंग के बालकों को संकेत दिया जाता है कि वे अपने से ठीक ऊपरवाले समुदाय की भाँति अपनी अपनी ड्राइंग कर लेवें, जिससे बाद को वैसी छोटी छोटी भूलें न होने पावें। इसी प्रकार और समुदायवाले भी करते हैं। जो सबसे ऊपरवाला समुदाय है, उसके लिए अध्यापक स्वयं और और भाव प्रदर्शित करने के लिए संकेत देता है। इस तरह से बालक अपने ही साथियों से उत्तेजित होकर आगे बढ़ते जाते हैं। कापियों के चित्रों से ड्राइंग बनाना नक़ल है। उसमें अपना भाव-प्रदर्शन नहीं होता है। बालक अपने साथियों के विभाजित किये हुए समुदायों की ड्राइंग से उत्साहित होकर धीरे धीरे सबसे ऊँचेवाले समुदाय की ओर बढ़ते चलते हैं। और क्रमशः समुदायों की संख्या भी कम होती जाती है।

२—ड्राइंग, प्रकृति-निरीक्षण, वस्तु-पाठ और भाषा स्वाभाविक रूप से एक साथ मिलाये जा सकते हैं। मान लीजिए कि कोई बालक गेंद फेंकने के भाव का प्रदर्शन ड्राइंग-द्वारा करने जा रहा है। बालक को यह काम पहले अपने आप करने देना चाहिए। जब ड्राइंग समाप्त हो जाय तब ड्राइंग का विश्लेषण बालकों की सहायता से किया जाय। बालक ने जैसी ड्राइंग खींची है, उसी प्रकार की मुद्रा का अनुसरण करके देखता है। कक्षा के और बालक भी देखते हैं और अध्यापक की सहायता से उस ड्राइंग पर टिप्पणी करते हैं। प्रत्येक बालक इसी प्रकार अपने अपने शरीर का निरीक्षण और परीक्षा करता है। पेशियों और पुट्ठों का निरीक्षण किया जाता है। इस प्रकार का निरीक्षण भिन्न भिन्न ढङ्गों से खड़े होकर भिन्न भिन्न रूपों का अध्ययन करके किया जाता है, किताबें पढ़कर नहीं। शरीर के भिन्न भिन्न अङ्गों का अनुपात निकाला जाता है। बालक इस प्रकार से बिना अध्यापक के बतलाये हुए इस बात का पता लगाते हैं कि अपने बालिश्त के बराबर प्रत्येक के चेहरे की उँचाई होती है। इत्यादि। इसी प्रकार बहुत-सी बातें बालक स्वयं करके निकालते हैं। अध्यापक और पुस्तकें इनकी केवल पुष्टि करते हैं।

३—जब किसी पेड़ की ड्राइंग खींचनी होती है तो बालक उसकी वृद्धि का अध्ययन अपने आप करते हैं। बीज से लेकर फल तक जितने भी परिवर्त्तन पेड़ों में होते हैं, उन सबका ज्ञान बालक अपने उद्योग से प्राप्त करते हैं। यद्यपि काग़ज़ी ज्ञान की अपेक्षा इसकी मात्रा कम होगी और समय भी अधिक लगेगा पर यह स्थायी होता है।

इस प्रकार बालक की सच्ची विश्लेषण-शक्ति बढ़ती जाती है। धीरे धीरे जानवरों पर, अड़ोस-पड़ोस की वस्तुओं पर, और अन्त में गृहों पर इस विन्यास का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार की ड्राइंग से कला भी अपने आप उन्नत होती जाती है।

बालकों की पहली ड्राइंग का जब निरीक्षण और उस पर बहस समाप्त हो जाती है तब वे दूसरी ड्राइंग बनाते हैं। इस दूसरी ड्राइंग में नये भाव और ज्ञान का प्रदर्शन करने से यह पहले की ड्राइंग से उत्तम हो जाता है। इन दोनों की बालक स्वयं तुलना करके देखता है कि वह कितना आगे बढ़ा है। इस प्रकार दूसरों से तुलना करने के स्थान पर वह अपने से तुलना करता हुआ आगे बढ़ता जाता है।

४—प्रकृति का ढाँचा तैयार करना और उसे साक्षात् दिखा देना ड्राइंग का मुख्य कार्य है। ड्राइंग में नक़ल न हो बल्कि कोई नई उत्पत्ति हो, कोई नवीन रचना हो। उपस्थित वस्तुओं को नये तरीक़े से सजाकर भिन्न भिन्न भावों का प्रदर्शन करना रचना करना है। इसी रचना-शक्ति का विकास ड्राइंग का ध्येय है।

रचना और नवीनता का अर्थ यहाँ पर यह नहीं है कि आज तक उसे संसार में किसी ने भी न किया हो। इसका तात्पर्य यहाँ पर यह है कि वह बालक के लिए नवीन हो।

बालकों में यह रचना-शक्ति उपस्थित है। अध्यापक का मुख्य कर्तव्य है कि वह उस शक्ति को ठीक पथ पर अग्रसर करते हुए उसे अधिक से अधिक विकसित करता चले।

मान लीजिए कि एक कक्षा के बालक अपनी अपनी कल्पना-शक्ति के अनुसार एक क़ैंची की शकल बनाने जा रहे हैं। क़ैंची उन्होंने सैकड़ों बार देखी होगी और छुई होगी। ध्यान से देखने से पता चलेगा कि बालक कितनी कठि-नाई से इस साधारण-सी चीज़ की शकल बना सके हैं। फिर भी उनकी ड्राइंग में कितनी त्रुटियाँ मौजूद हैं इसका कारण प्रकट है। कभी उन्होंने इसके पहले

क़ैंची को भली भाँति देखा तक नहीं है। जब सबकी पहली ड्राइंग समाप्त हो चुकती है तो अध्यापक और बालक एक असली क़ैंची का निरीक्षण करते हैं। जब भली भाँति निरीक्षण हो चुकता है तब इस नये ज्ञान और भाव को ध्यान में रखकर वे लोग दूसरी ड्राइंग बनाते हैं। इस प्रकार बालक की निरीक्षण-शक्ति और भाव-प्रदर्शन-शक्ति विशेष रूप से विकसित होती चलती है।

जिस समय हस्त-कौशल का प्रयोग इलाहाबाद के नार्मल स्कूल में हो रहा था उस समय एक दिन अपर प्राइमरी कक्षा के लड़के एक चीनी मिट्टी की तश्तरी रख कर उसकी शकल बनाने जा रहे थे। मैंने कमरे में पहुँचते ही तश्तरी को आलमारी में रखवा दिया। मैंने उनसे कहा कि तुम लोग जिस वस्तु का खिलौना बनाना चाहते हो, उसको बनाओ। उन्होंने तय किया कि आदमी के सिर की शकल बनाई जाय और प्रसन्नता के साथ काम प्रारंभ हो गया। किसी को बात तक करने की फ़ुरसत नहीं थी। सभी बालक शहद की मक्खी की तरह काम करने में तल्लीन हो गये। इस कक्षा में एक बालक ऐसा था जिसे मैंने कभी कक्षा में हँसते नहीं देखा था। वह बालक जब आदमी की मूर्ति बना चुका तो उसे कुछ और करने की सूझी। उसने सोचा कि इसके मूँछें भी होनी चाहिए। धीरे धीरे मूँछें बनाकर उसने उचित स्थान पर जोड़ दीं। अन्त में उसकी ओर देख कर वह खिलखिलाकर हँस पड़ा और अपने आस-पास के बालकों को दिखाने के लिए उत्कंठित हो गया। दूसरे बालक भी किसी न किसी प्रकार की मौलिकता लाने का उद्योग कर रहे थे। कोई काग़ज़ की टोपी बनाकर सिर पर पहना रहे थे, तो कोई पीतल के तार की बाली पहनाने जा रहे थे। हस्त-कौशल का घंटा समाप्त हो जाने पर भी बालक शीघ्र नहीं भागना चाहते थे।

आशा है कि हस्त-कौशल का लक्ष्य और उस लक्ष्य को पूरा करने की पद्धति अध्यापकों की समझ में आ गई होगी। इस पद्धति का प्रयोग करके देखिए। मेरा पूर्ण विश्वास है कि यह पद्धति सच्ची शिक्षा की दृष्टि से अत्यन्त उत्तम है। इसमें लेश-मात्र भी संदेह नहीं।

एकादश अध्याय

शारीरिक शिक्षा

व्यायाम का इतिहास—चीन, फ़ारस, मिस्र तथा भारतवर्ष की प्राचीन-तम ऐतिहासिक पुस्तकों में व्यायाम का वर्णन मिलता है और उस समय जिस प्रकार का व्यायाम होता था उसके चित्र भी प्राप्त होते हैं। किन्तु यूनानी लोग व्यायाम में सबसे बढ़े-चढ़े थे। यह शब्द "जिमिनास्टिक्स" हमें यूनानियों से ही प्राप्त हुआ है। जिन कसरतों को शताब्दियों के अनुभव के बाद उन्होंने अपने यहाँ के व्यायाम में सम्मिलित किया था, उनमें से हम बहुतों को जानते हैं। वे ये हैं :—दौड़ना, कूदना, भाला चलाना, डिसकस फेंकना और कुश्ती लड़ना। इन कसरतों के करने की सामर्थ्य और कुशलता आलम्पिक खेलों में, जो एक प्रकार का धार्मिक उत्सव था, प्रदर्शित की जाती थी। वे खेल प्रत्येक चौथे वर्ष होते थे। यूनानी लोग बहुत-से खेल भी खेलते थे जैसे गेंद का खेल, लीपफ्राग, स्किपिङ्ग (उचकना) आदि।

इसके पश्चात् व्यायाम को उच्च स्थान रोम-साम्राज्य में प्राप्त हुआ परंतु विशेष अवस्थाओं ने, जिनमें रोम नगर शताब्दियों तक रहा, व्यायाम का मुख्य लक्ष्य युद्ध-कला बना दिया था। रोम-निवासियों ने अपना लक्ष्य यूनानियों की भाँति शारीरिक सौन्दर्य को नहीं रक्खा।

ईसाई-मत का प्रचार होते ही बहुत समय के लिए लोगों का ध्यान व्यायाम पर से एकदम हट-सा गया। मध्यकालीन शताब्दियों में बहुत से लोगों ने शिक्षा के ऊपर अपने विचार प्रकट करते समय शारीरिक सुधार और व्यायाम-शिक्षा की आवश्यकता दिखाई थी। जर्मनी में गट्स मेव्स नामक महाशय ने इन विचारों का प्रचार किया, किन्तु समय उन विचारों के लिए अनुकूल नहीं था। इसके पश्चात् उसी देश में 'जॉन' नामक महाशय ने भिन्न भिन्न संस्थाओं में जिम्नास्टिक का प्रचार किया तथा हारीज़ण्टल बार और पैरेलैल बार की कसरतों को उसी ने चलाया।

स्वीडन में व्यायाम-शिक्षा की चर्चा स्कूलों में पी० एच० लिङ्ग महाशय ने छेड़ी और उन्हें प्रतीत हुआ कि व्यायाम-शिक्षा की सफलता के लिए शारी-

रिक बनावट और उसके भिन्न भिन्न अवयवों का जानना अत्यन्त आवश्यक है। उस प्रणाली का प्रचार यूरोप के कई देशों में हो रहा है।

इँगलेंड में खेल ही व्यायाम समझा जाता था, पर व्यायाम-शिक्षा की कमी थी। अब वहाँ स्वीडिश ड्रिल का प्रचार हो रहा है।

अमेरिका में व्यायाम-शिक्षा की बहुत ही कमी थी। नवयुवकों की ऐसी शोचनीय दशा को देखकर वहाँ के लोगों ने शारीरिक शिक्षा की अपनी नवीन अमेरिकन पद्धति प्रचलित की। उसमें आशातीत उन्नति हुई है।

भारतवर्ष के प्राचीन ग्रन्थों को देखने से पता चलता है कि यहाँ पर व्यायाम-शिक्षा का प्रचार ख़ूब था। प्राचीन समय से देखा जा रहा है कि "गुरुकुलों" में व्यायाम-शिक्षा का उचित प्रबन्ध था। मराठों और राजपूतों के समय में भी व्यायाम की ओर अधिक ध्यान रहा और यही कारण है कि ये शूर-वीर, पराक्रमी और रणकुशल बने रहे।

सैकड़ों वर्षों के स्थापित किये हुए अखाड़े अब भी विद्यमान हैं जहाँ डण्ड, बैठक, मुग्दर, जोड़ी, मलखम, कुश्ती, लाठी, भाला, तलवार आदि के व्यायामों की शिक्षा दी जाती है।

अखाड़ों का मुसलमानों के समय में सबसे अधिक उत्थान हुआ। आज-कल भी सैकड़ों आदमी उसी रीत से व्यायाम किया करते हैं। किन्तु अभी तक शिक्षित समाज का ध्यान उस ओर समुचित रूप से नहीं गया।

यही कारण है कि आज तक व्यायाम का वैज्ञानिक दृष्टि से पूरा सुधार नहीं हो सका। भारत में व्यायाम कई प्रकार का था। उदाहरणार्थ प्राणायाम, आसन इत्यादि। जब पाश्चात्य देशों में व्यायाम-शिक्षा का प्रचार ख़ूब बढ़ गया तब भारतवर्ष के प्रायः हर एक प्रान्त में इस सम्बन्ध में चर्चा छिड़ी और कमेटियाँ नियत हुईं। अब विधिपूर्वक तथा नियमानुसार व्यायाम सिखाने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

महत्त्व—बालमनोविज्ञान के आचार्य्य इस सिद्धान्त पर पहुँच गये हैं कि मानसिक और शारीरिक विकास दोनों ही साथ साथ होने चाहिए, नहीं तो शिक्षा अधूरी रह जायगी। यह बड़ी भूल है कि लोग शारीरिक शिक्षा का अभिप्राय केवल खेल या ड्रिल ही समझते हैं। प्रायः शारीरिक शिक्षा का उद्देश्य बल-प्राप्ति व आत्मनिग्रह समझा जाता है।

पाठशालाओं का उद्देश्य बालकों को शिक्षा देना और उनकी शक्तियों का विकास करना है। इस उद्देश्य की पूर्ति तभी हो सकती है जब कि बालक की

शारीरिक और मानसिक दोनों ही शिक्षाओं पर ध्यान दिया जाय। अतः शारीरिक शिक्षा हमारी पाठशालाओं की शिक्षा का एक प्रधान अङ्ग होना चाहिए।

बालक की वृद्धि उसके शरीर की प्रत्येक नस नस में उचित रूप से शुद्ध रक्त पहुँचने पर निर्भर है। उसकी पूर्ति केवल अङ्गसञ्चालन से हो सकती है, और अपने समस्त अङ्गों का सञ्चालन करते रहने की प्रत्येक बालक को स्वभाव से ही इच्छा होती है।

व्यायाम-शिक्षा को पाठशाला के कार्यक्रम का एक अङ्ग बनाने का दूसरा कारण यह है कि विद्यार्थी-जीवन बालकों को एक अनिवार्य्य परिस्थिति में रहने को बाध्य करता है जो कि बालकों की शारीरिक उन्नति के लिए विषतुल्य है।

पाठशाला-सम्बन्धी शिक्षा में प्रथम तो इस बात का ध्यान नहीं रहता कि शिक्षा बालक के लिए है न कि बालक शिक्षा के लिए। दूसरे यह कि विषय अगणित हो सकते हैं परन्तु बालक एक ही है। अतएव शिक्षा ऐसी होनी चाहिए कि जिससे बालक की मानसिक, शारीरिक तथा नैतिक उन्नति साथ साथ हो सके।

शिक्षा-विषयक विचारों में इस प्रकार के परिवर्तन हो जाने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि शारीरिक शिक्षा का अर्थ केवल दैहिक बल तथा मांसपेशियों की कलेवर-वृद्धि ही नहीं है। शरीर को सुन्दर, सुडौल तथा शक्तिशाली बनाने के लिए शरीर-रचना तथा उसके विकास के ज्ञान की भी आवश्यकता है। साथ ही साथ स्वास्थ्य, बुद्धिप्रखरता, सदाचार तथा सामाजिक उन्नति भी शारीरिक शिक्षा के ध्येय हैं।

अतः शारीरिक शिक्षा विद्यार्थियों को इस उद्देश्य से देनी चाहिए कि उनका शरीर हृष्ट-पुष्ट बना रहे और वे अपने जीवन में सब प्रकार की परिस्थितियों का सामना करने योग्य बन सकें। शारीरिक शिक्षा के अन्तर्गत निम्नाङ्कित विषय हैं :—

शारीरिक अवयव और उनकी क्रियायें, तथा उनके विकास का ज्ञान, शरीर की स्वाभाविक आवश्यकताओं का ज्ञान, उन स्वास्थ्य-वर्धक तथा फुर्ती बढ़ानेवाली क्रियाओं का ज्ञान जो कि शरीर के प्रत्येक अवयव को बलिष्ठ बनाते हैं।

व्यायाम का प्रभाव—व्यायाम करने से शरीर की वृद्धि और उसके

अवयवों का विकास होता है। व्यायाम का प्रभाव शरीर के नीचे लिखे अङ्गों पर विशेष रूप से पड़ता है।

1. Circulatory system	१—रक्त-संचालन
2. Respiratory "	२—श्वास लेना
3. Excretory "	३—मल-निर्गमन
4. Muscular " and	४—मांसपेशियाँ
5. Nervous system of the body.	५—नाड़ियाँ

ऐसी कसरतें बालकों के स्वाभाविक अङ्गसञ्चालन, खेलने, कूदने, दौड़ने, उछलने आदि में पाई जाती हैं। यदि इसी अङ्गसञ्चालन के साथ भोजन की पर्याप्त मात्रा, व स्वच्छ वायु मिले तो अभ्युदय-काल में शरीर की वृद्धि में सहायता मिलती है।

शरीर-सुधारक कसरतें वे हैं जिनके करने से शरीर-सम्बन्धी दोष दूर हो जायँ। इस प्रकार की कसरतों में सारा शरीर भाग नहीं लेता बल्कि शरीर के विशेष विशेष अङ्गों से कार्य लिया जाता है जिससे उन्हीं अङ्गों को लाभ पहुँचता है। बहुधा बालकों में मुँह से साँस लेने की कुटेव पड जाती है। इस दोष को दूर करने के लिए साँस लेने का व्यायाम उत्तम है। विद्यार्थियों में प्रायः ये दोष पाये जाते हैं—कूबड़ निकल आना, सीने का भीतर की ओर घुस जाना, पेट का निकलना, टेढ़ी कमर हो जाना, चलने में भद्दापन आना आदि। यह स्पष्ट है कि ये दोष पाठशाला-जनित हैं। इसलिए पाठशाला में शरीर-सुधारक व्यायाम की विशेष आवश्यकता है।

शिक्षा पर प्रभाव—व्यायाम में चरित्र-सुधार की अपूर्व शक्ति होती है। बच्चा बिना जाने हुए ही आत्म-निग्रह और प्रसन्नतापूर्वक आज्ञापालन करना सीखता है।

पिछले समय में व्यायाम-प्रणाली बहुत ही शुष्क थी। परन्तु आधुनिक समय में व्यायाम में खेल को भी सम्मिलित कर लेने से मानसिक थकावट दूर हो जाती है।

पाठशालाओं में व्यायाम का रूप—अब यह प्रश्न होता है कि भारतवर्ष में किस प्रकार की व्यायाम-शिक्षा दी जाय, पूर्वीय ढङ्ग की या पाश्चात्य ढङ्ग की। पाश्चात्य प्रणाली के व्यायाम के प्रचार के कई कारण हैं—पहला कारण तो यह है कि आज-कल उच्च शिक्षा के हेतु बहुत-से विद्यार्थी विदेशों में जा रहे

हैं और लौटने पर वहाँ की शिक्षा-प्रणाली का प्रचार करना चाहते हैं। दूसरे हमें जितनी इस विषय की पुस्तकें प्राप्त हैं वे सब पाश्चात्य विद्वानों की हैं।

पाश्चात्य प्रणाली के लिए उपयुक्त सामान, यहाँ, विशेषतः ग्रामों में अलभ्य है। इस कारण उसका अनुकरण करना वृथा है।

पूर्वीय ढङ्ग के व्यायाम के कई भेद हैं। जैसे कुश्ती, मलखम, लाठी चलाना, भाला चलाना, बनेठी, मुग्दर, बिनवट, आसन, प्राणायाम तथा सूर्य-नमस्कार। सारांश यह है कि कोई भी एक निश्चित पद्धति नहीं है जिसके अनु-सार भारत के सब स्कूलों में एक-से व्यायाम की शिक्षा दी जाय।

व्यायाम लड़कों की आवश्यकता और परिस्थिति पर निर्भर है। सब देशों के बालकों में कूदने, दौड़ने, फेंकने, मारने और खेलने की प्रेरणा होती है और इन्हीं के आधार पर व्यायाम की शिक्षा दी जानी चाहिए। भारतीय कसरतों और खेलों को विज्ञान की दृष्टि से परिवर्तित तथा परिष्कृत करके प्रथम स्थान देना चाहिए। लड़के अपने देश की कसरत करने में और खेल खेलने में अपना गौरव समझते हैं।

भारतीय विद्यार्थियों की शारीरिक रचना में कई दोष पाये जाते हैं। जैसे—कूबड़, दबी हुई छाती, तोंद, टेढ़ी कमर, चलने में भद्दापन आदि। इससे व्यायाम में कुछ ऐसे विभाग होने चाहिए जिनसे शरीर का सुधार हो और विद्यार्थियों के ऊपर लिखे हुए शरीर के दोष दूर हो जायँ। ऐसी शरीर-सुधारक कसरतों की आवश्यकता स्कूल में इसलिए है कि स्कूल में बालकों को बहुत समय तक खेलने-कूदने का अवसर नहीं मिलता, और उन्हें अधिक समय तक शरीर को मोड़ और झुकाकर लिखने-पढ़ने का कार्य करना पड़ता है।

हमारे नवयुवक विद्यार्थियों में बल और अधिक समय तक कार्य करने की सामर्थ्य नहीं होती। इससे ऐसी कसरतें कराना चाहिए जिससे बल और सामर्थ्य प्राप्त हो और शरीर के भीतरी अवयव पुष्ट हो सकें।

उत्साह तथा साहस की वृद्धि के लिए बालकों को कुश्ती, ज्यूजुत्सू, बाक्सिंग, लाठी चलाना आदि सिखाना चाहिए।

खेल-कूद व्यायाम का एक मुख्य अङ्ग है। बिना इसके व्यायाम अधूरा ही होगा। खेल-कूद से अनेक लाभ हैं, जैसे आपस में मित्रता, आज्ञा-पालन करना, क़ानून का मानना, ईमानदारी की आदत लाना, न्याय और आत्मसंयम और सहयोग का भाव उत्पन्न करना। सारांश यह कि खेलों से शारीरिक,

मानसिक और नैतिक सभी प्रकार के लाभ हैं और इसका कारण यह है कि खेलना बाल-प्रकृति के अनुकूल है।

खेल-कूद और व्यायाम में परस्पर सम्बन्ध है। एक दूसरे के बिना शिक्षा अधूरी रहेगी। खेल-कूद से अनेक लाभ होते हुए भी वे व्यायाम का स्थान नहीं ले सकते। खेल-कूद में व्यायाम की तरह क्रमानुसार नियमित वृद्धि नहीं हो सकती।

व्यायाम का समय—स्कूलों में व्यायाम किस समय कराना चाहिए? बिना परिस्थिति देखे हुए समय के विषय में कुछ निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता क्योंकि उसका पालन सब जगह एक प्रकार से नहीं हो सकता। किन्तु यह आवश्यक है कि व्यायाम प्रत्येक ऋतु में निश्चित समय पर होना चाहिए और स्कूलों में जहाँ बरसात और गर्मी में व्यायाम करने की असुविधा हो, इसका उचित प्रबन्ध होना चाहिए। व्यायाम के लिए प्रातःकाल का समय सबसे अच्छा है। यह ध्यान रहे कि व्यायाम करते समय बालक न तो निरे भूखे हों और न उनका पेट ख़ूब भरा हो।

नार्मल स्कूलों में व्यायाम प्रातःकाल सरलता से हो सकता है और सायं-काल के समय में खेल खेले जा सकते हैं।

व्यायाम का घंटा और बालकों की संख्या—व्यायाम का घंटा प्रति-दिन ४० मिनट का प्रत्येक क्लास में होना चाहिए। ४० विद्यार्थियों से अधिक संख्या की टोली से एक समय में काम न लेना चाहिए। शिक्षकों को सिखाने की पद्धति तथा स्वास्थ्य-विद्या का ज्ञान होना चाहिए। पहले बतलाया जा चुका है कि शारीरिक शिक्षा का प्रभाव मानसिक और नैतिक शिक्षा पर अवश्य पड़ता है। अतः ऐसे शिक्षक, जो केवल व्यायाम ही करा सकते हैं, इस कार्य के उपयुक्त नहीं हैं।

प्रत्येक पाठशाला में शारीरिक शिक्षा में ट्रेंड, कई शिक्षक होने चाहिए। क्योंकि एक ही शिक्षक अधिक काल तक शारीरिक परिश्रम नहीं कर सकता।

व्यायाम करते समय बालकों को हलका कपड़ा पहनाना चाहिए। नेकर और आधे अस्तीन की कमीज़, जैसे स्काउट बालक पहनते हैं, स्कूली पोशाक के लिए उपयुक्त हैं। व्यायाम के समय कमरपेटी बहुत कसी न होनी चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि बालक एक बिना अस्तीन की बनियाइन पहन कर कसरत करें और व्यायाम के बाद स्वच्छ मोटे कपड़े से शरीर पोंछकर बनियाइन बदल लें।

छोटे बच्चों के लिए व्यायाम 'आयु ५ से ७ वर्ष'—छोटे बालक शान्त होकर बैठ नहीं सकते; वे अपनी कल्पना-शक्ति से तरह-तरह के खेल ढूंढ़ निकालते हैं और बड़े उत्साह और प्रसन्नता से खेल में मग्न रहते हैं। प्रतिदिन के कार्यों का अनुकरण करने की शक्ति उनमें अधिक होती है। इसी के आधार पर हमें उनसे कार्य भी लेना चाहिए।

पाठशाला में पर्य्याप्त मात्रा में खेलने का अवसर दिया जावे और बालकों की स्वाभाविक प्रवृत्तियों के अनुसार व्यायाम भी इसी खेल के रूप में कराया जावे। खेल ऐसे हों कि जिनमें उन्हें दौड़ना, कूदना और झुकना पड़े। इस प्रकार से खेल के द्वारा व्यायाम कराने से लड़कों का मन प्रसन्न रहेगा।

इस अवस्था में भिन्न भिन्न अङ्गों का व्यायाम पृथक् पृथक् होगा। हमारा काम इस समय यही है कि उनके खेलों की गति को इस प्रकार उपयोगी बनावें जिससे उनका आनन्द बढ़े और उनमें फुर्ती और चेतनता आवे।

छोटे बच्चों को व्यायाम सिखाने के उद्देश्य ये हैं :—

१—चेतनता और फुर्ती से स्वयं काम करने को उत्साहित रहना।

२—निर्भयता और स्वतन्त्रता उत्पादन करना।

३—रक्तसंचालन के वेग को उत्तेजित करना और श्वासोच्छ्वास बढ़ाना।

ऊपर के उद्देश्यों की पूर्ति व्यायाम के प्रकार या ढङ्ग पर निर्भर नहीं है बल्कि सिखाने की रीति पर निर्भर है। कुछ आदेशों का प्रयोग आरम्भ से उपयोग में लाना चाहिए। दौड़ने-कूदने और बैठने में सब एक साथ किसी आदेश या संकेत पर काम करें। किन्तु उसी क्रिया के समय में एक साथ की आशा नहीं करनी चाहिए क्योंकि यह अभी उनकी शक्ति के बाहर है।

बालक आदेश पर काम करने में आनन्दित होते हैं और उनका उत्साह बढ़ाने के लिए प्रतिद्वन्द्विता का आश्रय लिया जा सकता है।

प्रत्येक पाठ में दौड़ना-कूदना, उचकना अधिक होना चाहिए। क्योंकि बालक शीघ्र नहीं थकते। बीच में बैठाकर, लिटाकर या कम परिश्रम के खेल-द्वारा विश्राम दिया जा सकता है।

खेल ऐसे हों जिनमें उन्हें कल्पना-शक्ति का प्रयोग करना पड़े। प्रत्येक कार्य्य एक दूसरे से सम्बन्ध रखता हो। इन कार्य्यों को आज्ञा-द्वारा कराने से बालकों को अत्यन्त आनन्द प्राप्त होता है। कहानी का अभिनय करने में शिक्षक को चाहिए कि स्वयं काम करके बतावे और लड़के उन्हीं कार्य्यों का अनु-

करण करें। उदाहरण के लिए दो पाठ नीचे दिये हैं। ये पाठ शिशु-कक्षा तथा "अ" "ब" क्लास के लिए उपयुक्त हैं।

पहली कहानी

(हनुमानगढ़ी की यात्रा)

१—**आज्ञा-पालन सिखाना**—पाठ आरम्भ होने के पूर्व बालक स्वच्छन्दता से खेलें और जब शिक्षक आज्ञा दे तो सब बालक अपने अपने स्थान पर शान्ति से खड़े हो जावें।

२—**शिक्षक के सामने क्लास का एकत्रित होना**—शिक्षक यह कहकर कि "हमारे पास दौड़कर आओ" क्लास को बुलाकर समझावे कि आज हम हनुमान जी के दर्शन करने के लिए निकटवर्ती बाग़ में चलेंगे।

३—**तेज़ी से चलना और रास्ते में गड्ढे वग़ैरह को कूदना (चलना, कूदना, दौड़ना)**—शिक्षक आगे आगे और बालक उसके पीछे दो दो की जोड़ी में चलें। रास्ते में एक गड्ढा मिलता है। (पहले से दो लकीरें खींचकर गड्ढ बना रखना चाहिए) शिक्षक कूदकर बतावे और बालक भी कूदें। ऐसे तीन चार गड्ढे कुदावे। कभी एक पैर से और कभी दोनों पैर जोड़कर कुदावे।

४—**उड़ते हुए कबूतरों को देखना (पालथी मारकर या खड़े-खड़े गर्दन घुमाना)**—आकाश में कबूतर उड़ रहे हैं। शिक्षक उनकी ओर उँगली से संकेत करके, कभी दायें, कभी बायें और कभी ऊपर संकेत करके गर्दन घुमाने की क्रिया करावे।

५—**ऊँचे वृक्ष के समान सीधे खड़े होना (शरीर-सुधारक कसरत)**—रास्ते में ताड़ के ऊँचे वृक्ष हैं और छोटी छोटी झाड़ियाँ हैं। पहले लड़के छोटी झाड़ियाँ बनें फिर ऊँचे ताड़ के वृक्ष के समान खड़े हों।

६—**मन्दिर के निकट पहुँचना और सीढ़ी पर चढ़ना और बाद को उतरना (घुटना मोड़ना)**—मन्दिर एक ऊँचे स्थान पर है। सीढ़ियाँ बनी हुई हैं, उन पर चढ़ना चाहिए। शिक्षक एक घुटना बारी बारी से उठाकर चढ़ने की क्रिया बतावे। इस प्रकार कई सीढ़ियाँ चढ़ चुकने पर हनुमान जी के दर्शन करते हैं। सब बालक पट लेटकर कई बार **'प्रणाम' करें (पेट की कसरत)**, फिर मन्दिर की परिक्रमा करें **(दायरे में चलना)**। दर्शन हो चुके। अब सीढ़ियाँ उतरने की क्रिया करें अर्थात् शीघ्रता से बारी बारी से घुटना थोड़ा ऊँचा उठाकर काम करें।

७—बाग़ में पहुँचकर अमरूद तोड़कर खाना (जगह पर ऊँचा कूदना)—बाग़ में पहुँचकर शिक्षक अमरूद तोड़ने के लिए कहे। कुछ डालियाँ ऊँची हैं। लेकिन कूद कर अमरूद तोड़े जा सकते हैं।

८—वृक्ष बनें—एक पैर पर खड़े होकर हाथ पार्श्व में उठाकर आम के वृक्ष का नमूना बनाना, पवन चलने से वृक्ष का हिलना। टाँगें दूर करके और हाथ ऊपर तानकर खड़े हों तो बड़ के वृक्ष का नमूना बनेगा। फिर हाथ से भूमि छुयें तो जड़ों का नमूना बनेगा।

९—आम या अमरूद के वृक्षों से फल तोड़ने की क्रिया।

१०—गाड़ी या वृक्ष लादकर घसीटना।

११—लेटकर बाइसिकिल चलाना।

१२—रेलगाड़ी का अनुकरण करना।

दूसरी कहानी

१—स्नान के लिए नदी में जाना—शिक्षक कक्षा को पहले पाठ के समान इकट्ठा करके नदी में स्नान करने के लिए ले जावे (तेज़ चाल से चलना और दौड़ना)।

२—स्नान के लिए तैयार होना—कपड़े उतारना, कई प्रकार की हाथ-पैर और धड़ आदि की क्रियायें करना। जैसे एक पैर पर खड़े होकर जूता, मोज़ा उतारना। हाथ उठाकर कमीज़ या कुर्ता उतारना।

३—रेत में लेटकर पेट फुलाना (साँस का व्यायाम)।

४—दौड़कर पानी में कूदना, जिससे पानी उड़े या उछले।

(क) जोड़ी बनाकर पानी में ग़ोते लगाना।

(ख) जोड़ी बनाकर पानी में उछलना और बैठना।

(ग) पट लेटकर तैरने के लिए हाथ चलाना।

(घ) चित लेट कर पैर से तैरना अर्थात् बारी बारी से घुटना मोड़ना और तानना।

(ङ) पट लेटकर घुटने मोड़ कर हाथ से टख़ने पकड़कर नाव बन कर डोलना।

(च) (घुटने टेककर) अपना सिर पानी में बतख़ के समान डुबोना।

(छ) दौड़कर कपड़ों के पास आना और पहनना।

५—**धोती धोने की क्रिया करना**—ऊँचे पत्थर पर धोती रखकर धोना और बारी बारी से उसे पानी में डुबोना, साफ़ करना, निचोड़ना और फटकारना।

६—**ताली बजाते हुए और गाते हुए घर आना।**

७—**प्रणाम के अनन्तर क्लास की छुट्टी**—ऊपर के वृत्तान्तों की सहायता से कई पाठ तैयार किये जा सकते हैं। इन बातों पर ध्यान रहे :—

(क) पाठ में प्रायः सब अङ्गों (हाथ, पैर, धड़, पीठ) का व्यायाम हो।

(ख) कसरतें शरीरसुधारक, बलवर्धक और उत्साहवर्धक हों।

(ग) आरम्भ तथा अन्त में सरल क्रियायें हों और मध्य में कठिन। नीचे कुछ उदाहरण इस अवस्था के पाठ बनाने के लिए लिखे हैं।

१—**कुएँ से पानी खींचने की क्रिया।**

(क) बर्तन सिर पर रखकर कुएँ के पास आना, उसे उतारना (झुकना, उठाना और चलना)।

(ख) बर्तन रस्सी में बाँध कर कुएँ में डालना (धड़ आगे झुकाना)।

(ग) पानी खींचना (बारी बारी से हाथ मोड़ना और धड़ आगे झुकाना)।

(घ) बर्तन कुएँ से निकालना, रस्सी इकट्ठी करना, बर्तन सिर पर फिर रखना आदि।

नोट—कुएँ के लिए पृथ्वी पर एक वृत्त खींच लेना चाहिए।

२—**पत्थर फेंकने की क्रिया।**

३—**कपड़े धोने की क्रिया।**

४—**लकड़ी कुल्हाड़ी से काटने और आरी से चीरने की क्रिया।**

५—**कंगारू, ऊँट, घोड़ा, कौआ, ख़रगोश आदि की दौड़ का अनुकरण करना।**

६—**नाला कूदना।**

कक्षा तीसरी, चौथी और पाँचवीं

आयु १० से १२ तक

१—**क्लास को एक पंक्ति में उँचाई क अनुसार खड़ा करो।**

एक..............................पंक्ति

तीन या चार नायक चुनकर उन्हें चार चार पगों के अन्तर पर निश्चित स्थानों पर खड़ा करो और क्लास को तीन या चार टोलियों में बाँटो (लड़के दौड़-कर नायकों के पीछे कुछ अन्तर देकर खड़े हों)।

क्लास-नायकों के पीछे—दौड़

२—हुश—यार,—आ—राम की दशा सिखाना।

३—"घूमना" सिखाना।

पहले कूदकर घूमना सिखाया जावे।

कूदकर—दाईं (बाईं)—ओर (मुख) बाद में गिनती-द्वारा दायें, बायें घूमना सिखाना चाहिए। (आज्ञा)

४—(क) (हाथ कमर पर) एँड़ी उठाना १—२ (पाँच बार)

(ख) कूदकर पैर खोलना १—२ (आज्ञा)

५—(क) हाथ पार्श्व में झुलाना (जाँघ पर ताली बजाकर बाद में बिना शब्द किये) १ (एक—आज्ञा)

(ख) हाथ कन्धों पर मोड़ना १—२ (आज्ञा)

(ग) हाथ ऊपर तानना

६—सिर पीछे (आगे) मोड़ना १—२ (आज्ञा)

७—(क) (पैर चौड़े कर धड़ आगे कर) दोनों टख़ने पकड़ना १—२ (आज्ञा)

(ख) दोनों हाथों से एक टख़ना पकड़ना १—२ (आज्ञा)

८—(क) लड़के किसी निश्चित जगह तक जावें और लौट कर अपनी अपनी जगह पर खड़े हों। कभी कभी एक पैर से उछलते हुए किसी निश्चित स्थान तक जावें और वहाँ से दूसरे पैर से उछलते हुए आवें।

(ख) अपनी जगह पर ताली बजाते हुए दौड़ना।

९—(क) (पेट के बल लेटकर) धड़ ऊपर उठाना १—२ (आज्ञा)

(ख) (दोनों घुटने टेककर हाथ ऊपर तानकर) भूमि पर हाथ पटकना।

१०—नाला कूदना।

११—**पैर पटक कर चलना।**

१२—खेल।

नोट—(क) जहाँ एक ही खण्ड में एक से अधिक कसरतें हों वहाँ एक पाठ में केवल एक ही कसरत ली जावे।

(ख) जो क्रियायें कोष्ठक में लिखी हैं वे उन कसरतों को आरम्भ करने की दशायें हैं।

(ग) जहाँ बायें दायें लिखा है उससे यह समझना चाहिए कि पहले बाईं ओर की क्रिया की जावे फिर दाईं ओर की, और फिर बारी बारी से।

(घ) १—२ काम करने का आदेश है।

(ङ) खेलों और कसरतों के लिए "व्यायाम-शिक्षा" (इंडियन प्रेस) देखो।

स्काउटिंग

स्कूलों में स्काउटिङ्ग की असफलता के कारण स्काउट-मास्टर ही हैं। इस कारण यह चेतावनी है कि इस लेख को दो तरह के शिक्षक पढ़ने की कृपा न करें।

एक तो वे जो समझते हैं कि छुट्टी की घण्टी बजते ही उनका सम्बन्ध लड़कों से पूरा हो गया और उनका कर्तव्य समाप्त हो गया। दूसरे वे जो स्काउटिङ्ग इसलिए करना चाहते हैं कि उनको तरक़्क़ी मिलेगी और अफ़सर उनसे प्रसन्न रहेंगे।

स्काउटिङ्ग के लिए ऐसे गुरु चाहिए जो राष्ट्र-प्रेमी हों और यह समझें कि भावी राष्ट्र के निर्माता वे ही हैं।

स्काउटिङ्ग का इतिहास—दक्षिणी अफ़्रीका के बूअर युद्ध में लार्ड बेडेन पावेल ने इस संस्था की नींव डाली। वहाँ से इँगलेंड जाकर उन्होंने इस कार्य का प्रचार करना आरम्भ किया। उन्होंने इसके दो भाग किये। एक भाग युद्ध-क्षेत्र में काम करने लगा और दूसरा साधारण बालचरों की समाज-सेवा के काम में नियुक्त हुआ। इसके द्वारा छोटे बच्चों में खेल ही खेल में उनकी स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ विकसित हो जाती हैं। वे ब्रह्मचारी, परोपकारी, साहसी, स्वावलम्बी ईश्वरभक्त, देशभक्त तथा राजभक्त बन जाते हैं।

धीरे धीरे दूसरे देशों में भी स्काउटिंग का प्रचार होने लगा और इस समय संसार भर में दस बारह लाख के लगभग बालचर हैं।

बड़ी बड़ी कठिनाइयों के बाद १९१६ ई० में श्रीमती एनी बेसेंट और उनके साथी डाक्टर आरंडेल ने भारत में इस शिक्षा का प्रचार किया। इसके बाद महामना पं० मदनमोहन मालवीय जी ने प्रयाग-सेवा-समिति-द्वारा सेवा-समिति बालचर-मंडल का श्रीगणेश किया। यह बालचर-विद्या किसी समय भारतवर्ष में ब्रह्मचर्याश्रम में इसी ढङ्ग से प्रचलित थी परन्तु शिक्षा का अभाव हो जाने पर इस विद्या का भी लोप हो गया। बाद में बेडेन पावेल की संस्था में भी भारतीय बालक स्काउट बनाये जाने लगे।

स्काउटिङ्ग की आवश्यकता—बालकों के चरित्र में दोष न आने देने के लिए यह परमावश्यक है कि अवकाश के समय का वे इस प्रकार उपयोग करें जिससे कि मनोरंजन के साथ साथ उनका चरित्र भी सुधरे और उनके जीवन से दूसरों का उपकार भी हो।

बालकों को यह भी बताना है कि शारीरिक काम या सेवा करने से सम्मान कम नहीं होता और अपना हर एक कार्य स्वयं ही करना चाहिए। यह टेव स्काउटिंग द्वारा पड़ सकती है।

इसके अतिरिक्त स्काउटिंग-द्वारा बालकों में भ्रातृभाव उत्पन्न होता है जो कि देशोन्नति के लिए अत्यन्त आवश्यक है। इसके द्वारा बालकों में स्वावलम्बी तथा पराक्रमी बनने की बान पड़ती है और प्रकृति-निरीक्षण की इच्छा बढ़ती है।

स्काउटिंग, शिक्षा का अत्यन्त आवश्यक अङ्ग है। जिस ट्रूप में प्रकृति-निरीक्षण, मैदान के खेल, और कैम्प करने का कार्य-क्रम नहीं है, वह ट्रूप कुछ ही दिनों में निर्जीव हो जायगा।

स्काउट-ट्रूप की नींव डालना—यह अच्छा होगा कि किसी उत्साही नवयुवक शिक्षक के हाथ में यह काम सौंपा जाय। योग्य स्काउट-मास्टर होने के लिए उसमें विचार-शक्ति, प्रयत्नशीलता, धैर्य और पुरुषार्थ होना चाहिए। यह गुण केवल ड्रिल से नहीं आते हैं। इसलिए जहाँ तक सम्भव हो यह काम 'ड्रिल-मास्टर' के हाथ में न सौंपा जाय। यह भी आवश्यक है कि स्काउट-मास्टर लड़कों के साथ सदैव भाईचारे का बर्ताव करे, वह अपने को उनका अधिकारी न समझे।

स्काउटिंग आत्म-निग्रह तथा आत्म-विश्वास की कुंजी है। इसलिए

स्काउट-मास्टर को चाहिए कि सारा काम उनको सौंप दे और वह स्वयं दूर खड़ा रहे। उनको भूलें करने दे और भूलों से बालकों को शिक्षा ग्रहण करने दे। इसके लिए धैर्य की आवश्यकता है और यह भी आवश्यक है कि शिक्षक बालकों की मनोवृत्तियों का ठीक ठीक ज्ञान रखता हो।

यदि ऐसा शिक्षक स्कूल में न हो तो यह अच्छा होगा कि कोई पुराना छात्र इस काम के लिए चुन लिया जाय।

स्काउट-मास्टर ऐसा होना चाहिए जो अपने स्कूल के दिनों को न भूला हो। उसको समझना चाहिए कि बहुत-सी बातें लड़कों के साथ साथ सीखनी हैं। उसे आदर्श नेता बनना चाहिए न कि बालकों का हाँकनेवाला। वह प्रसन्नतापूर्वक अपना बहुत-सा समय लड़कों के लिए अर्पण करने को प्रस्तुत रहे।

आरम्भ में चार पाँच अच्छे लड़के लेने चाहिए और उनको सच्चा स्काउट बनाना चाहिए और फिर उन्हीं से कहना चाहिए कि वे चार चार या छः छः लड़के ले आवें और उनका एक एक पैट्रोल बनावें। एक पैट्रोल में आठ से अधिक और चार से कम लड़के न होने चाहिए और एक दल में चार से अधिक पैट्रोल (टोलियाँ) न होनी चाहिए। टोली के स्काउट बराबर न बदले जायँ। एक टोली के सभी स्काउटों का एक ही उद्देश्य होना चाहिए।

बहुत-से लोग जानवरों तथा चिड़ियों के नाम पर टोली का नाम रखते हैं। परन्तु मेरी राय में यदि बड़े लोगों के नाम पर या गुणों के नाम पर नाम-करण किया जाय तो अधिक लाभ होगा।

टोली के नायक बहुत सावधानी से बनाने चाहिए। नायक ऐसे लड़के को बनाना चाहिए जिसका दूसरे लड़के अनुकरण कर सकें। टोली-नायक को अपनी टोली के और लड़कों से स्काउटिङ्ग का अधिक ज्ञान होना चाहिए।

टोली के हर एक लड़के के ऊपर टोली के किसी न किसी काम का भार होना चाहिए जिससे हर एक लड़का समझे कि वह अपनी टोली का एक आवश्यक अङ्ग है। एक टोली में प्रायः नीचे दिये हुए कर्मचारी होने चाहिए।

१ टोली-नायक, २ उपनायक, ३ मन्त्री, ४ कोषाध्यक्ष, ५ कैम्पमास्टर, ६ पुस्तकाध्यक्ष।

कोर्ट आफ़् आनर—स्काउट-मास्टर को चाहिए कि वह स्काउटों की सहायता प्रत्येक कार्य में ले। ऐसा सहयोग (कोर्ट आफ़् आनर) सम्मान-सभा

द्वारा प्राप्त हो सकता है। सम्मान-सभा के सदस्य स्काउट-मास्टर, सहायक स्काउट-मास्टर, दलनायक तथा टोली-नायक होते हैं।

स्काउट-मास्टर ही सभापति होता है। एक मन्त्री चुन लिया जाता है जो सब काग़ज़-पत्र रखता है। सम्मान-सभा की मीटिंग सप्ताह में एक बार होनी चाहिए। कार्य-क्रम (प्रोग्राम), आय-व्यय इत्यादि सम्मान-सभा में ही निश्चित होने चाहिए। निश्चित कार्य-क्रम नोटिस-बोर्ड पर लगा देना चाहिए।

वर्दी—वर्दी का प्रश्न भारतवर्ष ऐसे निर्धन देश में बड़ा ही कठिन है। इससे मेरा आशय यह नहीं है कि वर्दी होनी ही न चाहिए। यद्यपि वर्दी भी स्काउटिङ्ग में अपना एक स्थान रखती है तथापि यह बात नहीं है कि वर्दी के बिना लड़का स्काउट बन ही नहीं सकता।

स्काउट-मास्टरों को चाहिए कि वे लड़कों का ध्यान रखते हुए वर्दी नियत करें। इसमें केवल रूमाल आवश्यक वस्तु है जो कि दस पैसे में बन सकता है। वर्दी के लिए सबसे अधिक कठिनाई ग्राम के बालचरों को पड़ती है। अतः यह चाहिए कि प्रतिदिन के कपड़ों को एक ढंग से पहनने की आदत डालें। जब लड़के का वस्त्र फटे उसी समय स्काउट-मास्टर लड़के के पिता से मिले और उससे नमूने के अनुसार सदैव कमीज़ इत्यादि बनाने के लिए कहे तो अवश्य ही कुछ ही दिनों में सब लड़कों के पास वर्दी हो जावेगी। कम से कम महीने में एक बार वर्दी का निरीक्षण होना चाहिए। स्काउट-मास्टरों को भी आदर्श बनने के लिए अपनी वर्दी का पूरा ध्यान रखना चाहिए।

वर्दी की आवश्यक वस्तुएँ

१—स्काउट-लाठी (पाँच फ़ीट लम्बी और एक इञ्च व्यास की)।
२—हाफ़ पैंट, या धोती (एक-सी बँधी हुई)।
३—स्काउट-पेटी अगर हाफ़ पैंट हो।
४—कमीज़ (दो जेबोंवाली)।
५—पैट्रोल के रङ्ग का कन्धे का फुँदना।
६—पैट्रोल के रङ्ग का रूमाल (३६ वर्ग इञ्च, पक्का रङ्ग)।
७—टोपी एक तरह की (या पगड़ी एक रङ्ग की)।

यदि जूते और मोजे पहने जायँ तो एक रङ्ग के और एक तरह के हों।

दल का कोष—यदि ट्रूपों को स्कूल के खेल के कोष से रुपया मिल सके तो बहुत अच्छा और यदि न मिले तो स्काउट-मास्टर को ही स्काउटिङ्ग का लाभ दिखाकर और बताकर स्काउटों के मा-बाप से कुछ लेना चाहिए।

नगरों में तो यह सरल है, परन्तु ग्रामों में किसान भाइयों के पास पैसा ही नहीं होता तो कहाँ से दें, परन्तु यदि स्काउट-मास्टर झूठे आत्म-सम्मान का ध्यान छोड़कर लड़कों के पिताओं के पास फ़सल पर जावें और थोड़ा थोड़ा कर अनाज इकट्ठा कर लें तो दल के लिए कुछ कोष हो सकता है।

स्काउटों का क्रीड़ा-गृह—एक ऐसी जगह की आवश्यकता है, जहाँ दल का सामान सुरक्षित रक्खा जा सके। अतः यह बहुत ही अच्छा होगा कि कहीं एक कमरा ठीक कर लिया जावे जहाँ उनका पुस्तकालय तथा वाचनालय हो सके। वहाँ पर प्राथमिक चिकित्सा की वस्तुएँ रक्खी जा सकती हैं और वहाँ बढ़ई इत्यादि के ऐसे औज़ार भी जिनसे लड़के स्वयं कुछ काम कर सकें रखे जा सकते हैं।

भलाई के कार्य—स्काउटों को इस बात का सदैव ध्यान रहना चाहिए कि हमें हर समय दूसरों की सहायता करनी है। यदि वे बाहर हाइक में जावें और किसी के बाग़ में भोजन इत्यादि के लिए ठहरें तो इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि चलते समय उसको वैसा ही छोड़ें जैसा मिला था। यह नहीं कि गन्दा छोड़कर चले जावें। क्या ही अच्छा हो यदि उस जगह कोई उन्नति कर दी जाय, जैसे उसकी टूटी हुई चहारदीवारी ठीक कर दी जावे।

जनता की सेवा करना भी स्काउटों का कर्तव्य है। यदि स्काउट किसी बीमार को देखता है कि वह उठ बैठ नहीं सकता और उसको उसकी सेवा की आवश्यकता है तो निःसंकोच स्काउट को उसका पाख़ाना तक उठाने में हिचक न होनी चाहिए। यदि आग लग जावे तो उनका धर्म है कि वे उसके बुझाने में तथा चोर लुटेरों से माल बचाने में सबको सहायता पहुँचावें।

खोये हुए बच्चों और स्त्रियों को ठीक जगह पर पहुँचाना, बुड्ढों और निर्बलों को भीड़ में टिकट ले देना, प्राथमिक चिकित्सा करना, पानी में डूबते हुओं को बचाना इत्यादि अन्य ऐसे भलाई के कार्य हैं जो स्काउट को करने चाहिए।

स्काउट अपने स्कूल में भी जैसे वार्षिक पारितोषिक वितरण के समय पर प्रबन्ध का काम करें।

ग्राम-सुधार—गाँवों में यह देखा गया है कि जब स्काउट गाना गाते हैं तो गाँववाले बहुत आह्लादित होते हैं और यह समझने लगते हैं कि ये अच्छे लड़के हैं। इसका प्रभाव यह होता है कि उनके कहने से गाँववाले वह काम करने को तैयार हो जाते हैं जिसको वे अफ़सरों के कहने पर बहुत दिनों में भी नहीं करते

हैं। स्काउटों को गाँव में कोई एक जगह स्थायी रूप से नियत कर लेनी चाहिए ताकि चोट चपेट के समय पर वहाँ से वे लोगों को सहायता पहुँचा सकें। परन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि लड़के डाक्टर न बन बैठें। पं० श्रीराम वाजपेयी जी की लिखी हुई पुस्तक 'स्काउटिंग और ग्राम-सेवा' इस विषय के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

कैम्पफ़ायर—जब दिन भर के काम के बाद सब स्काउट कैम्प में बैठते हैं तो आवश्यक है कि उनके चित्त प्रसन्न करने की कुछ सामग्री हो। इसी उद्देश्य से कैम्पफ़ायर की जाती है। लड़कों को पूर्ण स्वतन्त्रता देते हुए भी उनको शिष्टाचार की सीमा न लाँघने देना चाहिए। बड़ी लम्बी प्रार्थनायें या व्याख्यान कैम्पफ़ायर के उद्देश्यों से कोसों दूर हैं।

कार्यवाही और विवरण—हर ट्रूप में हिसाब-किताब का खाता तथा ट्रूप का इतिहास, हर एक स्काउट की उन्नति का विवरण, उनकी सेवाओं का लेखा, ट्रूप के सामान की सूची आदि होना अत्यन्त आवश्यक है।

दीक्षा—जब स्काउट कोमलपदपरीक्षा पास कर चुकते हैं तब उनकी दीक्षा होती है। यह अवसर बड़े महत्त्व का होता है। इस संस्कार को बड़ी गम्भीरता के साथ करना चाहिए। स्काउटों के लिए यह पहला ही अवसर होता है जब वे सर्वसाधारण के सम्मुख उपस्थित होते हैं। इसलिए इसको सफल बनाने में पूर्णशक्ति लगा देनी चाहिए। भारतीय लड़कों में एक और बान होती है कि वे प्रत्येक काम को पहले से करने की चेष्टा नहीं करते बल्कि समय आने पर उसमें जुट जाते हैं और उलटा-सीधा, जैसा-तैसा कर डालते हैं। ऐसा स्काउटिंग में नहीं होना चाहिए। इससे जनता पर बड़ा अच्छा प्रभाव पड़ेगा और बाद को उनसे बड़ी सहायता मिलेगी। दीक्षा किसी उच्च स्काउट-अफ़सर-द्वारा होनी चाहिए। अगर कोई न मिले तो स्वयं स्काउट-मास्टर ही को यह काम करना चाहिए।

उत्साह को स्थिर रखना—यह देखा जाता है कि कोई दल कुछ दिनों तक बड़े वेग से काम करता है और उसके बाद उसमें शिथिलता-सी आने लगती है। ऐसा अच्छे से अच्छे दल में भी होता हुआ पाया गया है। एक ही शब्द इस बात को होने से रोक सकता है। वह शब्द है नवीनता।

यदि स्काउट-मास्टर चाहता है कि वह सदा ही नये विचारों का भण्डार बना रहे तो उसको अपना कुछ समय स्काउटिंग-सम्बन्धी पुस्तकों के पढ़ने में अवश्य लगाना चाहिए। उसको समय के अनुसार चलने में तत्पर रहना चाहिए।

यदि कभी मालूम हो कि दल सुस्त और अकर्मण्य हो रहा है तो उसका दोषारोपण बालकों पर न करना चाहिए। स्काउट-मास्टर को चाहिए कि ख़ूब कैम्प और हाइक करे जिससे दल में फिर से जागृति आ जावे।

नीचे कुछ लाभदायक पुस्तकों की नामावली दी है जिनका पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है।

१—स्काउटिंग और स्काउट-मास्टर। जानकीशरण वर्मा, इंडियन प्रेस लि०, इलाहाबाद।

२—पेटोल सिस्टम। जानकीशरण वर्मा, सेवा-समिति ब्वायस्काउट्स नं० १ कटरा, इलाहाबाद।

३—बालवीर या शेरबच्चा। पं० श्रीराम वाजपेयी, सेवासमिति ब्वायस्काउट्स नं० १ कटरा, इलाहाबाद।

४—खेल पचासा
५—खेल
६—स्काउटिंग क्या है?
७—स्काउटिंग और ग्राम-सेवा
८—ड्रिल
} सेवा-समिति ब्वायस्काउट्स एसोसियेशन, इलाहाबाद।

९—खेल-द्वारा शिक्षा। लेखक—कृष्णप्यारेलाल एम०ए०, एल० टी०। मूल्य ।।=), भारतवासी प्रेस, दारागंज, इलाहाबाद।

१०—स्काउट ड्रिल और खेल (पहला भाग) ड्रिल मू० ।।।)
११—स्काउट ड्रिल और खेल (दूसरा भाग) खेल मू० १।)
} पं० श्रीराम वाजपेयी, इंडियन प्रेस लि०, इलाहाबाद।

द्वादश अध्याय

स्वास्थ्य-शिक्षा

स्वास्थ्य-शिक्षा की आवश्यकता—प्रत्येक मनुष्य को कुछ न कुछ कार्य सदा ही करना पड़ता है और उन कार्य्यों में सफलता प्राप्त करने के लिए शारीरिक तथा मानसिक दोनों प्रकार की शक्तियों की आवश्यकता पड़ती है। आवश्यक है कि शरीर बलवान् तथा पूर्ण रूप से विकसित हो, इन्द्रियों में किसी प्रकार का दोष न हो, स्वास्थ्य में कमी न हो तथा बीमारी को रोकने की शरीर में शक्ति हो, चित्त सदा प्रसन्न रहे। इन सबसे बढ़कर आवश्यकता है गम्भीर विचारशील तथा संयत मस्तिष्क की जो चिन्ता को सदा दूर रक्खे और सहयोग तथा उत्तरदायित्व के साथ किसी भी कार्य को अन्त तक करने की क्षमता रखता हो। इन्हीं सब गुणों के होने पर जीवन में सफलता तथा सुयोग्यता प्राप्त हो सकती है। किन्तु बच्चा इन्हें माता के गर्भ से लेकर नहीं आता। इनकी प्राप्ति केवल ऐक्यपूर्ण तथा प्रायोगिक शिक्षा के द्वारा हो सकती है जो कि वर्षों तक शरीर तथा मस्तिष्क दोनों के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

इस शिक्षा में शरीर का सर्व-प्रथम स्थान है—बलिष्ठ शरीर, कुशल इन्द्रियाँ, पूर्ण स्वास्थ्य, हाथों तथा पैरों के सञ्चालन में कुशलता; अच्छी अच्छी आदतें, निर्मल और संयमित शरीर—ये सब बहुत ही आवश्यक हैं। इन्हीं शारीरिक वस्तुओं के आधार पर मस्तिष्क की जागृति तथा उसका विकास निर्भर है। जिस शिक्षा के द्वारा स्वस्थ शरीर में स्वस्थ मस्तिष्क की नींव नहीं डाली जाती वह सर्वथा अपूर्ण है। इसलिए स्कूल में स्वास्थ्य-शिक्षा के पाठ पढ़ाने का उद्देश्य बच्चों में स्वास्थ्य-विषयक ऐसी आदतें डलवाना है जिनके द्वारा वे अपने शरीर को रोगों से सुरक्षित रक्खें और उसको सबसे अच्छी अवस्था में बनाये रक्खें। इसलिए इस प्रकार की शिक्षा के विशेष रूप ये हैं :—(क) स्वास्थ्य-विज्ञान का बताना तथा भिन्न भिन्न इन्द्रियों के कार्य का ज्ञान। (ख) स्वस्थ तथा साफ़ रहने के सिद्धांतों तथा प्रयोगों का अभ्यास—सामाजिक रूप से भी और व्यक्तिगत रूप से भी। (ग) रोगों का सम्यक् ज्ञान, उनकी उत्पत्ति के कारण

तथा उनके रोकने के उपाय। विद्यार्थियों तथा शिक्षकों को वैद्य बनने की आवश्यकता नही है अर्थात् औषधियों का सहारा लेना उनके लिए उचित नहीं है। शिक्षा में इस बात का ध्यान रहे कि शरीर में रोग पहुँचने ही न पावे। अपनी संयमशीलता के कारण मनुष्य जब रुग्ण ही न होगा तब उसे औषधि आदि से क्या मतलब ? शिक्षक के पाठ्यक्रम में औषधियों का या अन्य प्रकार के निदान का कोई स्थान नहीं है। उसका कार्य बालकों को ऐसी शिक्षा देना है जिसके द्वारा वे अपने शरीर को स्वस्थ तथा रोगमुक्त रख सकें।

आधुनिक दशा—शिक्षकों को कभी कभी शिक्षा तथा परीक्षाओं से अपना ध्यान हटाकर पाठशाला में बालकों की शारीरिक दशा का निरीक्षण करना चाहिए। ऐसा करने से उन्हें ज्ञात होगा कि उनके स्कूल में बहुत-सी ऐसी बीमारियाँ हैं जो सरलता से रोकी जा सकती हैं किन्तु असावधानी के कारण थोड़े ही समय के बाद वे भयंकर रूप धारण कर लेती हैं। इधर कुछ वर्षों से डाक्टर लोग स्कूल के बालकों के शरीर की परीक्षा करके रिपोर्ट दे रहे हैं। इन रिपोर्टों से हमें ज्ञात होता है कि स्कूलों में तीन-चौथाई से अधिक बालक किसी न किसी रोग से पीड़ित हैं। नेत्र रोग तो लगभग एक तिहाई बालकों में पाये जाते हैं।

पंचमाश बालकों के सीने संकुचित है, एक तिहाई की गर्दन तथा गले मे रोग पाये जाते हैं और एक चौथाई के दाँतों तथा मसूड़ों में रोग पाये जाते हैं। क्या ग्रामीण, क्या नागरिक, दोनों ही प्रकार के बालकों में अधिकांश ऐसे होते हैं जिनके शरीर में किसी न किसी प्रकार का रोग अवश्य होता है। लेकिन इन दोषों में से अधिकाश माता-पिता के अज्ञान तथा असावधानी के कारण उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार की भूलें बालकों के प्रारम्भिक जीवन में हुई थी और अब भी होती जा रही हैं। यदि घर में बालकों के स्वास्थ्य की ओर सावधानी के साथ ध्यान रक्खा जाय और वैसी सावधानी स्कूल में रक्खी जाय तो बालकों के शरीर में किसी प्रकार के दोष दिखलाई ही न पडें।

अधिकाश जनता में प्रायः स्वास्थ्य-सम्बन्धी दोषों का कारण निर्धनता बतलाई जाती है। यह कारण बहुत कुछ ठीक भी है। परन्तु इस बात में कोई भी सन्देह नहीं कि असावधानी तथा अज्ञान के कारण माता-पिता इस निर्धनता के समय भी बालकों के रोगों को रोकने के लिए जो कुछ कर सकते हैं, वह नहीं करते। गन्दी आँख, कान तथा मुँहवाले बालकों की संख्या अधिक दिखलाई पड़ती है। क्या प्रातःकाल उठकर इनके मुँह-हाथ धोने में माता को कुछ व्यय

करने की आवश्यकता पड़ती है? बच्चों के अधिकांश रोगों के कारण ये हैं :— सब प्रकार की चीज़ों को चबाना तथा चाटना, अपनी नाक को कपड़े में पोंछना, सब स्थानों पर थूकना, गन्दे हाथों से पानी पीना तथा भोजन करना, बिना धुले हुए गन्दे कपड़े प्रतिदिन पहिनना तथा संक्रामक रोग की बीमारियों से बचने की परवा न करना। बालकों को अधिकांश बीमारियाँ इसी से होती हैं कि शिक्षक तथा उनके माता-पिता ठीक से उनकी ओर ध्यान नहीं देते। स्वस्थ जीवन एक कला है और मानव-जीवन का एक महत्त्वपूर्ण तथा आवश्यक अंग है।

परन्तु इस प्रकार का जीवन स्वच्छता के ऊपर बहुत कुछ निर्भर है। भारतीय सभ्यता का सम्पूर्ण इतिहास शारीरिक, मानसिक तथा आत्मिक स्वच्छता का इतिहास है और यदि आज आधुनिक समय में दोष उत्पन्न हो गये हैं तो उनका कारण ढूँढ़कर उन्हें दूर करना चाहिए, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है। मुख्य कारण अज्ञान तथा लापरवाही है। यदि शिक्षक इस बात को अच्छी तरह समझ लें तो वे भारतीय सभ्यता की नींव, बालकों को मानसिक, आत्मिक तथा शारीरिक स्वच्छता सिखाकर सुदृढ़ कर सकते हैं और इस प्रकार वे बालकों के घरों में भी स्वच्छता का प्रचार कर सकते हैं। यदि स्कूलों में इस विषय पर कड़ी दृष्टि रक्खी जाय तो बहुत शीघ्र घरों में भी इस विषय में उन्नति हो सकती है। पाठशालाओं में बालकों को आजकल स्वास्थ्य-शिक्षा का ज्ञान कराने के लिए डाक्टरी जाँच, पोस्टर्स, मैजिक लैंटर्न के व्याख्यान, प्रारम्भिक चिकित्सा तथा जूनियर रेडक्रास के कार्य की शिक्षा, पाठशाला में जलपान का प्रबन्ध, अनिवार्य कसरत कराना तथा ऐसी ही अन्य अनेक बातों का बहुत कुछ प्रयोग किया जाता है, परन्तु इनका फल साफ़ प्रकट नहीं हो रहा है क्योंकि पाठशालाओं में इस प्रकार की शिक्षा को वह स्थान अभी तक नहीं मिला जो पुस्तकीय शिक्षा को प्राप्त है। पुस्तकें, गृह-कार्य तथा परीक्षायें उनकी दृष्टि में अभी उतना ही महत्त्व रखती हैं जितना कि पहले। किन्तु यदि हमें उत्तम फल प्राप्त करना है तो शिक्षकों तथा विद्यार्थियों के दृष्टि-कोण में बहुत अधिक परिवर्तन करना पड़ेगा जिससे कि वे स्वास्थ्य शिक्षा को केवल शिक्षा ही न समझें। इस शिक्षा को अभी वह स्थान प्राप्त करना शेष है जो कि उसे मिलना चाहिए अर्थात् बालकों की पूर्ण शिक्षा में यह भी एक वैसा ही आवश्यक अंग है जैसा कि मानसिक शिक्षा। इन दोनों प्रकार की शिक्षाओं में परस्पर बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध भी है।

पाठ्यक्रम में स्वास्थ्य-शिक्षा का स्थान—स्वास्थ्य-शिक्षा स्कूल के

प्रत्येक कार्य के साथ मिलाई जा सकती है और यह कार्य छोटी से छोटी कक्षा से लेकर ऊँची से ऊँची कक्षा तक विस्तृत किया जा सकता है। पाठशाला का सम्पूर्ण जीवन स्वास्थ्य-शिक्षा से व्याप्त रहना चाहिए। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है, इस विषय के कुछ व्यावहारिक रूप हो सकते हैं। यदि इस प्रकार की शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाना है तो प्रतिसप्ताह इस विषय के लिए एक या दो घंटे अलग कर देने से ही कार्य नहीं चल सकता। यदि बान डलवाना मुख्य उद्देश्य है तो प्रतिदिन बालकों का निरीक्षण करना अत्यन्त आवश्यक है, और यदि स्वास्थ्य-विषयक कार्य कराने हैं तो ऐसे कार्य कक्षा तक ही परिमित रहने से वे कभी संतोषजनक फल नहीं दे सकते। तात्पर्य यह है कि एक या दो घंटे की कक्षा की शिक्षा के अतिरिक्त बालकों के प्रतिदिन के निरीक्षण का, तथा मैदान में स्काउटिंग, जूनियर रेडक्रास तथा स्वास्थ्य-सम्बन्धी खेल, स्कूल और उसके आस-पास की सफ़ाई का समुचित प्रबन्ध करवाना चाहिए। पाठशाला की स्वास्थ्य-शिक्षा-संबंधी धारणा क्या है—इसकी वास्तविक द्योतक ये ही बातें हैं।

बालकों की शारीरिक अवस्था के लिए केवल स्वास्थ्य-विज्ञान के ही अध्यापक को नहीं, वरन् सब अध्यापकों को उत्तरदायी होना चाहिए। अध्यापकों का यह कर्तव्य है कि समस्त छात्रों की शारीरिक अवस्था का पता लगाने तथा उसमें उन्नति करने में वे पाठशाला के डाक्टर से सहयोग करें। बालकों में जहाँ कहीं अस्वास्थ्य कर बानें, गन्दगी या मैलेपन के लक्षण तथा आलस्य आदि दुर्गुण दिखाई पड़ें, उन्हें तुरन्त ही सुधारना चाहिए और यह तभी सम्भव है जब कि सभी शिक्षक इस कार्य में दत्तचित्त हों। यदि इस शिक्षा से पूर्ण लाभ उठाना है तो इसे दूसरे विषयों से सम्बद्ध कर देना चाहिए और ऐसी महत्त्वपूर्ण बातें, जैसे—ठीक से साँस लेना, बैठने का ढङ्ग, दृष्टि की रक्षा तथा वस्त्रों की दशा पर प्रत्येक घंटे में तथा प्रत्येक कक्षा में सदैव ध्यान देना चाहिए। विशेषकर व्यायाम तथा स्वास्थ्य-शिक्षा को साथ साथ चलाना चाहिए। और ड्राइंग के घंटे में यदि बालकों की इच्छा हो तो उपयुक्त पोस्टर बनाने के लिए उन्हें प्रोत्साहन तथा अवसर देना चाहिए।

प्रातःकाल का निरीक्षण—जो बालक पाठशाला में आते हैं उन्हें इतना ज्ञान होना चाहिए कि वे अपने नाक, कान, दाँत, मुँह तथा चेहरे को स्वच्छ रख सकें, स्नान कर सकें, दिशा, पेशाब इत्यादि आवश्यकताओं को प्रकट कर सकें। परन्तु अनुभव से यह ज्ञात होता है कि ये प्रारम्भिक बातें भी अधिकांश बालकों में नहीं पाई जातीं। इसी लिए स्कूलों में बालकों का प्रातःकाल के समय निरीक्षण

करना आवश्यक है, जिससे उनको ऐसी बातों का ज्ञान कराया जा सके जिन पर उन्हें सदैव ध्यान रखना चाहिए। प्रातःकाल के निरीक्षण में निम्नलिखित बातों पर विशेष ध्यान रखना चाहिए :—

१—हाथ, नाक, दाँत, चेहरा, कान और नेत्र मलरहित हों।

२—नाख़ून कटे हुए हों तथा उनमें मैल न भरा हो।

३—रूमाल साफ़ हों।

४—स्नान किया है और बालों में कंघी की है या नहीं।

५—बनियाइन इत्यादि नीचे के वस्त्र स्वच्छ हैं या नहीं।

ऊपर की सूची में स्थानीय आवश्यकताओं के अनुसार परिवर्त्तन किया जा सकता है। यह केवल मार्ग-प्रदर्शन के लिए है। सिद्धान्त यह होना चाहिए कि बालकों में स्वच्छता से रहने की बान पड़े। यदा-कदा यह निरीक्षण छात्रों-द्वारा ही करा लेना चाहिए और ऐसे अवसरों पर डाक्टर या शिक्षक का अनुकरण करने से स्वास्थ्य-सम्बन्धी बातों में उनकी सच्ची लगन उत्पन्न हो जायगी।

छोटे बालक—११ या १२ वर्ष की अवस्था तक तो शिक्षा अनुभव के द्वारा देनी चाहिए और बालकों से कुछ उत्तम बातें करानी चाहिए तथा उन्हें अन्य हानिकर बातों से निषेध करना चाहिए। इस अवस्था में कोई तर्क-पूर्ण कारण तथा युक्तियाँ देना अनावश्यक है, क्योंकि बालकों के मस्तिष्क इस अवस्था तक उनके समझने में असमर्थ होते हैं। बालक अनेक बार नियमों का उल्लंघन करेंगे पर इससे शिक्षकों को यह न समझ बैठना चाहिए कि बालकों ने कोई घोर अपराध कर डाला है जिसके लिए कठोर दंड देना चाहिए। बालकों के साथ व्यवहार करने में धैर्य तथा हँसमुख होने की बड़ी आवश्यकता है और इस बात का विशेष ध्यान रखना चाहिए कि बालक के सिर किसी ऐसी बान या परिस्थिति का दोष न मढ़ दिया जाय जिसके लिए वह वास्तव में उत्तरदायी नहीं है। अनुचित बानों के छुड़ाने तथा उचित बानों के डालने के लिए दिन प्रतिदिन, वर्षों तक, क्रियात्मक तथा रचनात्मक शिक्षा देना सबसे अधिक लाभप्रद होता है।

इस अवस्था के लिए पाठ्यक्रम में बहुत-सी बातें न भर देनी चाहिए और इस समय शिक्षा में सिद्धान्तों को बहुत ही कम स्थान देना चाहिए। एक पाठ में दो-एक सरल बातें सिखा देना पर्य्याप्त होगा और उसके लिए समुचित चित्रों तथा उदाहरणों की सहायता लेनी चाहिए। सब पाठ रोचक तथा सरल हों। उनमें मशीन की भाँति सूखी रटाई या घुटाई न हो। "सब प्रकार की

स्वास्थ्य-शिक्षा में बालक को अपना बहुत अधिक ध्यान न दिला देना चाहिए और यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसका विश्वास ओषधियों पर न जमने पावे। यह बालक का विशेष स्वभाव तथा स्वत्व है कि उसके जीवन में अहं-ज्ञान-रहित सुखमय भावनायें ही भरी हों। यदि स्वास्थ्य-शिक्षा बालक की आत्म-विस्मृति तथा स्वाभाविक प्रसन्नता को नष्ट कर देगी तो इससे बढ़कर दुर्भाग्य की बात दूसरी नहीं हो सकती।"*

शिशु-स्वभाव—यह बात ऊपर कही जा चुकी है कि स्वस्थ रहने की बानें बालक माता के गर्भ से लेकर नहीं आता, किन्तु वृद्धि के समय में उनका निर्माण करना पड़ता है। जन्म से ही शिशु में कुछ बानें डालनेवाली प्रवृत्तियाँ होती हैं जिनके द्वारा वह बानें डालता है। परन्तु ऐसा तभी होता है जब कि शिशुओं को उन बानों से सुख मिलता है। दुर्भाग्यवश बहुधा तुरन्त सुख देनेवाले कार्य या तो व्यक्ति के लिए या समाज के लिए अस्वास्थ्यकर होते हैं और इसलिए अध्यापक को विवश होकर कुछ ऐसे उद्देश्यों की शरण लेनी पड़ती है जो यद्यपि बालकों के लिए क्षम्य हैं तथापि वे न तो बहुत उच्च होते हैं, और न उन्हें महान् कहा जा सकता है। साधारणतया कष्ट तथा पीड़ा से बचना, चोट का भय—(यदि यह कार्य करोगे तो चोट लगेगी), आत्म-श्लाघा—(यदि प्रतिदिन दाँतों को माँजोगे तो वे सुन्दर हो जायँगे), होड़—(यदि व्यायाम करोगे तो और बालकों से बलवान् हो जाओगे), इत्यादि उद्देश्यों का उपस्थित करना पर्य्याप्त हो जाता है। अन्तिम उद्देश्य से रचनात्मक कार्य कराया जा सकता है। यदि शनैः शनैः बालक को दूसरों से बढ़ जाने के बदले अपने ही से नित्य-प्रति बढ़ते जाने का चाव दिलाया जाय, या अपने स्कूल के लिए एक आदर्श उपस्थित करने की अभिलाषा उत्पन्न कराई जाय तो और अच्छा हो। दया का उद्देश्य भी अच्छा है, क्योंकि जब बालकों को यह भली भाँति ज्ञात हो जाता है कि उनके अमुक कार्य से दूसरों को हानि पहुँचती है तो वे उसे तुरन्त बन्द कर देते हैं।

जूनियर रेडक्रास (Junior Red Cross)—यह आन्दोलन हमारे स्कूलों में अभी थोड़े ही दिन हुए प्रचलित किया गया है क्योंकि यह छोटे बच्चों को स्वास्थ्य-शिक्षा सिखाने के लिए विशेष प्रकार से उपयुक्त है। स्वास्थ्यकर बानें

---

* हैंडबुक ऑव सजेस्चन्स् ऑन हेल्थ एजुकेशन, बोर्ड ऑव एजुकेशन, इँगलैंड।

डालकर जूनियर रेडक्रास के कार्य बालकों को व्यक्तिगत तथा सामाजिक स्वास्थ्य की वृद्धि करने की शिक्षा देते हैं। बालक को अपनी कक्षा तथा अपने स्कूल की सफ़ाई का अध्ययन करना सिखाया जाता है और इस प्रकार उसका समाज के प्रति अपने कर्तव्य का ज्ञान जाग्रत होता है। बीमार तथा कष्ट सहते हुए बालकों की निःस्वार्थ सेवा करके वह सच्चा नागरिक बनना सीखता है। स्वास्थ्य-सम्बन्धी नियमों के पालन में होड़ लगवाकर स्वास्थ्यवर्धक बातें डालने में प्रोत्साहन दिया जाता है। ऐसी होड़ में निम्नलिखित सूची के अनुसार नम्बर दिये जाते हैं। यह सूची एक दूसरे देश से ली गई है।

१—खिड़कियाँ खोलकर सोया	१ नम्बर
२—घंटे सोया	१ ,,
(६ वर्षीय बालकों के लिए १२ घंटे)	
(६ ,, ,, ,, ११ ,,)	
(११ ,, ,, ,, १० ,,)	
३—प्रातःकाल या सोने से पूर्व पूर्ण स्नान किया।	१ ,,
४—प्रातःकाल के भोजन के पश्चात् दाँत साफ़ किये।	१ ,,
५—प्रत्येक भोजन के पूर्व हाथ धोये तथा नाख़ून साफ़ किये	२ ,,
६—शौच के पश्चात् हाथ धोये।	२ ,,
७—आज शौच गया।	१ ,,
८—रूमाल साथ में रक्खा तथा खाँसते या छींकते समय दूसरों को बचाने के लिए उसका प्रयोग किया।	१ ,,
९—दिन में प्रत्येक समय सीधे तनकर बैठा या खड़ा हुआ	१ ,,
१०—मुख में अँगुलियाँ या पेंसिल नहीं डाली।	१ ,,
११—शनैः शनैः भोजन किया।	१ ,,
१२—भोजन के निश्चित समय के अतिरिक्त नहीं खाया।	१ ,,
१३—घर के बाहर १ घंटा व्यायाम किया।	१ ,,
१४—प्रातःकाल ३ मिनट तक दीर्घ श्वास ली।	२ ,,
१५—अपने आपको तथा दूसरों को दुर्घटनाओं से बचाने का प्रयत्न किया। सड़कों को पार करते समय दोनों ओर देखा।	१ ,,
१६—सोने से पूर्व नाक साफ़ की तथा पहने हुए वस्त्र हवा में छोड़े।'	१ ,,

१७—सोने से पूर्व १ मिनट तक दीर्घ श्वास ली २ ,,
१८—आज रात्रि में गर्म जल के स्नान किया (सप्ताह में कम से कम
एक बार)* २ ,,
१९—बालों को धोया (जितनी बार माता-पिता कहें) ४ ,,

इस प्रकार की होड़ छोटे बालकों तक ही परिमित रखना चाहिए, तभी इससे उचित लाभ प्राप्त हो सकता है। माता-पिता के सहयोग से बालकों के प्रतिदिन के बयानों की जाँच करनी चाहिए। केवल छोटी कक्षाओं में प्रत्येक त्रिमास के आरम्भ तथा अन्त में ऐसी होड़ रखनी चाहिए, पर एक सप्ताह से अधिक नहीं। संयुक्त-प्रान्तीय जूनियर रेड क्रास सब-कमेटी ने, जिसका दफ्तर लखनऊ में है, इस प्रान्त के लिए ऐसी ही सूची निर्माण की है और वह विविध स्कूलों में, थोड़ा-बहुत परिवर्तन करके, प्रयोग में लाई जा रही है।

बालचर-संस्था—बायस्काउट तथा गर्लगाइड-संस्थाओं द्वारा बहुत-सी लाभदायक स्वास्थ्य-शिक्षा दी जाती है। स्काउट को बताया जाता है, "तुम्हारा कर्तव्य है कि भरसक स्वस्थ रहो। स्काउट मन, वचन, कर्म तथा शरीर से निर्मल रहता है। गंदी बातो तथा अश्लील एवं कटु शब्दों को न तो सुनता है और न उनका प्रयोग करता है"। स्काउट को प्रत्येक समय प्राण बचाने अथवा चोट खाये हुए लोगों की सहायता करने के लिए "तैयार रहना" पड़ता है। बालचर-संस्था के नियम बालक के हृदय में यह भावना उत्पन्न कर देते हैं कि वह अपने स्वास्थ्य को सुरक्षित रखने के लिए कुछ कर रहा है या नहीं। नवीन टेंडरफुट से कहा जाता है, "हम तुम्हें शरीर, मन तथा अन्तःकरण से इतना बलवान् बना देंगे कि तुम जीवन की विपत्तियों तथा प्रलोभनों का सामना कर सको, स्वावलम्बी बन सको, अपनी सहायता किसी भी अवस्था में स्वयं कर सको तथा जब तुमसे हो सके दूसरों की सहायता कर सको।"

इस संस्था के सहारे निम्न श्रेणी से उच्च श्रेणी की ओर ले जाया जा सकता है। टेंडरफुट को द्वितीय श्रेणी की परीक्षा पास करने के लिए साधारण स्वास्थ्य के नियमों का तथा साधारण प्रारम्भिक चिकित्सा का ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक होता है, जैसे घाव धोना और पट्टी बाँधना, शरीर के भिन्न भिन्न स्थानों पर तिकोनी पट्टी का प्रयोग करना। वास्तव में स्काउट शिक्षा की प्रत्येक श्रेणी में बडी बुद्धिमत्ता तथा सुचारुता से स्वास्थ्य-शिक्षा दी जाती है। अस्तु, शिक्षक स्वास्थ्य-शिक्षा में स्काउटिग की सहायता सरलता से ले सकता है।

---

* इस देश मे इसकी आवश्यकता नहीं है। स०

छोटे बच्चों के लिए पाठ्यक्रम—प्रथम चार या पाँच वर्षों में निम्न-लिखित पाठ्य-क्रम पर्य्याप्त होगा।

१—**सफ़ाई**—मुँह, हाथ, बाल, चेहरा, कान, नाक, दाँत, आँख तथा अन्यान्य अङ्ग-प्रत्यङ्ग की।

२—**साँस लेना**—स्वच्छ वायु से लाभ, तथा गन्दी वायु से हानि। खिड़कियों और रूमाल का उपयोग तथा साँस लेने का ढंग।

३—**सोना**—सोने का महत्त्व। नियमित सोना, सोने का समय, सोने के कमरे की हालत और सोने के नियम।

४—**भोजन**—खाने की सबसे अच्छी विधि। अच्छी तरह से खाने की आदत, स्वच्छ भोजन तथा स्वच्छ बर्तन। जूठे, बासी और गन्दे भोजन से हानियाँ तथा न चबाने से हानियाँ।

५—**दाँतों की रक्षा**—दाँतों की बनावट तथा दाँतों के लिए हानिकर भोजन, किस तरह दाँतों को साफ़ रखना चाहिए।

६—**वस्त्र**—वस्त्रों का उपयोग तथा सफ़ाई, ऋतु के अनुसार वस्त्रों को बदलना, भिन्न भिन्न वस्त्रों को कैसे पहनना चाहिए, रात्रि के समय के वस्त्र कैसे होने चाहिए।

७—**स्वच्छ वायु तथा उसके गन्दे होने के कारण**—कमरों में आने जाने के मार्ग।

८—**सूर्य्य के प्रकाश का मूल्य।**

९—**नेत्रों तथा कानों की रक्षा**—उनको हानि पहुँचानेवाली बातें तथा उनके बचाव के उपाय।

१०—**कसरत व खेल और उनके खेलने के उपयुक्त ढंग।**

११—**अपने बचाव के नियम**—सड़कों पर तथा भीड़ में चलने के उचित ढंग, सभ्यतापूर्ण तथा शिष्ट व्यवहार।

१२—**स्वास्थ्य-विषयक अच्छी बातों का महत्त्व**—स्वास्थ्य-विषयक उन्नति का विवरण रखना।

१३—**शरीर की तौल तथा नाप**—समय समय पर शिक्षकों तथा बालकों के माता-पिता को चाहिए कि बालकों के शरीर को तौल तथा नाप लें। उनसे उन्हें पता चलेगा कि उनके बालक ठीक तरह से बढ़ रहे हैं या नहीं। इनसे बालक का भी अपने शरीर की वृद्धि के सम्बन्ध में मनोरंजन होता है और इस मनोरंजन-द्वारा बालक को अपना जीवन स्वस्थ बनाने में सहायता दी जा

सकती है, साथ ही उनकी वृद्धि में उन्नति भी की जा सकती है। यह न समझ लेना चाहिए कि बालकों को तौलना तथा नापना डाक्टर का काम है। केवल एक डाक्टर अकेला हज़ारों बालकों की देख-भाल नहीं कर सकता। उसको ऐसे भी बहुत से काम करने पड़ते हैं जिनको शिक्षक नहीं कर सकते। यह शिक्षकों का ही कर्तव्य है कि वे बालकों की वृद्धि का ठीक उसी प्रकार विवरण रक्खें जिस प्रकार परीक्षा के नम्बरों का रखते हैं। किसी बालक के शरीर में जैसे ही कोई बड़ा दोष दिखाई पड़े, तुरन्त डाक्टर को सूचना देनी चाहिए।

उँचाई, वज़न तथा सीने की चौड़ाई का विवरण आवश्यक है। इस प्रकार की नाप-जोख शिक्षक स्वयं बालकों से करा सकते हैं। पहली बार की नाप कदाचित् उन्हें रोचक न प्रतीत हो। परन्तु इसके बाद की नाप में उन्हें बहुत आनन्द प्राप्त होगा क्योंकि उनको बहुत शीघ्र मालूम हो जाता है कि इन नापों के लिखने के लिए जो चार्ट बनाया जाता है इसमें उनके शरीर के विषय में बहुत ही मनोरंजक बातें लिखी जाती हैं। इस कारण उनको स्वभावतः बहुत आनन्द प्राप्त होता है और वे उस अवसर की बड़ी उत्सुकता से बाट जोहते हैं जब उनकी शारीरिक उन्नति का विवरण लिखा जायगा।

कम वज़नवाले तथा अधिक वज़नवाले बालकों को परीक्षार्थ डाक्टर के पास भेज देना चाहिए जिससे इन दोषों के दूर करने का वह उपाय बतलाये। बालकों के द्वारा उनके माता-पिता के पास स्वास्थ्य-विषयक उपदेश भेजे जा सकते हैं। शिक्षकों तथा डाक्टरों को ऐसे अवसरों से लाभ उठाने से न चूकना चाहिए। शरीर को प्रतिमास नापना और तौलना बालक की वृद्धि की सबसे अच्छी सूचना देता है। इसके द्वारा उन्नति में कमी तथा वृद्धि में रुकावट तुरन्त पकड़ी जा सकती है। किसी भी दशा में प्रत्येक स्कूल में इस प्रकार की परीक्षा वर्ष में कम से कम ३ बार अवश्य होनी चाहिए। प्रत्येक बालक का नाप चार्ट के रूप में लिखा जाना चाहिए और उस चार्ट को कक्षा में ऐसे स्थान पर लटकाना चाहिए जहाँ पर सबकी दृष्टि पड़े। उसके साथ में उसका ग्राफ़ बालकों ही द्वारा खिंचवाकर टाँग देना चाहिए। शिक्षक के वास्ते यह भी आवश्यक है कि अपनी कक्षा के नापों के औसत लम्बाई तथा औसत वज़न की तुलना उन औसतों से करे जो कि डाक्टरों ने उस स्थान के लिए तैयार की हैं। और इस प्रकार वह अपने बालकों के कई विभाग कर सकता है, जैसे आदर्श औसत, न्यून औसत, तथा अधिक औसत जैसा कि प्रत्येक की नाप-तौल हो। इस प्रकार उसे ज्ञात होगा कि

कौन-से बालक आदर्श पर स्थित हैं और किन बालकों को डाक्टर की सहायता की आवश्यकता है।

स्वास्थ्य-शिक्षा में माता-पिता का स्थान—स्वास्थ्य-विषयक आदतें डालने का भार वास्तव में घर की दशा पर निर्भर है। स्कूल में केवल यह बतलाया जा सकता है कि अच्छी आदतें डाली जा रही हैं या नहीं तथा उनमें कौन कौन सी कमी है और उन्हें कैसे पूरा किया जा सकता है। अध्यापकों तथा डाक्टरों के कर्तव्य का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। यह मानी हुई बात है कि पाठशाला में ज्ञान का उपार्जन किया जा सकता है, परन्तु उस ज्ञान का प्रयोग तथा स्वभाव व दृष्टिकोण का निर्माण माता-पिता के सहयोग पर बहुत कुछ निर्भर है।

इसलिए बालकों की उन्नति की रिपोर्ट घर भेजते समय शिक्षक को चाहिए कि माता-पिता का ध्यान उन बातों की ओर आकर्षित करे जिनमें उनके सहयोग की विशेष आवश्यकता हो। प्रत्येक माता-पिता को अपने बालकों की भलाई का ध्यान रहता है और यदि शिक्षक धैर्य और चतुराई से काम लें तो उन्हें शीघ्र ज्ञात हो जायगा कि माता-पिता सहयोग देने में बहुत तत्पर होते हैं। निम्नलिखित कुछ ऐसी बातें हैं जिनके लिए माता-पिता अपने को उत्तरदायी समझते हैं और यदि शिक्षक उनको यह दिखा दें कि इन बातों का बालकों के स्वास्थ्य से बड़ा घनिष्ठ सम्बन्ध है तो उनके घरों में इन बातों पर अधिक ध्यान दिया जायगा।

१—सादे, स्वास्थ्यकर तथा पर्याप्त भोजन का उचित समय पर प्रबन्ध करना।

२—घर के बाहर खेलने के लिए पर्याप्त समय देना जिससे बालकों की बढ़ती हुई मांस-पेशियाँ उचित रूप से वृद्धि कर सकें।

३—सोने का समय नियत करना तथा उसके लिए अच्छे हवादार कमरे देना और यदि हो सके तो अकेले सोने का प्रबन्ध करना।

४—प्रति दिन प्रातःकाल शौच जाने की आदत डालना और उचित रीति से स्नान करना सिखलाना।

५—बच्चों को स्वच्छ रखना और उनमें स्वच्छ रहने की आदत डालना।

६—बच्चों को धीरे-धीरे और साफ़ बोलना और फुर्ती से चलना

सिखाना, साथ ही सब कामों में अपने शरीर को सुन्दरता से रखने का ढङ्ग सिखलाना।

७—पड़ोस के बालकों के साथ शिष्ट व्यवहार रखने का ढङ्ग सिखलाना और एक ही अवस्था के बालकों के साथ खेलने का प्रोत्साहन देना। खेल की वस्तुओं को आपस में बाँटकर खेलना और इस प्रकार बालकों में दूसरों का भी ध्यान रखने का स्वभाव उत्पन्न करना।

८—ऐसे बालकों के सम्बन्ध में, जो पर्य्याप्त भोजन न पाते हों, या जिनके स्वास्थ्य में कुछ दोष हो, पाठशाला के स्वास्थ्य-विभाग का सहयोग करना।

बालकों के माता-पिता को कभी-कभी स्कूल में बुलाना चाहिए और उनके साथ स्वास्थ्य-क्रम पर विचार करना चाहिए। इस प्रकार इन बातों में उनकी अभिरुचि और भी बढ़ जायगी। यदि कभी कभी उनके सामने विद्यार्थियों ने जो कुछ सीखा है, उसका दिग्दर्शन भी करा दिया जाय तो और भी अच्छा हो।

बड़े विद्यार्थियों के लिए पाठ्य-क्रम—जब तीन चार वर्ष स्वभाव डालने का कार्य्य किया जा चुके और स्काउटिंग तथा जूनियर रेड क्रास के कार्य्य बालकों के ऊपर अपना प्रभाव डाल चुके हों, तब वह समय आ जायगा जब कि मानव-शरीर के ज्ञान की तथा उसके भिन्न-भिन्न भागों के कार्यों की व्यवस्थित शिक्षा देना उपयुक्त होगा। इसलिए निम्नलिखित विषयों के अनुसार पाठ्य-क्रम बनाया जा सकता है :—

१—**मानव-शरीर**—हड्डियाँ, मांस-पेशियाँ, रक्त का संचार, स्नायु तथा भीतरी अवयव।

२—**भोजन तथा भोजन का पचाना**—भोजन का परिमाण तथा प्रकार, भोजन का समय, पानी पीने का महत्त्व, भिन्न-भिन्न ऋतुओं के अनुकूल भोजन।

३—**स्वच्छ वायु तथा श्वास लेना**—कक्षा के कमरे तथा सोने के कमरे में वायु के आने जाने का प्रबन्ध, रक्त का शुद्ध होना।

४—**स्वच्छता ही पर स्वस्थ जीवन निर्भर है**—त्वचा तथा पसीना निकलना। मल निकालनेवाली अन्य इन्द्रियाँ। मल-निर्वासन की आवश्यकता। वस्त्र।

५—**व्यायाम तथा आराम**—उनका तत्त्व तथा मूल्य।

६—**नेत्र, कान तथा दाँतों की स्वच्छता तथा रक्षा**—उनको कैसे हानि पहुँचती है तथा उनकी रक्षा के उपाय।

७—**स्वस्थ मस्तिष्क की आवश्यकता**—स्वस्थ मस्तिष्क तथा स्वस्थ शरीर का घनिष्ठ सम्बन्ध।

८—**रोग तथा उनसे बचने के नियम**—संक्रामक तथा छूत के रोग, इनको फैलने से रोकने के उपाय।

९—**साधारण दुर्घटनायें तथा प्रारम्भिक चिकित्सा।**

१०—**औषधि-द्वारा रोगों का रोकना**—टीका (शीतला तथा हैज़े इत्यादि का), मलेरिया से बचना, हैज़ा तथा इन्फ़्लुएंज़ा।

११—**घर, स्कूल तथा पास-पड़ोस की सफ़ाई।**

पाठशाला की परिस्थिति—किसी भी पाठशाला के बाह्य तथा अन्दर के रूप से यह तुरन्त विदित हो जाता है कि वहाँ के शिक्षकों का स्वास्थ्य-विषयक मुख्य-मुख्य बातों के प्रति कितना ध्यान है। जैसे स्वच्छता तथा एक सीमा तक सौम्यता। डेस्कों की सफ़ाई तथा सजावट, कुर्सियों तथा ऐसी ही अन्य वस्तुओं की सजावट और स्वच्छता। कमरों तथा बरामदों के कोने में जाले तथा कूड़े का न होना, डेस्कों पर रोशनाई के धब्बे न होना तथा दरवाज़ों और खिड़कियों पर खड़िया के चिह्नों का न होना, सारी इमारत तथा हाते में एक प्रकार की सौम्यता का दृष्टिगोचर होना, बालकों का एक स्थान से दूसरे स्थान में पंक्ति बाँधकर नियमानुसार जाना, स्कूल के खेल के मैदान में छोटे बालकों की रक्षा के साधन, पीने के लिए अच्छे पानी का प्रबन्ध तथा उसके रखने के लिए बर्तनों की सफ़ाई और इसी प्रकार की अनेक अन्य बातों से ही प्रकट होता है कि हेड मास्टर तथा उसके अन्य अध्यापकों का स्वास्थ्य-शिक्षा के प्रति कितना ध्यान है। इनमें से अधिकांश बातों में कुछ भी व्यय नहीं पड़ता तथा बालक उनका प्रबन्ध स्वयं कर सकते हैं। स्वास्थ्य-शिक्षा तथा सफ़ाई के नियमों का प्रयोग करने के लिए ये बहुत ही उपयुक्त अवसर हैं और यदि बालकों को अपनी कक्षा की सफ़ाई का प्रबन्ध स्वयं करने को दे दिया जाय तो यह स्वभाव उनको अपने गृह में भी स्वच्छता का प्रचार करने में सहायता देगा।

शिक्षा में सहायता के लिए सामान—यदि शिक्षक स्वास्थ्य-शिक्षा को प्रयोग का रूप दें तो इसमें कुछ भी अधिक व्यय नहीं पड़ेगा। लगभग प्रत्येक

स्कूल को मानव-शरीर के भागों को समझाने के लिए कुछ चार्ट तथा माडल रखने चाहिए। दिल्ली की इण्डियन रेड क्रास सोसाइटी तथा उसकी लखनऊ में स्थित प्रान्तीय शाखा ने स्वास्थ्य-विषयक बहुत-से पोस्टर छपाये हैं। स्कूल यदि यह सिद्ध कर दे कि वह उन्हें मोल नहीं ले लकता तो उक्त संस्था के बहुत-से पोस्टर उसे बिना मूल्य मिल सकते हैं। यदि तौलने की मशीन न हो तो सबसे निकट के रेलवे स्टेशन की तौलने की मशीन से काम चलाया जा सकता है और वहाँ तक चलने में बहुत-सी अन्य शिक्षा-सम्बन्धी बातें रास्ते में बताई जा सकती हैं। यदि स्कूल ले सके तो नापने का एक फ़ीता, कुछ दफ़्ती के ताव, साबुन तथा तौलिया और चारख़ानेदार काग़ज़ के कुछ तख़्तों से सब काम निकाला जा सकता है। स्वास्थ्य-विषयक किसी भी कठिनाई के पड़ने पर उस स्थान के स्वास्थ्य-विभाग का अफ़सर प्रसन्नता से शिक्षक की सहायता करेगा। प्रारम्भिक चिकित्सा की शिक्षा के लिए खपाच्चियाँ और पट्टियाँ सरलता से बनाई जा सकती हैं किन्तु पट्टियों के लिए यथासम्भव दृढ़ और स्वच्छ कपड़ा लेना चाहिए।

अधिकांश चार्ट और पोस्टर बालक स्वयं बना सकते हैं और यदि उनके कार्य का योग्यता से निरीक्षण तथा संचालन किया जाय तो उनकी वस्तुएँ शिक्षा में उदाहरण के लिए बहुत लाभदायक हो सकती हैं। संक्षेप में यदि पाठशाला स्वास्थ्य-विभाग से घनिष्ठ सम्बन्ध स्थापित रक्खे तो स्वास्थ्य-शिक्षा के लिए उसे सामान की न्यूनता का अनुभव कभी न करना पड़ेगा। इस सम्बन्ध के द्वारा शिक्षक अपने स्थान तथा प्रान्त के स्वास्थ्य-सम्बन्धी बहुत से विषयों का सरलता से ज्ञान प्राप्त कर सकता है जो कि उसे पुस्तकों से कभी नहीं प्राप्त हो सकता।

शिक्षा में कुछ ध्यान देने योग्य बातें—ऊपर यह कहा जा चुका है कि स्वास्थ्य-विज्ञान की शिक्षा बालकों की प्रवृत्तियों के अनुसार दी जानी चाहिए अर्थात् उनकी स्वाभाविक अभिरुचि तथा इच्छाओं के अनुकूल ही स्वास्थ्य-शास्त्र की शिक्षा होनी चाहिए। यह भी बताया जा चुका है कि स्वास्थ्य-शास्त्र का ज्ञान युवा-अवस्था में प्रायः तीन प्रकार से विशेषतः प्रदान किया जा सकता है—(अ) अच्छी बातें डलवाकर, (इ) जीव-विज्ञान के सिद्धान्तों को बताकर और (उ) सादे तथा उच्च जीवन के सिद्धान्तों को समझकर उनका पालन करके। स्वास्थ्य-शास्त्र की शिक्षा से तभी लाभ हो सकता है जब शिक्षक इस विषय पर इन्हीं विभागों के अनुसार विचार करें तथा उसकी शिक्षा इसी विधि से, बालकों की अवस्था तथा आवश्यकताओं को ध्यान में रखते

हुए दें। केवल इसी के पढ़ा देने से काम न चलेगा क्योंकि यह ऊपर दिखा दिया गया है कि दूसरे विषयों से इसका उचित रूप से सम्बन्ध कर देने से शिक्षा में बहुत कुछ उन्नति की जा सकती है। जब तक इस विषय का बालकों के स्कूल, व्यक्तिगत तथा गृह-जीवन से सम्बन्ध न कर दिया जायगा तब तक इससे विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं हो सकती। वास्तव में हमारे जीवन के लिए यह सबसे आवश्यक विषय है और इसी की सहायता से हम जीवित रहते हैं। "बड़ी अवस्था के बालकों के लिए, इसमें जीवन-मरण के गूढ़ तत्त्व का समावेश कर दो, मानव-जाति के संचित अनुभव को इसमें युक्त कर दो, और बालक को कम से कम इस विषय-द्वारा यह अनुभव करने दो कि जीवन का कोई महत् उद्देश्य भी है—कोई ऐसी वस्तु है जिसकी महत्ता परीक्षाओं तथा पाठों से बहुत उच्च है। उन्हें मानव शरीर के अद्भुत रहस्यों का उद्घाटन करने दो, मनुष्य के विशाल मस्तिष्क की शक्ति परखने दो, मानवीय आत्मा की विशालता तथा अपरिमित अन्तःशक्ति का ज्ञान प्राप्त करने दो। शरीर, मस्तिष्क तथा आत्मा की स्वस्थता—यही सच्चा धन है। इसके अतिरिक्त और सब धन हेय हैं।" [सर जार्ज न्यूमन]

पाठशालाओं में स्वास्थ्य-शिक्षा तीन बातों के अनुसार होती है। (१) शिक्षक को इस विषय के सब अङ्गों का ज्ञान होना चाहिए। शरीर-शास्त्र के टूटे-फूटे ज्ञान तथा स्वास्थ्य और स्वच्छता के दो चार नियमों को जान लेने से काम नहीं चलेगा। ऊपर बताया जा चुका है कि यदि शिक्षक स्वास्थ्य-विभाग के कर्मचारियों से संसर्ग रक्खेगा और विषय के प्रति अपना दृष्टि-कोण ठीक रक्खेगा तो वह अपने विषय के सब अङ्गों का पूर्ण ज्ञाता हो जायगा। (२) शिक्षक को अपने ज्ञान को क्षीण होने से बचाना चाहिए तथा अपनी योग्यता को बढ़ाते रहना चाहिए। इसके लिए उसे जूनियर रेड क्रास तथा बालचर-संस्थाओं से संसर्ग रखना चाहिए और सेंट जान एम्बुलेंस् असोसियेशन के जितने सार्टिफ़िकेट वह प्राप्त कर सके उसे प्राप्त करना चाहिए। इस अङ्ग के लिए भी स्वास्थ्य तथा चिकित्सा-विभाग के कर्मचारियों का संपर्क उसे अतिशय लाभप्रद होगा। (३) उसे इस विषय का विस्तृत पाठ्यक्रम बनाना चाहिए और उसमें शिक्षा-विभाग द्वारा निश्चित विषय के अतिरिक्त बालकों की अवस्था, योग्यता, प्रवृत्ति तथा उनकी वास्तविक आवश्यकताओं का भी ध्यान रखना चाहिए।

बालकों को यदा-कदा स्वास्थ्य-विज्ञान-सम्बन्धी स्थानों पर ले जाना

बहुत लाभदायक होता है। वाटर वर्क्स में बालक पानी के स्वच्छ करने की तथा उसे घरों तक पहुँचाने की विधि का निरीक्षण कर सकते हैं। गंदा पानी ले जानेवाले नलों इत्यादि से उन्हें दिखाया जा सकता है कि नगर की सफ़ाई का प्रबन्ध कैसे किया जाता है। गोशालाओं में बालक दूध तथा उससे बननेवाले अनेक पदार्थों के विषय में बहुत-सी लाभदायक बातें सीख सकते हैं और यह आवश्यक भी बहुत है क्योंकि ये पदार्थ इस देश में बहुत उपयोग में आते हैं। अस्पतालों में रोगियों तथा पीड़ितों की सेवा-शुश्रूषा का पाठ पढ़ाया जा सकता है। मेलों में सफ़ाई का जो प्रबन्ध कर दिया जाता है उससे भी बहुत कुछ शिक्षा प्राप्त की जा सकती है। संक्षेप में जहाँ कहीं भी उपयुक्त अवसर प्राप्त हो, बालकों को अपने तथा समाज के स्वास्थ्य से सम्बन्ध रखनेवाली बातों का निरीक्षण अवश्य कराना चाहिए।

खुले मैदान में कक्षा लगाना—पाठशाला-भवन तथा कक्षाओं को अच्छी अवस्था में बनाये रखने के अतिरिक्त, शिक्षकों की स्वास्थ्य-विज्ञान के प्रति अभिरुचि इस बात से भी बहुत कुछ व्यक्त होती है कि वे खुले मैदान में भी उचित रीति से शिक्षा देते हैं अथवा नहीं। देहात में वर्ष के अधिकांश भाग में खुले मैदान में शिक्षा दी जा सकती है। बहुत-सी पाठशालाओं में ऐसी शिक्षा में ख़ूब सफलता प्राप्त हुई है और यदि बैठने का उचित प्रबन्ध रहे तो इससे उत्तम कोई प्रणाली हो ही नहीं सकती। घण्टों के बीच में एक स्थान से दूसरे पर जाने में बालकों की थकावट नष्ट हो जाती है और खुली वायु तथा सूर्य का प्रकाश बालकों के स्वास्थ्य तथा बुद्धि में उन्नति करता है और कठोर मानसिक परिश्रम के कुपरिणाम का निवारण करता है।

त्रयोदश अध्याय

शिक्षा-प्रणाली का आधुनिक विकास

वर्तमान काल में मनोविज्ञान का प्रभाव शिक्षा-प्रणाली पर पड़ने से एक बात सिद्ध हुई है कि शिक्षक को बालक पर विशेष ध्यान देना पड़ता है। पुरानी शिक्षा-प्रणाली के अनुसार शिक्षक को केवल विषय ही जानना पर्याप्त था। अब ऐसा नहीं है। विषय को जानने के साथ साथ उसे बालक की मनोवृत्तियों का ज्ञान भी होना आवश्यक है। इस ज्ञान को शिक्षा-प्रणाली में सम्मिलित करने से शिक्षण-पद्धति में अधिक परिवर्तन हुआ है। पश्चिमी देशों में बहुत-सी विशेष रीतियाँ निकाली गई हैं। उनके अनुसार शिक्षा देकर उनकी उत्तमता तथा त्रुटियों का ज्ञान प्राप्त किया गया है और उनको ध्यान में रखकर शिक्षा-प्रणालियों में यथोचित परिवर्तन किया गया है। इस अध्याय में हम कुछ नवीन प्रणालियों का वर्णन करेंगे और यह विचार करेंगे कि हमारी पाठशालाओं में उनका प्रयोग कहाँ तक किया जा सकता है।

शिक्षा-सिद्धान्त के इतिहास का अवलोकन करने से यह ज्ञात होगा कि अध्यापक का ध्यान बालक की ओर बहुत समय हुआ तभी आकर्षित किया गया था परन्तु मनोविज्ञान का ज्ञान न होने के कारण उसका ठीक ठीक महत्त्व नहीं समझा गया। कई सौ वर्ष हुए तब रूसो (Rousseau) ने इस बात पर ज़ोर दिया था कि बालक की शिक्षा प्रकृति के अनुसार होनी चाहिए। बालक को सीधा प्रकृति के आश्रय में छोड़कर उसको प्रकृति की सहायता से हर एक बात का ज्ञान देना चाहिए। उसके सब सिद्धान्त उचित थे अथवा नहीं इस पर यहाँ हमें विचार करने की आवश्यकता नहीं। परन्तु यह निश्चय है कि उसी ने सर्वप्रथम बालक पर शिक्षकों का ध्यान आकर्षित किया और यह समझाया कि अध्यापक और विषय् की मुख्य बातें नहीं हैं। उसके उपरांत बूढ़े पेटलॉज़ी (Pestalozzy) ने बालक पर ध्यान देना मनोविज्ञान की दृष्टि से सिद्ध किया।

किसी शिक्षा-प्रणाली के गुणों और अवगुणों पर विचार करने के लिए हमें यह भी देखना पड़ेगा कि वर्तमान काल में शिक्षा का मुख्य उद्देश्य क्या है।

शिक्षा के उद्देश्य पर केवल मनोविज्ञान की दृष्टि से ही विचार करना प्रर्याप्त न होगा। हमें जीवन के उद्देश्यों पर विचार करना पड़ेगा। मनुष्य का क्या कर्तव्य है? शिक्षा उस कर्तव्य का पालन करने में उसे कहाँ तक सहायता देती है?

शिक्षा के उद्देश्य पर बहुत कुछ विचार प्रकट किये गये हैं। शिक्षा के द्वारा बालक को विद्या प्रदान की जाती है पर शिक्षा का केवल यही उद्देश्य नहीं है कि बालक को विद्वान् बना दिया जाय। मुख्य उद्देश्य यह होना चाहिए कि बालक को विद्या-द्वारा मनुष्य बनाया जाय। यह भी कहा जाता है कि शिक्षा देने से बालक अपने आर्थिक जीवन में सफलता प्राप्त करे। वर्तमान काल में आर्थिक जीवन की महत्ता अधिक होती जाती है परन्तु आर्थिक जीवन ही मनुष्य का मुख्य जीवन नहीं कहा जा सकता। ऐसे जीवन में स्वार्थ की मात्रा अधिक होती है पर स्वार्थपरायणता को उच्च उद्देश्य नहीं माना जा सकता।

प्रत्येक समाज का यह कर्तव्य है कि अपने बालकों की शिक्षा का प्रबन्ध करे। यह प्रबन्ध कोई समाज व्यर्थ के लिए नहीं करता। समाज के लिए शिक्षा का प्रबन्ध करना अपने जीवन के लिए परमावश्यक होता है। यदि कोई समाज इस बात का प्रबन्ध न करे तो थोड़े ही समय में उस समाज का जीवन नष्ट हो जायगा। समाज को जीवित रखने के लिए शिक्षा आवश्यक है। शिक्षा का क्या उद्देश्य होना चाहिए यह प्रत्येक समाज अपने जीवन के अनुसार निर्धारित करता है। बालक का जीवन समाज के अधीन है। उसकी शिक्षा भी वैसी ही होगी जैसी सामाजिक जीवन के लिए लाभप्रद हो। जान ड्यूई (John Dewey) का यह कथन है कि वर्तमान काल की पाठशालाओं में एक दोष उत्पन्न हो गया है जिसका निवारण करना बहुत आवश्यक है। पाठशाला का कार्य सामाजिक जीवन से बहुत पृथक् हो गया है। उसका परिणाम यह हुआ है कि जो शिक्षा पाठशालाओं में दी जाती है वह सामाजिक जीवन के लिए उपयोगी नहीं होती है। ऐसा होने से समाज का संगठन नहीं बना रह सकता। शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि सामाजिक जीवन की उन्नति हो। इस कारण पाठ-शालाओं की शिक्षा को सामाजिक जीवन के समान जहाँ तक बनाया जा सके बनाने का प्रयत्न करना चाहिए।

समाज ही पर मनुष्य का जीवन निर्भर है। वह जो कुछ उन्नति करता है समाज ही की सहायता से करता है। सामाजिक संगठन न हो तो उसका जीवन असम्भव हो जाय। इसलिए जैसी शिक्षा से सामाजिक उन्नति हो सके वही उसे

मिलनी चाहिए। सामाजिक दृष्टि से शिक्षा-प्रणाली में जो कुछ दोष हैं उन्हें निवारण करने का प्रयत्न वर्तमाम काल में किया जा रहा है।

सामाजिक उन्नति पर अधिक ध्यान आकर्षित हो जाने से एक दोष उत्पन्न हो सकता है और जहाँ की शिक्षा-प्रणाली में उपर्युक्त लिखित सिद्धान्त का धूम से प्रयोग किया गया है वहाँ वह दोष किसी मात्रा में पाया भी जाता है—वह दोष समाज की आड़ में व्यक्तित्व का लोप हो जाना है। समाज पर अधिक ध्यान देने से व्यक्तित्व का लोप हो जाता है। शिक्षा का उद्देश्य यह कदापि न होना चाहिए कि बालक का व्यक्तित्व नष्ट हो जाय। सच तो यह है कि शिक्षा का यह उद्देश्य होना चाहिए कि हर प्रकार से व्यक्तित्व का विकास हो। सर परसी नन् (Sir Percy Nunn) का यह अनुरोध है कि जहाँ तक हो सके शिक्षा-द्वारा बालक के व्यक्तित्व का विकास होना चाहिए। ऐसा होने से प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को जितना उपयोगी बना सकता है बनावेगा। व्यक्तियों से ही मिलकर समाज बनता है और जितनी उन्नति व्यक्ति करेंगे उतना ही सामाजिक जीवन भी उन्नत होगा। समाज को चाहिए कि प्रत्येक व्यक्ति को उन्नति करने का अवसर दे जिससे स्वयं उसकी उन्नति हो। सच तो यह है कि वैयक्तिक जीवन और सामाजिक जीवन दोनों एक दूसरे से गुँथे हुए हैं। एक का प्रभाव दूसरे पर पड़ता है। एक की उन्नति दूसरे पर निर्भर है। सामाजिक संगठन होने से ही व्यक्तित्व का विकास हो सकता है और व्यक्तित्व का विकास होने से साभाजिक उन्नति यथोचित हो सकती है।

पाठशाला बालकों का एक बड़ा समूह है। सामाजिक दृष्टि से इस समूह में वही संगठन होना चाहिए जैसा की बाहरी मनुष्य-समाज में। पाठशाला समाज से पृथक् नहीं है। वह समाज का एक उच्च प्रतिबिम्ब है जहाँ कि मनुष्य-समाज में जितनी उत्तम बातें हैं वे बालकों को सिखाई जाती हैं। पाठशाला एक बड़ा समुदाय है और उसके बहुत-से छोटे-छोटे अङ्ग हैं जिन्हें कक्षा कहते हैं। मुख्य रूप से बालक कक्षा में शिक्षा प्राप्त करता है। शिक्षा का कुछ अङ्ग ऐसा भी है जो कि बालक समस्त पाठशाला का सदस्य होने से ही प्राप्त करता है।

मनोविज्ञान से हमें यह विदित होता है कि मनुष्य अकेला नहीं रह सकता, वह अपना जीवन समूह में ही व्यतीत कर सकता है। उसको अकेला रखना उसकी प्रकृति के विरुद्ध होगा। इसी कारण बालक की उचित शिक्षा कक्षा में दूसरे बालकों के साथ रहकर ही हो सकती है। बालक एक दूसरे के साथ रहकर ही एक दूसरे को भले प्रकार से समझ सकते हैं। एक दूसरे के साथ मिलकर कार्य कर

सकते हैं। मनुष्य का जीवन सामाजिक जीवन है इसलिए उसको बालकपन से इस बात की शिक्षा मिलनी चाहिए कि वह अन्य व्यक्तियों के साथ मिल जुलकर जीवन के कार्यों को साध सके। कक्षा और पाठशाला दोनों का यह उद्देश्य होना चाहिए कि वे सामाजिक जीवन के मुख्य उद्देश्यों को पूर्ण कर सकें। बालकों को यह बता सकें कि समूह में किस प्रकार कार्य किया जा सकता है।

परन्तु इसके साथ ही साथ हम बालक के व्यक्तित्व के विकास पर भी अधिक ज़ोर देंगे। कक्षा और पाठशाला दोनों के कार्य इस प्रकार चलने चाहिए कि बालक का व्यक्तित्व नष्ट न हो। यदि समाज के बोझ से व्यक्तित्व दब गया तो शिक्षा का उद्देश्य पूर्णतया सफल नहीं हुआ।

समाज की उन्नति व्यक्तियों पर निर्भर है। इसलिए यह ध्यान में रखना पड़ेगा कि पाठशाला बालक के लिए है न कि बालक पाठशाला के लिए। कक्षा की पाठन-प्रणाली में यह मुख्य दोष उत्पन्न हो सकता है कि बालक का व्यक्तित्व जाता रहे। बहुत-से शिक्षकों का यह मत है कि जिस रूप से कक्षा में शिक्षा दी जाती है उससे बालक की सम्पूर्ण शक्तियों का विकास नहीं होने पाता। जैसे झुंड में प्रत्येक भेड़ चली जाती है उसी प्रकार बालक भी झुंड में छिपा हुआ पाठशाला से निकल जाता है। कक्षा और पाठशाला में दोष होते हुए भी उनका उठा देना सम्भव नहीं है। यह सम्भव नहीं कि प्रत्येक बालक को एक एक शिक्षक पृथक् पृथक् पढ़ावे। आर्थिक दृष्टि से यह असम्भव है। परन्तु यदि यह सम्भव भी हो तो मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक दृष्टि से उचित नहीं है। बालक का दूसरे बालकों के साथ रहकर ही शिक्षा प्राप्त करना कल्याणप्रद है। इससे यह प्रकट होता है कि केवल कक्षा की शिक्षा-प्रणाली में जो त्रुटियाँ हों वे दूर की जायँ। इसी बात को ध्यान में रखकर कुछ नई प्रणालियाँ सोची गई हैं जिनका आगे हम संक्षेप में वर्णन करेंगे।

मोंटेसोरी-प्रणाली (Montessori Method)—मोंटेसोरी एक इटैलियन महिला हैं जिन्होंने छोटे बालकों की शिक्षा-प्रणाली पर बहुत कुछ विचार प्रकट किये हैं। उन्होंने बालक की मानसिक प्रवृत्तियों पर विशेष ध्यान देकर कुछ बातें सोचीं और उन्हें पढ़ाने की रीतियों में सम्मिलित किया। छोटे बालकों को किंडरगार्टन-प्रणाली से आज-कल जो शिक्षा दी जाती है उसका बहुत कुछ श्रेय मोंटेसोरी ही को है। फ्रिबेल नामक एक जर्मन विद्वान् ने पहले पहल किंडरगार्टन-प्रणाली चलाई थी। मनोविज्ञान की दृष्टि से मोंटेसोरी ने उसका विश्लेषण किया और उसमें जो परिवर्तन आवश्यक थे किये। मोंटेसोरी-प्रणाली की

कुछ मुख्य विशेषताओं का हम उल्लेख करते हैं। वे मनोविज्ञान के मुख्य उद्देश्य से सहमत हैं कि जिन व्यक्तियों को शिक्षा देनी हो उनकी मनोवृत्तियों का जानना अध्यापक के लिए परमावश्यक है। प्रायौगिक मनोविज्ञान-द्वारा ज्ञात बातों पर उन्होंने पूरा ध्यान दिया है।

पहली बात जिस पर कि मोंटेसोरी ने ज़ोर दिया है यह है कि शिक्षा-प्रणाली में बालक की स्वतंत्रता का पूरा ध्यान रखना चाहिए। बालक को जहाँ तक हो सके स्वतंत्रता देनी चाहिए तभी उसकी शक्तियों का पूर्ण विकास हो सकता है। रूसो ने बालक को बन्धन से छुड़ाकर प्रकृति के भरोसे छोड़ देना निश्चित किया था। मोंटेसोरी ने बालक के स्वाधीन होने का आग्रह अवश्य किया है परन्तु स्वतंत्रता से उनका क्या आशय है यह भी स्पष्ट कर दिया है। स्वतंत्रता का अर्थ यह नहीं है कि बालक को मनमाना करने दिया जाय और उस पर किसी प्रकार का शासन न किया जाय। उनका अर्थ यह है कि बालक मशीन के समान नहीं है जिसे अध्यापक जैसे चाहे चला दे और वह निर्विघ्न चलती रहे। बालक के मानसिक और सामाजिक जीवन के विकास के लिए यह आवश्यक है कि उसकी प्रवृत्तियों के अनुसार उसको स्वतंत्रतापूर्वक चलने देना चाहिए। बालक का व्यक्तित्व तभी बढ़ेगा जब उसको अपनी शक्तियों को काम में लाने का पूरा पूरा अवसर मिलेगा। शासन और पढ़ाई दोनों में बालक को स्वतंत्रता मिलनी चाहिए। जब किसी कक्षा में बालकों को एकत्रित करके शिक्षा देते हैं तो इस बात को ध्यान में नहीं रखते कि प्रत्येक बालक की आवश्यकतायें पृथक् पृथक् हैं। फिर हम सब बालकों को एक ही पाठ्य-विषय (curriculum) पढ़ाते हैं। यह स्वतंत्रता के सिद्धान्त के विरुद्ध है। बालक पाठशाला में अपने को बहुत बन्धन में पाता है। उसे वही स्वतंत्रता मिलनी चाहिए जिसका अनुभव वह अपने घर में करता है। इस कारण छोटे बालकों के लिए मोंटेसोरी ने यह आवश्यक समझा कि पाठशाला में घरवाला वातावरण उत्पन्न कर दिया जाय।

दूसरी बात जिस पर मोंटेसोरी ने विशेष ज़ोर दिया है यह है कि बालक की शिक्षा में ऐन्द्रिक ज्ञान की अधिक मात्रा रक्खी जाय। वस्तुओं का उचित ज्ञान हम इन्द्रियों-द्वारा प्राप्त करते हैं। जहाँ तक हो सके प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त होना चाहिए। मनोविज्ञान हमें यह बतलाता है कि हम प्रथम सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं। सामान्य प्रत्यय बहुत ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त होता है। बालकों को प्रारम्भिक कक्षाओं में प्रत्याहृत विचारों का देना वृथा है। उन्हें इन्द्रियों ही द्वारा अनुभव करा के किसी बात का ज्ञान देना चाहिए।

मोंटेसोरी बालकों को ऐन्द्रिक अभ्यास देना बहुत आवश्यक समझती हैं। ऐसा करने से कई लाभ हैं। प्रथम तो बालक उचित ज्ञान प्राप्त करते हैं क्योंकि वे प्रत्यक्ष अनुभव कर सकते हैं। फिर इस प्रकार की शिक्षा आगे चलकर विज्ञान के बढ़ाने में बहुत कुछ सहायता देती है। बालक को आरम्भ से ही वैज्ञानिक शिक्षा (scientific training) मिल जाती है। ऐन्द्रिक शिक्षा का प्रभाव बालक की भावना-शक्ति पर भी पड़ता है। यह सब सोच विचार कर मोंटेसोरी ने अपनी शिक्षा-प्रणाली में बहुत-सी उचित वस्तुओं और क्रियाओं का प्रयोग करना उचित समझा। जितनी वस्तुएँ किंडरगार्टन कक्षाओं में बालकों को बनाने, तोड़ने, या खेलने को दी जाती हैं उनका यही उद्देश्य है।

तीसरी बात जिस पर मोंटेसोरी ने ज़ोर दिया है यह है कि बालक की भावना-शक्ति का उचित विकास होना चाहिए। बालक भावना-शक्ति का बहुत अधिक प्रयोग करता है। परन्तु बालक की भावना अधिकतर औत्प्रेक्षिक जाति की होती है। औत्प्रेक्षिक भावना होने के कारण उसका मन तरङ्गों में बहा करता है। कृत्यसाधक जीवन से बालक का मन बहुत दूर रहता है और बहुधा आकाश-पुष्प तोड़ा करता है। वास्तविकता का ध्यान बालक को कम रहता है। वह यह समझता है कि उस प्रकार का जीवन जैसा कि भूतों, प्रेतों, परियों इत्यादि की कहानियों में लिखा है इस संसार में प्रत्यक्ष रूप से हो सकता है। ऐसी स्थिति में मोंटेसोरी का यह अनुरोध है कि बालकों को परियों इत्यादि की कहानियाँ न पढ़ने देनी चाहिए। उनके सामने केवल ऐसी ही घटनायें उपस्थित करनी चाहिए जो वास्तविक हों। उनका यह कहना है कि बालक को औत्प्रेक्षिक भावना करने से दूर रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि उन्हें आरम्भ ही से वैज्ञानिक शिक्षा दी जाय। मोंटेसोरी-प्रणाली में इस कारण भी 'ऐन्द्रिक अभ्यास' पर विशेष ध्यान दिया जाता है।

डाल्टन-प्रणाली (Daltton Plan)—डाल्टन प्लान नाम में एक विशेषता है। यह प्रणाली किसी मनुष्य के नाम पर नहीं है। डाल्टन (Dalton) एक नगर का नाम है जो अमेरिका के मैसेच्यूसेट्स नामक प्रान्त में स्थित है। पहले पहल यह प्रणाली यहीं काम में लाई गई थी। इसलिए इसका यह नाम पड़ा। इस प्रणाली की चलानेवाली एक स्त्री हैं जिनका नाम हेलेन पार्कहर्स्ट (Mias Helen Parkhurst) है। इन्होंने इस प्रणाली को पहले-पहल सोच निकाला और डाल्टन नगर में इसका प्रयोग किया। डाल्टन-प्रणाली केवल अमेरिका में ही नहीं बल्कि योरोप के कुछ देशों में भी प्रयोग में लाई गई

है। लन्दन में भी इस प्रणाली के अनुसार काम करनेवाली एक पाठशाला है जिसके मुख्याध्यापक लिंच (Lynch) हैं। मिस पार्कहर्स्ट स्वयं मोंटेसोरी की अनुगामिनी हैं। उन्होंने उनके सिद्धांतों को ग्रहण किया है और, जैसा कि आगे चलकर विदित होगा, उन सिद्धांतों को अपनी प्रणाली में सम्मिलित करने का प्रयत्न किया है।

डाल्टन-प्रणाली को डाल्टन लेबोरेटरी प्लान (Dalton Laboratory Plan) भी कहते हैं। इस नाम-द्वारा इसका एक मुख्य उद्देश्य भी स्पष्ट हो जाता है। विज्ञान, (भौतिक, रसायन, इत्यादि) के सिखाने के लिए प्रयोग-शालायें होती हैं जिन्हें लेबोरेटरी कहते हैं। इन लेबोरेटरियों में छात्र क्रिया और प्रयोग करते हैं और उन प्रयोगों द्वारा विज्ञान के सिद्धांतों को सीखते हैं। मिस पार्कहर्स्ट का भी यही आशय है कि कक्षाओं की जगह प्रत्येक विषय की एक एक पृथक् लेबोरेटरी अर्थात् प्रयोगशाला हो जहाँ पर वह विषय सीखने के लिए सब वस्तुएँ बालक के लिए उपस्थित हों। बालक एक विषय की लेबो-रेटरी में जाय और वह जो कुछ पढ़ना या अनुसन्धान-क्रिया करना चाहे उसके लिए उसे वहाँ सामान उपस्थित मिले। यदि भूगोल की लेबोरेटरी है तो वहाँ भूगोल सीखने का सारा सामान एकत्रित होना चाहिए। वहाँ पर मानचित्र, ग्लोब, पुस्तकें, आवश्यक चित्र, माडल इत्यादि सब कुछ हों। प्रत्येक विषय की लेबोरेटरी में उस विषय-सम्बन्धी सामान होना चाहिए। अध्यापक को सब कुछ सोच-विचार कर तैयारी करने की आवश्यकता है। हम पहले सूक्ष्म रीति से इस प्रणाली का वर्णन करेंगे और फिर इसके सिद्धांतों पर विचार करेंगे।

प्रत्येक विषय के लिए पृथक् पृथक् लेबोरेटरी तैयार कर दी जाती है। प्रत्येक विषय के अध्यापक के हाथ में उस विषय की लेबोरेटरी का प्रबन्ध रहता है। हर समय वह लेबोरेटरी में उपस्थित रहता है जिसमें वहाँ काम करनेवाले बालकों को जो कुछ पूछना हो उससे पूछ सकें। बिना पूछे बालक के काम में विशेष हस्तक्षेप करने की आवश्यकता नहीं होती। वर्ष भर में जितना काम करना होता है उसे ९ अथवा १० भागों में बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग एक महीने का काम समझा जाता है। मास भर के कार्य का पूरा ब्योरा बनाकर मास के आरम्भ में बालक को दे दिया जाता है और बालक उस कार्य को स्वतन्त्रता-पूर्वक करता है। वह प्रतिदिन चाहे जितना काम करे। यह भी आवश्यक नहीं कि वह प्रत्येक दिन हर विषय का कुछ न कुछ काम करे। वह दिन भर अपनी इच्छानुसार एक ही विषय पढ़ सकता है। उसके लिए केवल यह आवश्यक है

कि मास भर के लिए जितना काम दिया गया है वह मास के अन्त तक प्रत्येक विषय में पूरा हो जाना चाहिए। मास भर तक कार्य करने के लिए अध्यापक बालक को एक योजना बना कर दे देता है। इस योजना को असाइनमेन्ट (Assignment) अथवा सिपुर्द किया हुआ काम कहते हैं। असाइनमेन्ट में केवल यही नहीं बतलाया जाता कि कितना कार्य करना है बल्कि कैसे काम करना है, किन किन पुस्तकों को पढ़ना है, किन किन अन्य पुस्तकों से सहायता लेनी है, कितना लिखना है, किन चित्रों की आवश्यकता है, वे कहाँ मिलेंगे, किन प्रयोगों को करना होगा, इन प्रयोगों के करने के पहले कौन पुस्तकें पढ़नी होंगी इत्यादि बातें भी उसमें लिख दी जाती हैं। इन सबका अर्थ यह है कि बालक को ठीक ठीक मार्ग दिखाकर उसे अपने आप काम करने को छोड़ दिया जाता है। बालक को इतना बताने पर भी स्वावलम्बी होना पड़ता है। यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि असाइनमेन्ट का तैयार करना कठिन काम है और अध्यापक को इसके बनाने में बहुत सोचना और परिश्रम करना पड़ता है।

हम जो कुछ कह आये हैं उससे ऐसा प्रतीत होता है कि बालक प्रतिदिन मनमाने समय तक जो विषय चाहें पढ़ सकते हैं। कोई समय निश्चित नहीं होता। वास्तव में ऐसा किया जाता है कि सारे दिन को (जितने घंटे पाठशाला में काम होता) दो भागों में बाँट देते हैं। एक भाग में जैसे १० से १ तक डाल्टन-प्रणाली, जैसी कि हम ऊपर बता चुके हैं, काम में लाई जाती है। परन्तु दूसरे भाग में, १½ से ३ तक, मामूली पाठशाला में जैसे काम होता है वैसे बालकों को कक्षाओं में एकत्रित करके काम होता है। साधारण रीति से इस समय पढ़ाई नहीं होती परन्तु बहुत कुछ रटाने, समझाने, वाद-विवाद करने का काम इस समय किया जाता है। यदि बालक को नये नियम, मौखिक पाठन या बातचीत सिखानी हो तो इस समय सिखाई जा सकती है। ऐसा करने से पढ़ाई के सम्पूर्ण भागों पर ध्यान दिया जा सकता है।

साधारण कक्षा की पढ़ाई में कुछ दोष होने के कारण नई प्रणालियाँ निकाली गई हैं। यह कहना अनुचित न होगा कि डाल्टन प्लान इस कक्षा-प्रणाली के विरुद्ध विद्रोह का एक प्रत्यक्ष प्रमाण है। कक्षा में बालक पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया जाता। परन्तु डाल्टन प्लान में ध्यान का मुख्य केन्द्र बालक ही बन जाता है। वह अपनी रुचि के अनुसार जो विषय जिस समय चाहता है पढ़ता है। जितने समय तक वह उसे पढ़ना चाहता है उतनी ही देर पढ़ता है। किसी विषय के समझने में अपनी योग्यतानुसार जितना समय और

प्रयत्न उसे लगाना चाहिए लगाता है। कक्षा में जब अधिक बालक होते हैं तब बालकों की पृथक् पृथक् योग्यता का बिलकुल ध्यान नहीं रक्खा जा सकता परन्तु इस प्रणाली में यह प्रश्न उठता ही नहीं। इस प्रणाली में व्यय अवश्य अधिक लगता है। कारण यह कि लेबोरेटरी में पर्याप्त सामग्री, पुस्तकें इत्यादि एकत्रित करने में धन की आवश्यकता होती है। यदि बालकों की संख्या अधिक हुई तो व्यय और भी अधिक हो जाता है। परन्तु आरम्भ करने के समय ही व्यय अधिक होता है। आगे चलकर उतना नहीं होता।

मोंटेसोरी-प्रणाली में जैसे बालक की स्वतन्त्रता पर अधिक ध्यान दिया जाता है उसी प्रकार डाल्टन-प्रणाली में भी यह एक मुख्य सिद्धान्त माना गया है। जैसा हम कह चुके हैं, बालक को विषय, समय या किसी भी और बात में नहीं बाँधा जाता। बालक अपने इच्छानुसार अपने कार्य को करता है। परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि उस पर किसी प्रकार का नियन्त्रण नहीं रक्खा जाता। उसको स्वतन्त्रता केवल इस बात में मिलती है कि वह अपनी रुचि के अनुसार पढ़ाई-लिखाई का कार्य करता रहे। मनोविज्ञान से हमें यह ज्ञात होता है कि अवधान का मुख्य कारण रुचि है। बिना अवधान के कार्य में सफलता प्राप्त नहीं होती और रुचि बिना अवधान नहीं होता। शिक्षा का मुख्य कार्य यह है कि बालक में उचित प्रकार की रुचि उत्पन्न करे। फिर उसको रुचि के अनुसार कार्य करने देने में कोई चिन्ता नहीं।

हम कह चुके हैं कि शिक्षा के दोनों उद्देश्य मुख्य होने चाहिए। एक ओर व्यक्तित्व का विकास और दूसरी ओर सामाजिक जीवन की उन्नति। डाल्टन प्लान में बालक के व्यक्तित्व तथा उसकी रुचि का पूरा ध्यान रक्खा गया है परन्तु साथ ही साथ सामाजिक ज्ञान और सामाजिक बन्धन को भी नहीं भुलाया गया। वर्ष भर का कुल कार्य जो बालक के सिपुर्द किया जाता है उसे कान्ट्रैक्ट (contract) अर्थात् ठेका कहते हैं। इसका अर्थ यह है कि बालक अपने ऊपर एक प्रकार का उत्तरदायित्व लेता है जिसे वह पूरा करने का प्रयत्न करता है। अपने अध्यापक, अपने स्कूल तथा कक्षा का उसे ध्यान रखना पड़ता है, क्योंकि उसके कान्ट्रैक्ट पूरा न करने से कक्षा का अपयश होता है। और वह यह सिद्ध करता है कि जीवन-संग्राम में वह किसी भी बात का भार अपने ऊपर ले सकता है। जो व्यक्ति अपने ऊपर उत्तरदायित्व नहीं ले सकता वह सामाजिक जीवन की उन्नति करने में असमर्थ होता है।

डाल्टन प्लान ११ अथवा १२ वर्ष के बालकों से लेकर बड़ी आयुवाले

बालकों के लिए प्रयोग में लाया जाता है। छोटे बालक हर विषय में स्वयं कार्य नहीं कर सकते। उनके लिए असाइनमेन्ट बनाना भी कठिन है। डाल्टन प्लान में स्वतन्त्रता अधिक होने के कारण यह भी सम्भव है कि बालक एक विषय पर अनावश्यक ध्यान दें और दूसरे में बहुत कम। प्रारम्भिक कक्षाओं में यह आवश्यक है कि प्रत्येक विषय का थोड़ा बहुत ज्ञान बालक को अवश्य प्राप्त कराना चाहिए। मिडिल स्कूल की कक्षाओं में डाल्टन प्लान सुगमता से प्रयोग में लाया जा सकता है।

प्राजेक्ट मेथड (Project Method)—साधारण शिक्षा-प्रणाली के एक विशेष दोष को निवारण करने के लिए अमेरिका में प्राजेक्ट मेथड निकाला गया। बालक को साधारण रीति से जो शिक्षा दी जाती है उससे यह ज्ञात नहीं होने पाता कि जो कुछ उसे पढ़ाया जाता है उसका अभिप्राय क्या है। उसे कई विषय सीखने पड़ते हैं। यह उसे क्यों सीखने पड़ते हैं? फिर प्रत्येक विषय में नाना प्रकार की क्रियायें और पाठ सिखाये जाते हैं। तो इनका अभिप्राय क्या है? उदाहरणार्थ इतिहास में लड़ाइयों के वृत्तान्त बताये जाते हैं, भाषा में निबन्ध लिखाये जाते हैं, गणित में ब्याज निकालना बताया जाता है, रेखागणित में शङ्कों का क्षेत्रफल निकालना सिखलाया जाता है, इत्यादि। बालक को इस बात के जानने का अधिकार है कि ये सब बातें उसे क्यों पढ़ाई जाती हैं। यह सत्य है कि बालक को यदि यह ज्ञात हो जाय कि किसी पाठ के सीखने का क्या विशेष अभिप्राय है तो उसकी रुचि उसके सीखने में होगी और उसका ध्यान भी लगेगा।

जो विषय बालकों को सिखाये जाते हैं उनके केवल दो ही अभिप्राय हो सकते हैं। या तो उनका उद्देश्य यह है कि उनके द्वारा बालक की मानसिक शक्तियों का विकास हो अथवा वह जीवन के कार्यों से कुछ सम्बन्ध रखती हों। पाठशाला से निकलने पर बालक को जीवन के कार्य में लगना पड़ता है। जो कुछ विषय और क्रियायें वह पाठशाला में सीखता है उनको वह काम में लाता है इसलिए यह विषय वही होने चाहिए जिनका जीवन के कार्यों से सम्बन्ध हो।

साधारण रीति से पाठ्यक्रम (curriculum)—इत्यादि बनाने में इस बात का ध्यान अवश्य रक्खा जाता है परन्तु प्राजेक्ट मेथड के अनुसार जो कुछ भी बालक को सिखाया जाय उसमें अध्यापक को अभिप्राय का प्रश्न सामने रखना चाहिए। बालक से जो कुछ काम कराया जाय उसका सम्बन्ध जीवन के कार्यों से होना चाहिए। केवल यही नहीं बल्कि जो क्रिया बालक से पाठशाला

में कराई जाय वह ठीक वही होनी चाहिए जैसी कि जीवन में उसके सम्मुख आवेगी। एक उदाहरण से यह बात स्पष्ट हो जायगी। गणित में साधारण रीति से जो प्रश्न बालकों को करने को दिये जाते हैं वे क्रियात्मक होने चाहिए न कि सूत्रात्मक। इसलिए जब क्षेत्रफल के प्रश्न दिये जाते हैं तब बालकों से खेत, कमरे, बग़ीचे इत्यादि की नाप देकर क्षेत्रफल निकलवाये जाते हैं। प्राजेक्ट मेथड के अनुसार यही क्षेत्रफल की क्रिया कराने के लिए बालकों के सम्मुख प्रश्न को एक समस्या के रूप में उपस्थित करना चाहिए। यह समस्या वैसी ही हो जैसी कि वास्तविक जीवन में आती है। जैसे कि एक स्थान दिया हुआ है। वहाँ नगर बसाना है। छोटे छोटे भूमि के टुकड़े बाँटकर मकान बनाने के लिए देने हैं। कुछ भूमि सड़कों के लिए छोड़नी है। एक स्थान में पाठशाला और अस्पताल बनेगा। उसको कुछ भूमि का भाग देना है इत्यादि। इस प्रणाली के अनुसार बालक को प्रक्षेप करना पड़ता है। उसके सामने एक वास्तविक समस्या उपस्थित की जाती है और उसे यह समस्या हल करनी पड़ती है।

प्राजेक्ट मेथड के अनुसार अध्यापक को पहले एक विशेष निर्मेय तैयार करना पड़ता है। जो समस्या वह निर्माण करता है उसमें केवल एक ही विषय नहीं बल्कि प्रायः सभी विषयों को प्रयोग में लाना पड़ता है। हमारे नगर बसाने के प्रश्न को ही लीजिए। कुछ कार्य इसमें गणित से सम्बन्ध रक्खेगा जैसे क्षेत्रफल निकालना, कुछ भूगोल से जैसे दिशाओं का काम, मानचित्र बनाना इत्यादि, कुछ स्वास्थ्य-रक्षा से जैसे उचित जलवायु का प्रबन्ध। (कुएँ कहाँ होंगे, मकान किस दिशा में रहेंगे, मैला कहाँ निकाला जायगा इत्यादि) मकान बनवाने में क्या क्या वस्तुएँ काम में आयेंगी, वे कहाँ मिलेंगी, किस प्रकार लाई जायेंगी क्या व्यय होगा, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर निकालने में प्रायः सभी विषयों का प्रयोग करना पड़ेगा। अन्त में सब कार्य का वर्णन कराया जा सकता है जिसमें बालकों को भाषा का प्रयोग करना पड़ेगा। इस प्रकार एक समस्या में बहुत-से विषयों का प्रयोग हो जायगा।

दूसरी बात जो प्राजेक्ट मेथड के अनुसार होगी वह यह है कि समस्या किसी एक बालक को करने को नहीं दी जायगी बल्कि वह समस्त कक्षा के सम्मुख उपस्थित की जायगी। सब बालक मिलकर एक दूसरे की सहायता से कार्य को करेंगे। जीवन में भी व्यक्तियों को मिलकर इसी प्रकार काम करना पड़ता है।

अमेरिका में इस बात पर बहुत ध्यान दिया जाता है कि शिक्षा का उद्देश्य सामाजिक उन्नति होना चाहिए। जान ड्यूई का यह अनुरोध है कि

पाठशाला और बाहरी समाज में कोई अन्तर न होना चाहिए। पाठशाला बाहरी समाज का एक उच्च उदाहरण होना चाहिए। जो कार्य पाठशाला में कराये जायँ वह वही हों जो बालक को आगे चलकर वास्तविक समाज में करने पड़ेंगे। प्राजेक्ट मेथड इन्हीं उद्देश्यों को सामने रखकर निकाला गया है। इसके प्रधान आविष्कारक किलपैट्रिक (Kilpatrich) हैं जो जान ड्यूई के शिष्य हैं। भारतवर्ष में प्राजेक्ट मेथड के अनुसार पंजाब में स्थित मोघा स्थान में पढ़ाई की गई है। मोघा में इस प्रणाली-द्वारा काम करने में कुछ सफलता भी प्राप्त हुई है। मिडिल स्कूल की उच्च कक्षाओं में उचित प्राजेक्ट बनाकर शिक्षा दी जा सकती है। प्राजेक्ट बनाने में ग्राम्य जीवन का पूर्णरूप से अध्ययन करना पड़ेगा। प्राजेक्ट बनाने का कार्य बहुत कठिन है और प्रणाली की सफलता वा असफलता इसी पर निर्भर है।

गैरी-प्रणाली (Gary System)—डाल्टन प्लान की तरह यह प्रणाली भी एक नगर के नाम से प्रसिद्ध है। अमेरिका में शिकागो एक बड़ा प्रख्यात नगर है। उसी के पास, कुछ समय हुआ, एक नया नगर बसाया गया जिसका नाम गैरी है। इसी गैरी नगर में यह प्रणाली पहले-पहल चलाई गई। गैरी में लोहे का काम अधिक होता है। इसी लिए यहाँ की जन-संख्या शीघ्र बढ़ी परन्तु अधिक संख्या उन्हीं लोगों की थी जो कि लोहे के कार्य में संलग्न थे।

गैरी-प्रणाली के चलानेवाले का नाम बर्ट है। यह गैरी के शिक्षा-विभाग के मुख्य कर्मचारी थे। इन्होंने पाठशाला के संगठन पर सोच-विचार किया। साधारण पाठशाला में कितनी कक्षायें होती हैं। प्रत्येक कक्षा के लिए एक एक कमरा नियत होता है। एक कमरे में एक कक्षा के सब बालक एकत्रित होकर पढ़ते हैं। प्रत्येक बालक के लिए एक स्थान नियत होता है। बालकों की संख्या के अनुसार कक्षा में बैठने का प्रबन्ध रहता है। जितनों के लिए प्रबन्ध होता है उससे अधिक बालक नहीं भरती किये जाते। बर्ट ने यह विचार प्रकट किया कि कक्षा में जितने नालक हों उतनी ही कुर्सी तथा मेज़ इत्यादि होना आवश्यक नहीं है। कुछ विषय जैसे भाषा, गणित इत्यादि ऐसे हैं जो कक्षा में सिखाये जाते हैं परन्तु अनेक विषय जैसे दस्तकारी, ड्राइङ्ग, विज्ञान इत्यादि ऐसे हैं जिनके लिए बालकों को दूसरे स्थान में जाना पड़ता है। जब बालक किसी ऐसे विषय में अथवा खेल-कूद, या व्यायाम में लग जाते हैं तब उनकी कक्षा रिक्त पड़ी रहती है। बर्ट की प्रणाली के अनुसार कोई कक्षा रिक्त नहीं रहती। बालकों को टोलियों में विभक्त कर देना चाहिए। एक टोली

जिस समय कक्षा के बाहर कार्य करे उस समय दूसरी कक्षा में बैठ कर शिक्षा प्राप्त करे। लड़कों की संख्या जितनी हो उससे केवल आधी संख्या के लिए कक्षा में बैठने का प्रबन्ध हो तो काम चल सकता है।

साधारण रीति से इस प्रणाली का ध्येय यह प्रतीत होता है कि इसके अनुसार पाठशाला में मेज़, कुर्सी की थोड़ी संख्या से काम चल सकता है और ऐसा करने से आर्थिक बचत हो सकती है, कोई और विशेष बात नहीं जान पड़ती। परन्तु ऐसा नहीं है। इस प्रणाली का ध्येय केवल मेज़, कुर्सी की संख्या घटाना ही नहीं है। इसका मुख्य ध्येय उस प्रकार की शिक्षा का जो कि कक्षा से बाहर दी जा सकती है बढ़ाना है। साहित्यिक विषयों के अतिरिक्त दूसरे विषयों की मात्रा बढ़नी चाहिए। बालकों के खेलने और व्यायाम करने के लिए मैदान और शालायें होनी चाहिए। उनके तैरने के लिए एक सरोवर हो। स्वयं पाठ पढ़ने की टेव डालने के लिए पुस्तकालय में पुस्तकों की वृद्धि होनी चाहिए। दस्तकारी का काम करने के लिए अधिक प्रबन्ध होना चाहिए। एक स्थान ऐसा भी हो जहाँ बालक कला-सम्बन्धी कार्य भी कर सकें। इन सब बातों का प्रबन्ध यदि किया जाय तो यह ज्ञात होगा कि हर समय किसी कक्षा के सारे बालकों को कक्षा में बैठकर पढ़ने के लिए स्थान की आवश्यकता न होगी। लगभग हर समय आधे बालक बाहर कोई न कोई शिक्षा प्राप्त करने के कार्य में लगे रहेंगे। जो कुछ बचत मेज़, कुर्सी, कमरे इत्यादि में हो वह बाहरी शिक्षा के प्रबन्ध के लिए काम में आ सकती है।

गैरी-प्रणाली के अनुसार बालक को काम करने में अधिक थकावट भी नहीं होती। इस कारण बालक पाठशाला में अधिक समय तक रखे जा सकते हैं। ५ अथवा ६ घण्टे की जगह ७ अथवा ८ घण्टे तक बालक पाठशाला में रह सकते हैं। उन स्थानों के लिए जहाँ के निवासी अधिकतर मशीनवाले उद्योग-धन्धों में लगे रहते हैं बालकों के लिए ७ अथवा ८ घंटे पाठशाला में रहना बहुत लाभप्रद है। बालकों के माता-पिता स्वयं ८ घंटे तक कार्य में लगे रहते हैं और वे यह चाहते हैं कि उनके बालकों की देख-रेख पाठशाला अधिक समय तक कर सके।

कक्षा के बाहर जो कुछ काम बालक से कराया जाता है वह सोच-विचार करके निश्चित किया जाता है। इस बात का पूरा ध्यान रक्खा जाता है कि उस कार्य का सम्बन्ध बाहरी समाज के कार्यों से हो। बाहरी समाज जैसा कि किसी नगर अथवा प्रान्त में हो उसी का प्रतिबिम्ब पाठशाला में होना

चाहिए । गैरी नगर नया बसाया गया था । वहाँ बिजली, पानी, भोजन, स्वच्छता इत्यादि का विशेष प्रबन्ध किया गया । इन सब प्रबन्धों के बारे में जो कुछ उचित बातें बालकों को जाननी चाहिए वे पाठशाला की कक्षा की बाहरी पढ़ाई में सम्मिलित कर दी गईं । जैसे भोजन और जल की स्वच्छता नगर में जाँची जाती थी उसी प्रकार बालक भी रसायन के प्रयोगों-द्वारा पाठशाला में उन वस्तुओं की जाँच करते थे । नागरिक जीवन का अनुभव जहाँ तक हो सकता था पाठशाला में बालकों को करा दिया जाता था ।

यह अनुभव किया गया है कि इस प्रणाली में अधिक व्यय नहीं होता । एक ओर का व्यय दूसरी ओर से निकल आता है । बालक पाठशाला में अधिक समय तक रहते हैं परन्तु वे पाठशाला के कार्यों से ऊबते नहीं । मोंटेसोरी और डाल्टन-प्रणाली की भाँति इस प्रणाली में भी बालक को स्वतन्त्रता अधिक दी जाती है । एक नियत समय तक कक्षा में बैठकर पढ़ने के कार्य के उपरान्त प्रत्येक बालक अपनी दिनचर्या आप बना लेता है और वह अध्यापक को दिखा कर अपने कार्य में लग जाता है, जैसा हम कह चुके हैं । पाठशाला की शिक्षा और बाहरी समाज के सम्बन्ध पर भी इस प्रणाली में ध्यान रक्खा जा सकता है ? व्यापारी तथा औद्योगिक प्रान्तों के लिए यह प्रणाली अत्यन्त उपयुक्त पाई गई है ।

डेक्राली मेथड (Decroly Method)—यह कोई विशेष प्रणाली नहीं है । यह केवल एक ही पाठशाला में प्रयोग में लाई गई है परन्तु इसके मौलिक सिद्धान्त ध्यान देने योग्य हैं । बेल्जियम की राजधानी ब्रूसेल्स (Brussels) में एक पाठशाला है जिसके स्थापक डा० डेक्राली हैं । इन्होंने अपनी पाठशाला को इस नई प्रणाली के अनुसार चलाया है और इसी कारण इसको डेक्राली स्कूल कहते हैं । डेक्राली का यह कथन है कि बालक अपने को जीवन के लिए जीवन-द्वारा ही शिक्षित करता है (The child prepares for the life by living) । इसका अर्थ यही है कि जिस सहवास में (अर्थात् जिस पाठशाला में) बालक की शक्तियों का विकास होता है वहाँ केवल वही बातें बालक के सम्मुख उपस्थित करनी चाहिए जो कि जीवन से सम्बन्ध रखती हों । ऐसा करने से जिस समय बालक पाठशाला से निकलकर जीवन-संग्राम में जाता है उस समय उसे अपने जीवन में कोई अचानक परिवर्त्तन नहीं प्रतीत होता । जो कुछ उसने पाठशाला में अनुभव किया वही जीवन में अनुभव करता है ।

जिन प्रयोगों-द्वारा उसने पाठशाला में समस्यायें हल की हैं उन्हीं प्रयोगों-द्वारा अब भी वह समस्याओं को हल करता है।

डेक्राली के विचारों के अनुसार पाठशाला और घर में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। साधारण पाठशालाओं में इस बात का अभाव होता है। डेक्राली-पाठशाला की सामग्री अन्य पाठशालाओं की-सी नहीं होती, बहुत कुछ ऐसी होती है जिसके कारण बालक को घर और पाठशाला में अन्तर नहीं प्रतीत होता। पाठशाला में घर से बाहर, अर्थात् मैदान, खेत, बग़ीचा, हस्तकलागृह इत्यादि में बालक को अधिक समय व्यतीत करना पड़ता है। जो कुछ कार्य बालक करता है उसमें अनुसंधान (Research) की मात्रा अधिक होती है। विज्ञान और प्रकृति-निरीक्षण पर अधिक ध्यान दिया जाता है।

अपनी दिनचर्या में बालक को हेर-फेर करने की स्वतन्त्रता दी जाती है। इस प्रणाली के अनुसार भी बालक पाठशाला में अधिक समय तक रक्खे जाते हैं। प्रातःकाल का समय भाषा और गणित सीखने में व्यतीत होता है। उसके उपरान्त जो कार्य कराया जाता है उसमें बालक को बड़ी स्वतन्त्रता दी जाती है। यह बात ध्यान में रक्खी जाती है कि बालक जो कुछ करे उसमें वह स्वयं निरीक्षण करे, आँखें खोलकर देखे-भाले, उचित क्रिया और प्रयोग करे, मनन करे और अन्य मानसिक शक्तियों को काम में लावे। विज्ञान, संगीत, हस्तकला इत्यादि दिन में कराये जाते हैं। सायङ्काल में प्रत्येक बालक बिलकुल अपने इच्छानुसार हस्तकला, अन्य भाषा, और जो विषय चाहे उसका अध्ययन करता है।

बालकों को कोई पुस्तकें नहीं दी जातीं। प्रत्येक बालक जो कुछ निरीक्षण करता है और सीखता है उसके अनुसार अपनी पुस्तक तैयार करता है। डेक्राली-पाठशाला की पुस्तकें देखने से यह प्रतीत होता है कि व्यक्तित्व का कितना महान् प्रभाव है। कई वर्षों की बालकों की पुस्तकों का निरीक्षण करके कुछ उचित पुस्तकों की रचना भी की गई है। ये पुस्तकें साधारण पुस्तकों से भिन्न हैं। ये पुस्तकें बालकों की रुचि के अनुकूल हैं। वे बालक के मानसिक विकास के प्रतिबिम्ब हैं।

डेक्राली के विचारों के अनुसार बालक की रुचियों का केन्द्र बालक ही है। बालक प्रत्येक वस्तु को अपने ही दृष्टि बिन्दु से देखता है। उसकी रुचियाँ, उसके शरीर, उसके भोजन, उसके खेल-कूद तथा उसके अन्य कार्यों ही से सम्बन्ध रखती हैं। पाठन-प्रणाली में जो क्रिया काम में लाई जाय उसमें अध्यापक

को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। कोई भी विषय सिखाने में बालक की रुचियों का ध्यान रखना आवश्यक है। उदाहरणार्थ गणित को लीजिए। गणित-द्वारा हम एक वस्तु का दूसरी वस्तु से परिणामात्मक सम्बन्ध (Quantitative relationship) स्थापित करते हैं। गणित के प्रमाण (Units) द्वारा ही हम यह बतलाते हैं कि एक वस्तु दूसरी से कितनी लम्बी वा कितनी भारी है इत्यादि। लम्बाई और बोझ का ज्ञान देने में सबसे पहले बालक को अपने शरीर की नाप-तोल करनी चाहिए। हाथ-पैर कितने लम्बे हैं, सिर का घेरा कितना है, बालिश्त कितना है, इत्यादि शरीर के अंगों के उपरान्त फिर बालक की अन्य वस्तुओं जैसे पुस्तकें, खेल की सामग्री इत्यादि पर जाना चाहिए। विज्ञान में शरीर, जल, वायु, भोजन इत्यादि के बारे में बालक सबसे पहले ज्ञान प्राप्त करना चाहता है इसलिए इन्हीं के विषय में पहले पढ़ाना चाहिए।

इस प्रणाली का प्रयोग करने में अध्यापक को बहुत सोच-विचार करना पड़ता है। डेक्राली स्वयं मनोविज्ञानवेत्ता हैं। बाल-मनोविज्ञान जाने बिना उनकी प्रणाली के अनुसार अध्यापक काम नहीं कर सकता। हर समय अध्यापक को सोचना पड़ता है और चैतन्य रहना पड़ता है। बालक की रुचि के अनुसार उसे चलना पड़ता है। प्रत्येक उचित अवसर का उपयोग करने के लिए उसे प्रस्तुत रहना पड़ता है। वह बनी बनाई पुस्तकें प्रयोग में नहीं ला सकता परन्तु उसे इस बात की चेष्टा करनी पड़ती है कि प्रत्येक विषय में बालक उचित पुस्तक तैयार कर ले। वह लिखकर पुस्तक नहीं तैयार करा सकता क्योंकि उसमें बालक के व्यक्तित्व में बाधा पड़ती है। बालक के साथ साथ चलना और उसको सदा आगे मार्ग दिखाते रहना जिसमें उसका उचित विकास हो सके यही उसका कार्य है।

विनेटिका प्लान (Winnetka Plan) अमेरिका में विनेटिका नाम का एक स्थान है। वहाँ की पाठशालाओं के डाइरेक्टर (Director) डा० वाशबर्न (Washburne) हैं। इन्होंने ही इस प्रणाली की नींव डाली है। पहले-पहल वहाँ के शिक्षा-विभाग के अध्यापक तथा अन्य कार्य-कर्त्ताओं की एक सौ सज्जनों समिति बनी। इस समिति ने यह निश्चय किया कि जितनी शिक्षा की प्रणालियाँ हैं और जो विचार में आ सकती हैं उन्हें प्रयोग में लाया जाय। बहुतों के मौलिक सिद्धान्त भिन्न हैं। उन सबों की जाँच की जाय और उसके उपरान्त यह ज्ञात किया जाय कि कौन-सी प्रणाली सर्वोत्तम हो सकती है। अनुसन्धान के उपरान्त उन्होंने कुछ सिद्धान्त निर्धारित किये और उनके अनुसार विनेटिका-प्रणाली बनी।

विनेटिका-प्रणाली में चार सिद्धान्तों को मुख्य स्थान दिया गया। पहला तो यह कि प्रत्येक बालक को उन शास्त्रों और प्रयोगों का सीखना आवश्यक है जिनका कि उसे अपने आगामी जीवन (जब वह बड़ा होगा) में काम पड़ेगा। दूसरा यह कि बालक को प्रकृति और अपनी प्रवृत्तियों के अनुसार जीवन व्यतीत करने का अवसर मिलना चाहिए। इस प्रकार रहने से वह अपनी बाल्यावस्था सुख से व्यतीत करता है। तीसरी बात यह कि मनुष्य-समाज की उन्नति होने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को उसकी बुद्धि के अनुसार अपने व्यक्तित्व का विकास करने का अवसर प्राप्त हो। चौथी बात यह कि समाज के सङ्गठन और उसके स्थायी रहने के लिए यह आवश्यक है कि प्रत्येक बालक को यह ज्ञात होना चाहिए कि वह समाज का एक आवश्यक अङ्ग है और उसे समाज की उन्नति के लिए चेष्टा करनी चाहिए।

इस प्रणाली के अनुसार पाठ्यक्रम के दो मुख्य भाग कर दिये जाते हैं। एक तो उन विषयों का जिनके द्वारा बालक वह शिक्षा और ज्ञान प्राप्त करता है जो उसके जीवन में उपयोगी हों। आर्थिक उद्देश्य के अनुसार इनका सीखना आवश्यक है। दूसरा भाग उन कार्यों और विषयों का होता है जिनके द्वारा बालक अपनी शक्तियों अथवा अपने व्यक्तित्व का पूर्ण विकास कर सके। इनके द्वारा वह अपनी और समाज दोनों की उन्नति कर सकता है। कौन कौन-से विषय और उनके कौन-से अङ्ग उपयोगी होंगे यह बात प्रयोगों-द्वारा विनेटिका-समिति ने निश्चित की है। संशोधन करने से उनमें जो कुछ परिवर्त्तन करने की आवश्यकता है उसे वे सदा करने को तैयार रहते हैं। यह कहना कि उनका पाठ्यक्रम बिलकुल स्थायी हो गया है उचित न होगा। प्रयोगों-द्वारा जो कुछ परिवर्त्तन पाठ्यक्रम में, पुस्तकों मे, कार्यक्रम में, या शिक्षा-विधि में करने की आवश्यकता पड़ती है वह कर दिया जाता है।

यह बात बहुत अनुसंधान के पश्चात् निश्चित की गई है कि कौन-कौन-से विषयों के कौन-कौन-से अङ्ग ऐसे हैं जो आर्थिक जीवन में उपयोगी होते है। विषय निश्चित हो जाने के उपरान्त प्रत्येक बालक को इस बात का अवसर दिया जाता है कि वह अपनी पढ़ाई लिखाई अपने योग्यतानुसार कर सके। जितना काम जो बालक कर सकता है वह प्रतिदिन उतना ही करता है। विषयों को बहुत-से भागो मे बाँट दिया जाता है। प्रत्येक भाग को एक प्रमाण (unit) कहते हैं जैसे गणित विषय में दशमलव, क्षेत्रफल, ब्याज निकालना इत्यादि भाग किये जा सकते हैं। हर विषय के भाग बना दिये जाते हैं।

जैसे डाल्टन प्लान में असाइनमेन्ट अर्थात् नियत कार्य बालक को सौंप दिया जाता है उसी प्रकार इस प्रणाली में भी प्रत्येक बालक को नियत कार्य सौंप दिया जाता है। यह एक पत्र पर जिसे गोल कार्ड (goal card) कहते हैं लिखकर उसे दे दिया जाता है। प्रत्येक विषय के प्रमाण उसमें दर्ज कर दिये जाते हैं। हर एक प्रमाण अथवा भाग के सामने कुछ स्थान रिक्त छोड़ दिया जाता है जिसमें बालक स्वयं काम पूरा करने की तिथि भर देता है। कार्ड को देखने से यह तुरन्त पता लग जाता है कि बालक कहाँ तक पहुँच चुका है।

बालक के सम्मुख उचित वस्तुएँ और पुस्तकें उपस्थित की जाती हैं जिनसे वह स्वयं अपने को शिक्षा दे सके। बालक को स्वावलम्बी बनाने का उद्देश्य इस प्रणाली में सामने रक्खा जाता है। गणित, भाषा प्रभृति विषयों में उचित पुस्तकें बालक को पढ़नी पड़ती हैं। ये पुस्तकें साधारण पुस्तकों से भिन्न होती हैं। इनमें प्रत्येक विषय और पाठ को टुकड़े टुकड़े करके समझाया जाता है। कोई बात पूरी पूरी आद्योपान्त नहीं समझाई जाती। बालक को एक बात बताकर अथवा एक सीढ़ी चढ़ाकर छोड़ दिया जाता है। वह फिर उससे आगे स्वयं समझने का प्रयत्न करता है। कुछ बात बालक को एक साथ समझा देने से उसकी मानसिक शक्तियों का उचित विकास नहीं हो पाता।

बालक ने कोई बात सीख ली अथवा नहीं इस बात की जाँच दो रीतियों से की जाती है। पहले तो बालक के सामने ऐसी क्रियायें, अभ्यास तथा प्रश्न इत्यादि उपस्थित किये जाते हैं जिनके द्वारा बालक स्वयं यह जान लेता है कि विषय उसकी समझ में आया अथवा नहीं। इसके उपरान्त फिर अध्यापक प्रश्नों-द्वारा बालक की योग्यता की जाँच करते हैं। जब बालक इस दूसरी परीक्षा अर्थात् अध्यापकवाली जाँच में उत्तीर्ण हो जाता है तब उत्तीर्ण होनेवाली तिथि उसके कार्ड पर लिख दी जाती है। इस प्रणाली में वार्षिक परीक्षा इत्यादि नहीं ली जाती।

बालकों को जो कार्य सौंपा जाता है उसके लिए कोई विशेष समय नहीं नियत किया जाता। प्रत्येक बालक अपनी योग्यता के अनुसार पृथक् पृथक् गति से काम करता है। बालकों को एक दूसरे की सहायता करने की मनाही नहीं रहती। प्रायः तीक्ष्णबुद्धिवाले बालक पीछे रहनेवालों की सहायता करते हैं। बुद्धिमान् और तीव्र बालक अपने गोल कार्ड (goal cards) को जल्दी समाप्त कर लेते हैं। फिर उन्हें दूसरों के लिए कुछ रुकना पड़ता है। इस समय में उन्हें कुछ नया और कठिन काम जो उनके योग्य होता है दे दिया जाता है। यह उनके पाठ्य-क्रम से बाहर होता है। कुछ विषय जैसे, इतिहास तथा भूगोल जिसमें बालकों को अपना पाठ अध्यापक को सुनाना पड़ता है एक कक्षा के

बालकों को एकत्रित करके पढ़ाये जाते हैं। कुछ काम कक्षा में किया जाता है और कुछ बालकों को स्वयं करने को दिया जाता है।

बालकों को कुछ रचनात्मक कार्य (creative activities) जो कि साधारण पाठ्य-क्रम से बाहर होते हैं करने को दिये जाते हैं। इन क्रियाओं को कई बालक मिलकर करते हैं। ६ वर्ष से १० वर्ष तक के बालकों का एक समूह बना दिया जाता है और १० से १३ वर्षवालों का दूसरा। ऐसा करने से कई कक्षाओं के बालक एकत्रित हो जाते हैं। कुछ क्रियायें ऐसी भी होती हैं जिनमें सभी आयु के बालक सम्मिलित हो सकते हैं। बालक स्वयं सोचकर कल्पना-द्वारा इन क्रियाओं की रचना करते हैं। फिर वे अध्यापक को बताते हैं और सामग्री एकत्रित करके उसे कार्य में परिणत करते हैं। समुद्र के किनारे जीवन कैसे व्यतीत किया जाता है, स्विटज़रलेंड में बालक किस प्रकार रहते हैं, एक दिन के लिए राज्य मिल जाय तो क्या क्या प्रबन्ध करें, राजा-महाराजाओं के यहाँ भोज का दृश्य कैसा होता है इत्यादि इत्यादि कितने ही विषय बालक सोच निकालते हैं। फिर उन्हें नाटक-द्वारा प्रदर्शित करते हैं। जो वस्तुएँ आवश्यक होती हैं उन्हें हस्त-कलाशास्त्र इत्यादि की कक्षा में बनाते हैं। नाटक का फोटो लेते हैं। इस प्रकार फोटो का भी काम सीख लेते हैं। एक कार्य के करने में जितनी शाखायें निकलती हैं उन सबको पूरा करने की चेष्टा करते हैं इस कारण बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

हमने कुछ ऐसी प्रणालियों का वर्णन किया है जो पाश्चात्य देशों से निकली हैं। यह कहना उचित न होगा कि ये प्रणालियाँ सब सर्वोत्तम हैं। इनके निकालनेवालों का भी यह दावा नहीं है। इनसे केवल यह प्रकट होता है कि कुछ शिक्षा-प्रेमी और अध्यापक सोच-विचार कर कहाँ तक नई बात निकाल सकते हैं। प्रत्येक प्रणाली किसी विशेष कारण से निकाली गई है। वह किसी विशेष स्थान और दशा में अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हो सकती है। जहाँ वैसी ही दशा उपस्थित हो वहाँ उनको ज्यों का त्यों प्रयोग में लाया जा सकता है। जहाँ दशा विपरीत हो वहाँ उसमें यथायोग्य परिवर्तन किया जा सकता है। ये सब प्रणालियाँ प्रयोगों-द्वारा जाँची जा रही हैं और इनमें आवश्यक परिवर्तन किये जा रहे हैं। वैज्ञानिक दृष्टि से जो त्रुटियाँ समझ पड़ें उन्हें अवश्य दूर करना चाहिए परन्तु यह विचार करना कि प्रत्येक वस्तु नई होने के कारण त्रुटियों से भरी होगी उचित नहीं है। नई प्रणालियों को प्रयोग में लाने की आवश्यकता हमारे देश में अधिक है और यह काम मुख्य रूप से अध्यापकों के ही करने का है।